परम्परागत समाजों में साक्षरता

जैक गुडी

I A
E A
प्रौढ़ शिक्षा

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ

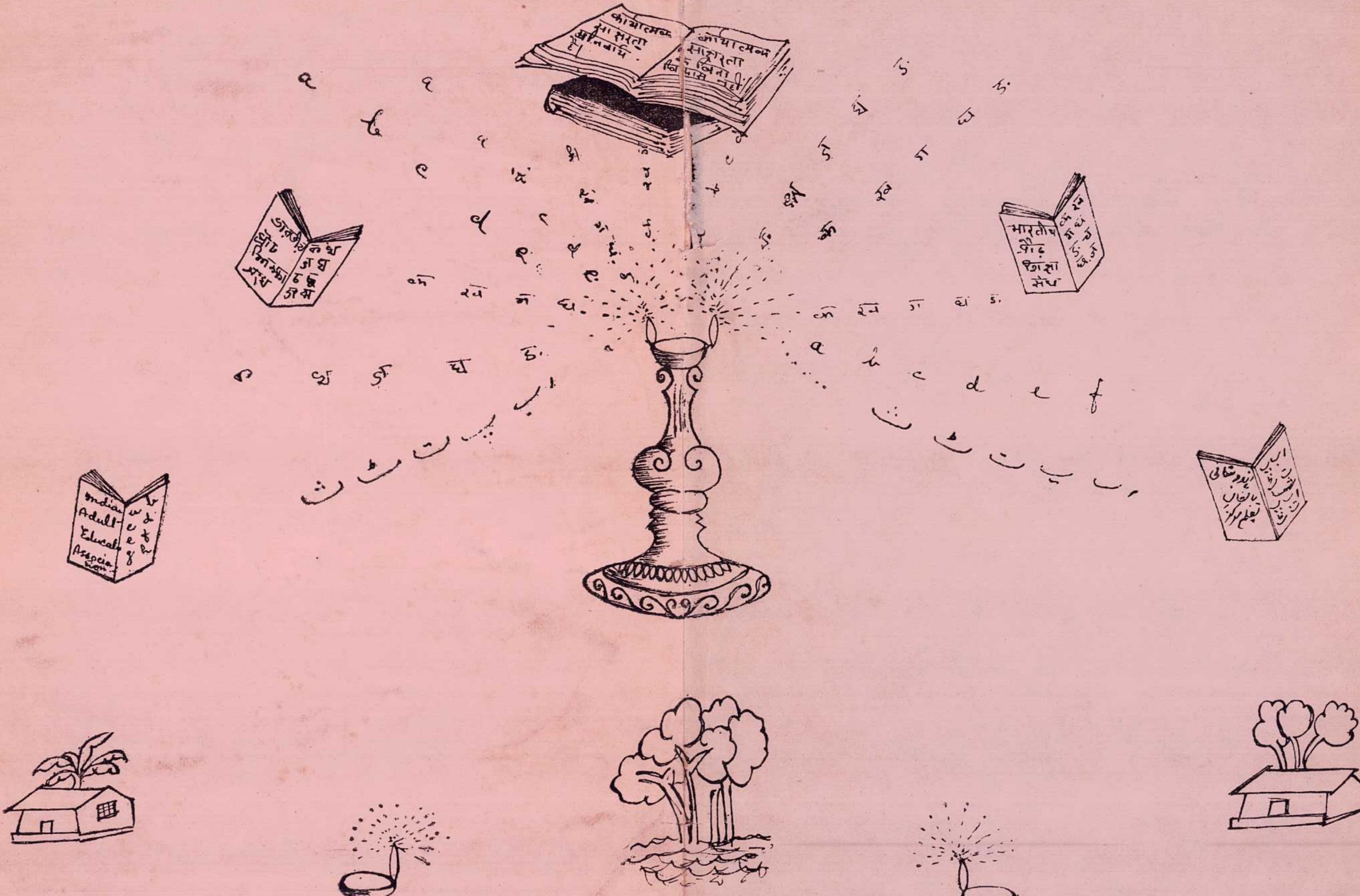
भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ

परम्परागत समाजों में साक्षरता

सम्पादक :

जैक गूडी

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ

१७-बी, इन्द्रप्रस्थ मार्ग, नई दिल्ली-११०००१

प्रकाशक :
भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ
१७-बी, इन्द्रप्रस्थ मार्ग,
नई दिल्ली-१

Literacy in Traditional Societies
का हिन्दी अनुवाद

सर्वाधिकार सुरक्षित
© भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ

प्रकाशन संख्या ६८
मूल्य : ६-००
१९७४

मुद्रक :
एवरेस्ट प्रेस,
४, चमेलियान रोड,
दिल्ली-६

प्रस्तावना

विश्व के अनेक भागों में, विशेषत: ऐसे प्रदेशों में जहाँ अन्य प्रदेशों की अपेक्षा कम विकसित समूह और वर्ग रहते हैं, साक्षरता किस हद तक पाई जाती थीं और उसके अभाव या विकास के क्या कारण या उपादान थे, इसका अध्ययन कार्य में लगे लोगों के लिए बहुत उपयोगी हो सकता है। जैक गूडी तथा उसके अन्य सहयोगी लेखकों ने, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस द्वारा प्रकाशित 'परम्परागत समाजों में साक्षरता' पुस्तक में भारत, चीन, थाइलैंड, प्रशान्त सागरीय एक द्वीपसमूह, अफ्रीका के कुछ देशों और औद्योगीकरण-पूर्व के ब्रिटेन में साक्षरता सम्बन्धी स्थिति को बड़े खोजपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। लेखन-कला के इतिहास और विकास के सन्दर्भ में भी साक्षरता और चिन्तन के विकास पर प्रकाश डाला गया है। इस दृष्टि से यूनानी चिन्तकों और चिन्तनधारा की विशेष चर्चा की गई है। हमें आशा है कि हमारे देश में साक्षरता में दिलचस्पी लेने वालों को ही नहीं, बल्कि चिन्तन और ज्ञान के विकास में रुचि रखने वालों को भी इस पुस्तक में लाभदायक और ज्ञानवर्धक सामग्री मिल सकेगी।

हम कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस के अनुग्रहीत हैं कि उन्होंने हमें इस अनुवाद को छापने की अनुमति प्रदान की। हम भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के बहुत आभारी हैं जिन्होंने आर्थिक सहायता देकर इस पुस्तक के प्रकाशन में हमारी सहायता की।

शिवचन्द्र दत्ता
अवैतनिक महासचिव,
भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ

शफ़ीक स्मारक
१७-बी, इन्द्रप्रस्थ मार्ग,
नई दिल्ली-१
दिनांक—फरवरी, १९७४

विषय-सूची

क्र०सं० विषय	लेखक		पृष्ठ सं०
१. भूमिका	**जैक गूडी**	...	१
२. साक्षरता के परिणाम	**जैक गूडी और इयान वाट**	...	३५
३. पारम्परिक भारत और चीन में साक्षरता के निहितार्थ	**कैथेलीन-गप**	...	८९
४. उत्तर-पूर्वी थाइलैंड के एक बौद्ध गाँव में साक्षरता	**एस० जे० ताम्बिया**	...	११३
५, केरल में साक्षरता	**कैथेनीन-गफ़**	...	१६८
६. पश्चिमी सूडान में इस्लामी ज्ञान का सम्प्रेषण	**आइवर विल्क्स**	...	२११
७. उत्तरी घाना में सीमित साक्षरता	**जैक गूडी**	...	२४९
८. एक खानाबदोश सोमाली समाज में साक्षरता	**आई० एम० लेविस**	...	२९८
९. मैडागास्कार में ज्योतिष और साक्षरता	**मौरिस ब्लोच**	...	३१३
१०. न्यूगिनी और मैलेनीरिश में साक्षरता के उपयोग	**एम० मेगिट**	...	३४०
११. औद्योगीकरण पूर्व इंग्लैंड में साक्षरता की माप	**आर० एस० शोफील्ड**	...	३७९

भूमिका

जैक गूडी

बौद्धिक टेक्नॉलोजी

पिछले पाँच हजार वर्षों में लेखन के महत्व और प्रत्येक व्यक्ति के जीवन पर उसके गहरे प्रभाव को देखते हुए यह आश्चर्यजनक है कि इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया कि लेखन ने किस प्रकार मानव जाति के सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। लेखन के इतिहास, प्रायः लिपियों के इतिहास बन कर रह गए हैं और साहित्य के अध्येता सम्प्रेषण-क्रिया की विषय-वस्तु पर ही ध्यान केन्द्रित करते रहे हैं, उसके प्रभाव पर नहीं। और जबकि युद्धोत्तर काल में ध्यान परिवर्तनशील सम्प्रेषण के समाज पर प्रभाव की ओर दिया गया है, अधिकांश लेखकों ने मुद्रण, रेडियो और टेलीविज़न जैसे ताजा आविष्कारों पर ही प्रकाश डाला है।

यह विशेष रूप से आश्चर्य का विषय है कि समाज विज्ञानियों ने साक्षरता और आम तौर पर सम्प्रेषण के साधनों के प्रति बहुत कम दिलचस्पी दिखाई है। जो 'विकसित' समाजों में क्रियाशील हैं उन्होंने लेखन के अस्तित्व को आँख मूँद कर स्वीकार कर लिया है; इसीलिए बिखरे समूहों, सम्प्रदायों या कबीलों पर उसके सक्षम बनाने वाले प्रभाव पर दृष्टिपात नहीं किया है। दूसरी ओर, सामाजिक मानव विज्ञानियों ने अपना कर्तव्य मुख्यतः 'साक्षरता-पूर्व', 'आदिम' या 'कबायली' समाजों के अध्ययन तक सीमित रखा और लेखन को, जहाँ कहीं वह पाया गया, केवल 'हस्तक्षेपकारी' तत्व माना। लेकिन जब लेखक विशेष रूप से 'सादे' और 'विकसित' समाजों, व्यक्तियों, मनोवृत्तियों आदि के बीच अन्तर की खोज

करते भी रहे हैं तो भी वे उस विशेषता की उपेक्षा करते रहे हैं जो उन समाजों की सीमाओं और उपलब्धियों को परिभाषित करने के लिए काम में लाई जाती है जिनके अध्ययन में वे लगे रहे हैं । यह विशेषता है लेखन की उपस्थिति या अनुपस्थिति ।

लेखन की विशेषता इस बात में है कि वह मनुष्यों के बीच सम्प्रेषण का एक नया माध्यम है । उसकी उपयोगिता यह है कि वह कथन को वास्तविक स्वरूप देती है, ठोस अन्तर्सम्बन्धों से युक्त भाषा प्रदान करती है और दृश्य-चिन्हों की श्रृंखला का निर्माण करती है । इस ठोस रूप में कथन देश और काल की सीमाओं के पार तक पहुँचाया जा सकता है और लोग जो भी कहते या सोचते हैं उसे मौखिक सम्प्रेषण की नश्वरता से बचाया जा सकता है ।

अब मानव-सम्पर्क की सीमा देश और काल के सन्दर्भ में काफी बढ़ाई जा सकती है । सम्प्रेषण के इस नये साधन का प्रभाव मानव क्रिया-कलाप के बहुत बड़े क्षेत्र पर पड़ता है : राजनीति, अर्थनीति, विधायन और धर्म—सभी उससे प्रभावित होते हैं । प्रशासनिक क्षेत्र में जटिल नौकरशाही संगठन अपनी गतिविधियों, विशेषतः वित्तीय क्रिया-कलाप के लिए सीधे लेखन पर निर्भर करते हैं । लेखन वह माध्यम है जिस पर केन्द्र की सूचना परिधि तक पहुँचाने के लिए भरोसा किया जा सकता है। इस प्रकार वह बड़े साम्राज्यों के अन्तर्गत विघटन की प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाता है । यह सही है कि जनगणना और कर लगाने का कार्य उन देशों में भी होता रहता है जो साक्षर नहीं हैं, जैसे अफ्रीकी देश आशान्ति और दाहोमे; और हिसाब-किताब तथा गिनती भी ऐसे देशों में पाई जाती है । लेकिन साक्षरता के उपयोग के द्वारा ये गतिविधियाँ बहुत कुशल बनाई जा सकती हैं । यही बात दूरवर्ती व्यापार और कृषि के सम्बन्ध में भी सही है । इन सब क्षेत्रों में लेखन द्वारा ही हानि-लाभ का लेखा-जोखा रखने में सहायता मिलती है ।

धर्म के क्षेत्र में यह उल्लेखनीय है कि जो भी दीक्षा देने या बहिष्कार वाले धर्म हैं वे सभी पुस्तकीय धर्म हैं। अफ्रीका के अशिक्षित समाजों में जादू-टोने वाले धर्मों की गतिविधियाँ विशिष्ट रूप से उदार हैं जिसका प्रमाण यह है कि उनके उपासना-गृह और

सम्प्रदाय आसानी से स्थान परिवर्तन करते रहते हैं। साक्षर धर्म, निश्चित सन्दर्भ-बिन्दु और पारलौकिक सम्प्रेषण की अपनी विशिष्ट विधियों के कारण, परिवर्तन के प्रति कम सहिष्णु होते हैं। और अगर परिवर्तन आता भी है तो अचानक तथा धर्मद्रोह अथवा 'सुधार आन्दोलनों' के रूप में आता है और या तो फिर पुस्तक की शरण लेता है या पुस्तक की 'सही' व्याख्या की।

यदि साक्षर धर्म कुछ अर्थों में नमनीय हैं तो वे अधिक सार्वभौम हैं और इस अर्थ में अधिक 'नैतिक'। इस तथ्य के कारण कि ऐसे धर्मों में अन्य धर्मों के व्यक्तियों और देशों का धर्म-परिवर्तन करने की व्यवस्था है वे शुद्धाचरण की कोई बहुत कठोर व्याख्या नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में, यह आवश्यक नहीं है कि उनकी पौराणिक गाथाएँ, कर्मकांड, विधि-निषेध आदि उस विशिष्ट समाज-व्यवस्था से ही सम्बद्ध हों जो उस धर्म के अनुयायियों की है। कुछ मामलों में तो जिसका धर्म-परिवर्तन होता है उसकी सामाजिक व्यवस्था भी बदल जाती है जैसे इस्लाम धर्म ग्रहण करने पर, जिसके अन्तर्गत भतीजी से विवाह को अच्छा माना जाता है। साथ ही, धर्मानुयायियों का दायरा वंश, क़बीले और देश से बाहर तक बढ़ जाता है, जैसे मसीही और इस्लाम धर्म में, और सभी अनुयायी भाईचारे के बंधन में बंध जाते हैं। यह 'भाईचारा' प्राथमिक आनुवंशिक सम्बन्ध सूत्रों को कमज़ोर बनाता है जैसे कि स्वयं ईसा मसीह ने कहा था : "मेरा भाई, मेरी बहन और मेरी माँ वह है जो प्रभु की इच्छा के अनुसार कार्य करे।" इस प्रकार साक्षर धर्म अधिकाधिक 'मुक्तिकामी' बनते जाते हैं, और वैयक्तिक शुभाचरण पर अधिकाधिक ज़ोर देते हैं। मात्रा-भेद हो सकता है परन्तु, वैयक्तिकता पर इस प्रकार बल देने की यह प्रवृत्ति वैसी ही है जैसी कि साक्षर टेक्नोलौजी और श्रम-विभाजन के अंतर्गत पाई जाती है जिसके बारे में आगे विचार किया गया है।

साक्षरता के कानूनी निहितार्थों का निकट सम्बन्ध राजनीति और धर्म की उन विशेषताओं से है जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। एक सार्वभौम कानूनी व्यवस्था उस ढाँचे का निर्माण करती है, जिसमें वाणिज्य का विकास संभव है। साथ ही, व्यापार के

फलस्वरूप विभिन्न प्रकार के समुदायों में जो संघर्ष उत्पन्न होते हैं उनके समाधान का भी यह एक तरीका है।

लेखन के ये कुछ लाभ हैं जो सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। लेकिन लेखन अपने आप में कोई स्वतन्त्र चीज़ नहीं है। उसकी सम्भावनाएँ किसी समाज में पाई जाने वाली पद्धतियों के स्वरूप पर निर्भर करती हैं।

पहली महत्वपूर्ण बात यह है कि लेखन के लिए किस प्रकार की सामग्री का प्रयोग होता है। पत्थर या पकाई हुई मिट्टी की अपेक्षा काग़ज़ की प्रशासकीय सम्भावनाएँ कहीं बढ़-चढ़ कर हैं। लिखावट किस प्रकार की है, यह भी अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है। स्वन-सिद्धान्त का जितना ही अधिक प्रयोग होता है संकेत-चिह्नों की प्रणाली उतनी ही नमनीय होती है। वर्णमाला का जन्म होने के बाद स्वयं कथन को लिपिबद्ध किया जा सकता है। उसकी सरलता के कारण समाज का एक बड़ा भाग उसे हृदयंगम कर सकता है। सामान्य या लोक-गत साक्षरता इससे सम्भव बनती है। इससे सम्बद्ध मूल निहितार्थों का संकेत हम इससे पूर्व एक अन्य प्रबन्ध में कर चुके हैं जिसे इस पुस्तक में स्थान दिया गया है। उस प्रबन्ध में वाट ने और मैंने अभिजात ग्रीस का विशेष उदाहरण दिया है, जहाँ पहली बार वर्णमाला का विकास हुआ, और यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ग्रीस में टेक्नोलौजी की इस क्रान्ति के कारण ही कतिपय उपलब्धियाँ सम्भव हो सकीं।

ग्रीस में साक्षरता के योगदान पर विचार का काफ़ी हद तक श्रेय ई० ए० हैवलाक को है और उनकी हाल की पुस्तक के प्रकाश में हम अपने विचारों को पुनः स्थापित करना चाहेंगे। 'प्रीफ़ेस टु प्लेटो' नामक अपनी इस पुस्तक में उन्होंने इस धारणा की सच्चाई पर सन्देह व्यक्त किया हैकि 'ग्रीस में आरम्भिक चिन्तक' तत्व-मीमांसा में व्यस्त रहते थे और उक्त उद्देश्य के लिए उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग कर सकते थे। उन्होंने कहा है कि हमें ग्रीस के आरम्भिक चिन्तकों की धारणाओं के बारे में केवल उन्हीं स्रोतों से पता चलता है जो अरस्तू से प्रभावित हैं। स्वयं सुकरात-पूर्व के चिन्तक जिस काल में रहते थे वह भविष्य की सम्भावित

साक्षरता से अपना संयोजन करने के लिए यत्नशील था और उसकी लेखन-शैली सूत्रात्मक थी जो मौलिक निबन्ध की विशेषता है। ये अनिवार्यत. मौखिक चिन्तक थे और ऐसे मूर्त के पैगम्बर थे जो स्वभावत: अतीत से सम्बद्ध था और उन्होंने अभिव्यक्ति के ऐसे रूपों को अपनाया था जो अनुभूति के रूप भी थे। प्लेटो के समय में ही भाषा में इतना परिवर्तन आ पाया कि वह नये विचारों की अभिव्यक्ति में सक्षम हो पाई जिसका कारण हैवलाक के अनुसार, बौद्धिक टेक्नोलौजी में अथवा, उनके शब्दों में 'संरक्षित टेक्नोलौजी' में परिवर्तन था। दूसरे शब्दों में, वह सीधा-सादा सम्प्रेषण-टेक्नोलौजी में परिवर्तन था।

उपर्युक्त तथ्य पर मैं इसलिए जोर देना चाहता हूँ जिससे यह स्पष्ट हो जाये कि हमारा मूल तर्क तकनीकी नियतिवाद पर आधारित नहीं था। उसका उद्देश्य इस टेक्नोलौजी में परिवर्तन के मुक्तिदायी प्रभावों की समीक्षा करना था। उस निबन्ध का शीर्षक शायद साक्षरता के 'परिणामों' की बजाय 'प्रभाव' होना चाहिए था। लेकिन हमें लगा कि हमने जितना जोर इस तथ्य पर दिया उससे अधिक की आवश्यकता नहीं थी कि परिवर्तन के लिए उसकी क्षमता के विरुद्ध अन्य तत्व हो सकते थे। आचरण के अध्ययन में 'यथेष्ट कारण' यदि हों तो बहुत कम ही होते हैं; हमारी दिलचस्पी साक्षर सम्प्रेषण की सम्भावनाओं में है।

साक्षरता के उद्देश्यों से सम्बद्ध हमारे सुझावों द्वारा अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और इनमें से कुछ की चर्चा उन निबन्धों में है जो आगे दिए गए हैं। सबसे आम समस्या वह है जो एशिया और अन्यत्र भी उन बहुसंख्यक समाजों से सम्बद्ध है जो वर्णमालात्मक साक्षरता के आविष्कारक तो नहीं थे लेकिन जिन्होंने उसे प्राप्त किया। सामी वर्णमाला विश्व में दूर-दूर तक पहुँची : उसका पूरे यूरोप और एशिया महाद्वीपों में चीन की सीमाओं तक, प्रशान्त क्षेत्र के कुछ भागों में, अफ़्रीका के सहारा मरुस्थल के चतुर्दिक देशों में और पूर्वी तटवर्ती मैडागास्कर तक प्रसार हुआ। लेकिन उसका जितना गहरा प्रभाव ग्रीस पर हुआ उतना अन्यत्र कहीं भी नहीं हो पाया। वस्तुत: अन्यत्र जो स्थिति उत्पन्न हुई वह 'सीमित साक्षरता' कही जा सकती है और उसकी तुलना 'वर्णमाला-पूर्व

की लिपियों' के युग की स्थिति से की जा सकती है। दूसरे शब्दों में, अन्यत्र उसकी सम्भावनाओं का वैसा लाभ नहीं उठाया जा सका।

इसके अनेक कारण हैं जिन्हें स्पष्ट करना आसान नहीं है। लेकिन समस्या को सुलझाने का एक उपाय यह है कि 'परम्परागत' औद्योगिक काल से पूर्व के समाजों का मानव शास्त्रीय अध्ययन किया जाय, किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था के अन्तर्गत लेखन के उपयोग का व्यापक विश्लेषण किया जाए और इस प्रश्न के प्रति शास्त्रीय दृष्किोण से नहीं बल्कि क्षेत्रीय कार्यकर्ता द्वारा, लिखित सम्प्रेषण के ठोस संदर्भ में प्राप्त अनुभवों के आधार पर विचार किया जाय। इस संग्रह के निबन्धों द्वारा हमने यही प्रयत्न किया है।

यह प्रयास कई दृष्टियों से उचित प्रतीत हुआ। हमने देखा कि समाजशास्त्री अक्सर विकसित साक्षर समाजों को ही अपना अध्ययन क्षेत्र बनाते हैं जब कि मानव विज्ञानी प्रायः 'सरल' व्यवस्थाओं, वंश या धर्म के 'प्रारम्भिक रूपों', 'मुद्रापूर्व अर्थ-व्यवस्था', तथा 'आदिम', 'विदेशज', अकृत्रिम', 'व्यावहारिक' अथवा साक्षरता-पूर्व समाजों पर मुख्यतः ध्यान केंद्रित करते हैं। लेकिन कम से कम पिछले २००० वर्षों में विश्व की (यूरेशिया और अफ्रीका की अधिकांश) जनता उक्त दोनों ही स्थितियों में नहीं रही है बल्कि ऐसी संस्कृतियों के अन्तर्गत रही है जो कुछ हद तक लिखित शब्द के प्रचलित रूप और ऐसे समूहों या व्यक्तियों से प्रभावित रही हैं जो लिख और पढ़ सकते थे। वे साक्षरता के किनारों को छू रहे थे हालांकि इस तथ्य की बहुत से विचारकों ने उपेक्षा की है। फिर भी, यदि लेखन और साक्षरता के बारे में हमारा अभिमत अंशतः भी सही है तो दक्षिण-पूर्व एशिया और सूडान के समाजों का विश्लेषणात्मक अध्ययन आस्ट्रेलियाई कबीले के अध्ययन से भिन्न होगा।

एक बात स्पष्ट है। अगर हम केवल ग्राम जीवन की ओर ध्यान केन्द्रित करें तो विश्व में अनेक ऐसे विस्तृत भू-भाग हैं जहाँ के बारे में, 'परम्परागत' समाजों पर विचार करते हुए भी, लेखन और पुस्तकों के अस्तित्व को ले कर चलना पड़ेगा। यह भी स्पष्ट है कि जो संस्थायें लेखन द्वारा प्रभावित हुई हैं (और जिनमें धर्म शायद सबसे

महत्वपूर्ण है) उनके अध्ययन के लिए ग्राम समुदाय को आधार बनाना केवल सीमित अर्थों में ही संगत होगा। यह मानना, कि वर्मी बौद्धवाद का अध्ययन उसी कटघरे में किया जा सकता है जिसमें आस्ट्रेलियायी टोटेमवाद का किया जाता है, बौद्धिक अशुद्धता होगी। किसी साक्षर विश्व धर्म के अन्तर्गत 'आदिम वर्गीकरण' की श्रृंखला की संगति सामाजिक ढाँचे के अन्य पक्षों से वही नहीं होगी जो छोटे आखेटक समुदाय के साथ होगी। सामाजिक समूहों के संदर्भ में जो कुछ रंगून में 'उपयुक्त' है वही शायद ग्रामीण श्रीलंका में उपयुक्त नहीं होगा। यदि कोई उपयुक्तता दिखाई भी दे तो वह सामान्य मानवीय अनुभूतियों से ही सम्बद्ध होगी, किसी विशिष्ट सामाजिक ढाँचे से नहीं और उसके साथ ही आचरण के बहुसंख्यक विकल्प भी होंगे जो समान रूप से संगत होंगे क्योंकि यदि 'उपयुक्तता' की धारणा गम्भीर विचार का विषय हो तो उसकी अनुपस्थिति और विकल्पों का दिग्दर्शन भी संभव होना चाहिए।

संयुक्त गाँव

पिछले कुछ पैराग्राफों में मैंने जो कुछ कहना चाहा है उसका कुछ अंश रेडफ़ील्ड और शिकागो में उसके शिष्यों के निबन्धों का केन्द्रीय विषय है। इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते हुए रेडफ़ील्ड ने बताया है कि किस प्रकार उत्तरी अमरीका से ध्यान हटाकर दक्षिण में व्यवस्थित ढंग से बसे कृषक समुदायों के अध्ययन के लिए परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन आवश्यक हो गया क्योंकि अलग-अलग संस्कृतियों की बजाय पूर्ण सामाजिक ढाँचों का अध्ययन करना पड़ा।

रेडफ़ील्ड ने चान खोम के यूकातान गाँव का विवरण देते हुए कहा है, "इन गाँवों में निरक्षर कृषकों के छोटे-छोटे समुदाय हैं जो मौखिक परम्परा द्वारा प्रदत्त सजातीय संस्कृति को बनाए हुए हैं।" लेकिन राजनैतिक और आर्थिक दृष्टि से वे आधुनिक साक्षर सभ्यता के कस्बों और नगरों पर निर्भर है और कृषक अंशतः उन्हीं के संदर्भ में अपनी स्थिति परिभाषित करते हैं।

रेडफ़ील्ड ने गाँव को 'शहरी-देहाती निरंतरता' के रूप में प्रस्तुत

करने का कुछ प्रयास किया है हालांकि उक्त शब्दावली का प्रयोग उसने विश्लेषणात्मक रूप में किया है, न कि अस्तित्ववादी अर्थों में। सजातीयता पर बल देने की प्रवृत्ति से वह मुक्ति नहीं पा सका जो छोटे समुदाय की एक मूल विशेषता मानी जाती है। १९५३ में दिए गए अनेक भाषणों में रेडफ़ील्ड ने ऐसे समुदायों की परिभाषा के अन्तर्गत उनकी पृथकता, लघुता, स्वावलम्बन और सजातीयता की चर्चा की। उसने यह भी कहा, "समान लिंग और आयु वालों के क्रिया-कलाप और मानसिक प्रवृत्तियाँ समान होती हैं और एक पीढ़ी का जीवन पूर्ववर्ती पीढ़ी के जीवन की आवृत्ति होता है। इन अर्थों में सजातीयता, मंद परिवर्तन का समानार्थक है।"

रेडफ़ील्ड द्वारा सजातीयता पर बल देने का परिणाम साक्षरता की चर्चा के रूप में भी प्रकट हुआ है। उसके माया सभ्यता के कृषक 'निरक्षर' भले ही हों (और यह स्पष्ट नहीं है कि उस भाषा में कभी कोई साक्षर भी था या नहीं) जब वह वहाँ था तो १८ वर्ष से अधिक आयु के २६ प्रतिशत लोग स्पैनिश में 'साक्षर' थे। इसका कम से कम यह अर्थ तो हुआ ही कि केन्द्रीय सरकार परोक्ष रूप से अपने आदेश प्रेषित कर सकती थी। और इससे दो प्रकार की पुस्तकों का प्रचलन भी संभव हुआ। इन दोनों का सम्बन्ध धर्म से था। एक पुस्तक थी कैथोलिक प्रार्थनाओं की और दूसरी थी चर्च कैलेण्डर, जिसमें समारोहों आदि का उल्लेख होता था। इन कथनों और इन वक्तव्यों में, कि चान खोम गाँव 'मौखिक और पारम्परिक सम्प्रेषण की दुनिया' था तथा वहाँ 'पुस्तकों का अभाव था', सामंजस्य तभी बिठाया जा सकता है जब यह माना जाय कि रेडफ़ील्ड दीर्घकालीन ऐतिहासिक प्रक्रिया के किसी पिछले चरण का वर्णन कर रहा था जिसमें शहरी तत्व और पुस्तकें उस कृषक संसार की सजातीय संस्कृति में हाल ही में प्रविष्ट हुई हों। रेडफ़ील्ड के कथन में आदर्श का मेल वास्तविकता से कहीं नहीं दिखाई देता।

लातीनी अमरीका के अध्ययन का एक और परिणाम वहाँ के 'इंडियन निवासियों में सामान्य और व्यापक 'वैचारिक शृंखलाओं' की खोज था। वर्तमान गाँव कबीले से भिन्न था लेकिन उसमें वे ही विशेषताएं पाई जाती थीं जिन पर जनजातीय समाजशास्त्री जोर

देते थे अर्थात् एक ही संस्कृति, व्यापक वैचारिक शृंखला, साक्षरता, सजातीयता और स्वावलम्बन।

मध्य अमरीका ने दृष्टिकोण में कुछ परिवर्तन किया और भारत में यह क्रम और आगे बढ़ा। 'द लिटिल कम्युनिटी' के प्रकाशन से एक वर्ष बाद १९६५ में रेडफ़ील्ड ने लिखा: "उस पुस्तक में मैंने लघु समुदायों की कल्पना बाह्य प्रभावों से मुक्त रूप में की थी। वर्तमान अध्यायों में एक प्रकार के स्वतन्त्र समुदाय—कृषक-समुदाय-का बहुत आरम्भिक अन्वेषण किया गया है, यह परिवर्तन नार्वे में बार्न्स के कार्य और भारत में सिंगर, मैरियट, लेविस आदि के अध्ययनों द्वारा आया। रेडफ़ील्ड ने अब इन समुदायों की स्थानीय सस्कृतियों पर बौद्धिक और सामाजिक धरातलों के सम्पर्क से समय-समय पर पड़ने वाले प्रभावों का अनुभव किया। 'स्थानीय (या लघु) समुदाय सांस्कृतिक दृष्टि से परायत्त है—वह बाह्य प्रतिमानों अथवा महान् समुदाय के प्रतिमानों पर निर्भर है।'

समाजशास्त्रीय विवेचन की दलदली भाषा के कारण अक्सर रेडफ़ील्ड जो कुछ कहना चाहता है वह अस्पष्ट रह जाता है और परम्परावादी सामाजिक 'संगठन' (या 'ढाँचे') जैसे शब्दों के प्रयोग से बात साफ नहीं हो पाती। लघु समुदाय की धारणा अमूर्त उतनी नहीं है जितनी ध्यान बटाने वाली है और उससे कोई लाभ-दायक विचार-विमर्श नहीं हो पाता। रेडफ़ील्ड की स्थापनाओं पर पुर्नविचार करते हुए ओबीए स्कीयर श्रीलंका के सन्दर्भ में यह दिखाने का प्रयास करता है कि 'संस्कृतियाँ समन्वित होती हैं' और 'कृषक संस्कृतियाँ सम्पूर्ण होती हैं' (अर्धांश नहीं)। प्रतीत होता है कि उसने स्थानीय बौद्ध धर्म का उद्भव स्थानीय कारणों से बताकर ऐसा किया है—"देवकुल में बुद्ध को शीर्षस्थान देने के लिए सैद्धान्तिक कारण हैं।" वह देवकुल को 'एकात्मक व्यवस्था' के रूप में देखता है। उसके कथन की दिशा का संकेत इस बात पर बल देने से भी मिलता है कि लघु समुदाय या कृषक समाज 'आखिरकार मानव विज्ञानी की खोज का केन्द्र बिन्दु है।' संस्कृति की धारणा से उत्पन्न भ्रम तथा संस्कृति समन्वित है या नहीं, व्यवस्था एकीकृत है या विविध, आदि समस्याओं को छोड़ भी दें तो प्रश्न यह नहीं है

कि विद्वान अपना समय कहाँ बिताते हैं बल्कि यह है कि क्या इस प्रकार की चिन्तन-प्रक्रिया सामाजिक सम्बन्धों की उस जटिल शृंखला के एक अंग के विश्लेषण के लिए उपयुक्त है या नहीं जो स्पष्टत: ग्राम से आगे तक जाती है। जो भी प्रेक्षक संस्कृति की धारणा से चमत्कृत नहीं है उसे इसका उत्तर नकार में देना होगा। यह बात ड्यूमा और पोकाक ने ग्राम अध्ययनों के अपने विवरण में उठाई थी। एम्स ने इसे सिंहली धर्म के अपने विवेचन में और स्पष्ट रूप में उठाया है। वह लिखता है कि यह "किसी गाँव की विशिष्टता न हो कर बौद्ध प्रभाव है क्योंकि धार्मिक पद्धति में मठ-वाद का, जो ग्राम-केन्द्रित न हो कर राष्ट्रव्यापी है, प्राधान्य है।" वह यूरेशियन क्षेत्र में काम करने वाले मानव वैज्ञानिकों की ग्राम सम्बन्धी उन भ्रमात्मक धारणाओं को अस्वीकार करता है जिनकी आलोचना स्किनर ने चीन के बाजारों के संदर्भ में अपनी कृतियों में की है : "चीन के समाज पर लिखे गए मानव-वैज्ञानिक निबन्धों में पूर्णत: गाँव पर दृष्टि केन्द्रित की गई है; अत: कुछ अपवादों को छोड़ देहात की समाज-व्यवस्था के स्वरूप की वास्तविकता विकृत रूप में प्रस्तुत की गई है।" लेकिन स्किनर के लिए भी सीमा बद्ध 'समुदायों' या 'परम्पराओं' की बात विश्लेषणात्मक कठिनाई पैदा करती है। वह तर्क प्रस्तुत करता है कि महत्वपूर्ण सांस्कृतिक इकाई' एक 'मध्यवर्ती समाजिक ढाँचा' है, एक मानक पण्य 'समुदाय' है—जिसे रेडफ़ील्ड की 'लघु समुदाय' परम्परा में केन्द्र कहा गया है... कहा जा सकता है कि चीनी किसान आत्म-तुष्ट संसार में रहता है और वह संसार गाँव न हो कर मानक पण्य समुदाय है।" यह बात यद्यपि व्यक्ति की गतिशीलता की सीमा को देखते हुए सही हो सकती है (यद्यपि निस्संदेह व्यापार और सरकार की गतिशीलता अनेक अपवादों को प्रस्तुत करती है) फिर भी, चीनी ग्रामवासी (चाहे वह किसान हो या सम्भ्रान्त वर्ग का व्यक्ति या नौकरशाही का सदस्य) निश्चय ही आत्म-तुष्ट संसार में नहीं रहता था। कारण यह था कि राष्ट्रीय सरकार और संस्थाओं के खुले प्रभाव तथा लिखित संचार की सम्भावनाओं के कारण समुदाय सामाजिक-सांस्कृतिक अंतर्सम्बन्धों को सीमित नहीं रख सकता।

लेकिन रेडफ़ील्ड के विद्यार्थियों की कृतियों से यह अवश्य प्रकट होता है कि वे कस्बों और गाँवों के अंर्तसम्बन्धों के प्रति सजग हैं। उदाहरण के लिए, यह सजगता माइनर के अध्ययन 'प्रिमिटिव सिटी आफ टिम्बकटू' में और सिंगर, मैरिएट तथा अन्य विद्वानों के भारतीय समाजों के अध्ययनों में मिलती है। इन सभी अध्ययनों में 'भारतीय संस्कृति को मंजूषाबद्ध करने वाली गाँव की दुनिया' की भ्रमात्मक धारणा को अस्वीकृत किया गया है। उनमें देहात और नगर को सामाजिक-सांस्कृतिक गतिविधियों का सम्मिलित क्षेत्र माना गया है यद्यपि इस स्वीकरण के पूर्ण निहितार्थ इसलिए धूमिल रह गए हैं कि इस सामाजिक क्षेत्र का विश्लेषण विराट और लघु समुदायों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया के संदर्भ में ही किया गया है जिसके ऊपर महान् परम्परा की सर्वांगीण छत्र-छाया है।

अंश और अंशी की दार्शनिक समस्या पर भी अभी काफी विचार किया जाता है। रेडफ़ील्ड की दृष्टि में कृषक समाज आंशिक समाज ही हैं। लेकिन इस्लामी और हिन्दू समाजों में 'अंशी' या सम्पूर्ण क्या है? सरलतम व्यवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य सभी व्यवस्थाओं में सामाजिक कार्य-क्षेत्र की सीमाएँ व्यक्ति के विभिन्न कार्य-कलापों के लिए अलग-अलग होती हैं। उसका मार्गदर्शन करने वाले प्रतिमानों और अभिरुचियों का निर्देश एक 'संस्कृति' के रूप में अपर्याप्त ढंग से ही किया जा सकता है क्योंकि मनुष्य एक सन्दर्भ में 'हिन्दू' या 'मुस्लिम' के रूप में आचरण करता है तो अन्य संदर्भों में व्यापारी के रूप में या किसी जाति अथवा गोत्र के सदस्य के रूप में।

इस प्रकार की स्थिति, जिसमें व्यक्तियों या समूहों के सामाजिक क्षेत्रों की कोई एक ही सामाजिक-सांस्कृतिक सीमा नहीं होती, न केवल कृषक समाजों में पाई जाती थी बल्कि उपनिवेश-पूर्व अफ्रीका के अनेक केन्द्रीकृत समाजों में भी। उदाहरण के लिए, जहाँ कहीं बाज़ार पाये जाते हैं वहाँ इसका भी अस्तित्व है। वस्तुतः अन्यों की भाँति रेडफ़ील्ड भी बाज़ार को ही वह संस्था मानता है जो "आत्म-तुष्ट आदिम समुदायों के सुसम्बद्ध सामाजिक सम्बन्धों में से मानव गतिविधियों के कुछ अंश को बाहर ले आता है और लोगों को

ऐसे आर्थिक क्रिया-कलापों में व्यस्त बनाता है जो स्थानीय जीवन से मुक्त क्षेत्र का क्रिया-कलाप हैं।" उत्तरी भारत के अपने अध्ययन में लेविस ने, अन्य अध्येताओं की भाँति, जाति, वंश और विवाह पर आधारित ग्रामेतर सम्बन्धों पर बल दिया है। दूसरी ओर मैरियट ने धार्मिक क्षेत्र की छोटी और स्थानीय परम्परा तथा बड़ी परम्पराओं के बीच, जो 'अंशतः गाँव के अंदर और अंशतः बाहर' की हैं, लगातार संप्रेषण प्रक्रिया पर जोर दिया है। लेकिन संप्रेषण की इस पद्धति की ओर कम ध्यान दिया गया है और इस तथ्य को पूरी तरह नहीं समझा गया कि किसान—अथवा रेडफील्ड के शब्दों में 'पुरानी सभ्यताओं के ग्रामीण विस्तार'—उन समाजों के अंग हैं जिनके पास लेखनी जैसी महत्वपूर्ण टेक्नालौजी थी, कि सभी 'सार्वभौम धर्म' साक्षर धर्म हैं (यद्यपि ऋग्वेद बाद में लिखे गए) और महान् परंपरा के संदर्भ में जो अंश गाँव के भीतर है वह पुस्तकों और उनकी व्याख्याओं के रूप में है।

यह तथ्य समाज के लिए प्राथमिक महत्व का है। इसे वाट और मेरे निबन्ध में, जो इस भूमिका के बाद दिया गया है, तर्क के रूप में स्थापित किया गया है। ऐसे समाजों के अध्ययन के निहितार्थों की ओर रेडफ़ील्ड की अन्तिम कृतियों में संकेत किया गया है। उसने लिखा है कि "अगर हम किसी सभ्यता के अन्तर्गत एक गाँव में प्रवेश करें तो हम तुरन्त देखेंगे कि उसमें संस्कृति की धारा उन शिक्षकों से निःस्रत हो कर आ रही है जिन्होंने उस गाँव को नहीं देखा और जो गाँव से देश और काल की दूरियों पर बौद्धिक क्षेत्रों में कार्यरत रहे।"

वस्तुतः संस्कृतिकरण की प्रक्रिया, जो भारतीय संस्कृति सम्बन्धी हाल के विचार और अध्ययन की महत्वपूर्ण विशेषता रही है, स्वयमेव साक्षरता की गतिविधियों से अविच्छिन्न रूप में सम्बद्ध है जिसका प्रमाण विधि-संहिताएँ और पवित्र धर्मग्रन्थ हैं। जैसा कि मेन ने कहा है, हिन्दू विधि-शास्त्र ज्ञात विधि-विधानों में सबसे ज्ञात पद्धति है और अब भी उसमें पुरानापन नहीं दिखाई देता। आज भी वह मनुष्य-जाति पर शासन करता है और उसका विस्तार कश्मीर से कन्याकुमारी तक है और इस अंचल के निवासी **जिस**

प्रकार इसके स्वीकरण के मामले में एकमत है वसे अन्य किसी विषय पर नहीं।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जन जातियों का अध्ययन करने वाले समाज शास्त्रियों ने साक्षरता की सीमा से बाहर के संरचनात्मक-कार्यात्मक ढाँचे के क्रियाकलापों का जो विश्लेषण किया है उसे यहाँ बिना संशोधन के शायद ही स्वीकार किया जा सके। यह भी उल्लेखनीय है कि कार्यात्मक दृष्टिकोण को मूलतः अपनाने वाले विद्वानों (मैलीनोव्स्की और रैडक्लिफ-ब्राउन) ने छोटे आकार के द्वीपों में जिन परिस्थितियों में काम किया उन्हें उनके विद्यार्थियों ने प्रायः सीमाबद्ध, अलग-थलग और 'आदिम' समुदायों की खोज में विश्व के प्रमुख महाद्वीपीय क्षेत्रों में दुहराने का प्रयास किया है।

उन व्यापक क्षेत्रों का अध्ययन करने के लिए, जहाँ सार्वभौम धर्म सामाजिक परिवेश के अंग हैं, इस दृष्टिकोण की अपर्याप्तता स्पष्ट है। वस्तुतः हमें यह बात कहने की शायद ही आवश्यकता पड़ती यदि हम यह न देखते कि हमारे बौद्धिक क्रिया-कलापों के अन्तर्गत जो धारणाएँ और दृष्टिकोण साक्षरता-पूर्व समाजों के सम्बन्ध में विकसित किए गए थे उन्हें साक्षर संस्कृति के अध्ययन के लिए अधिकाधिक प्रयोग में लाया जा रहा है। आदिम वर्गीकरण सम्बन्धी वर्कहाइम के विचारों का प्रयोग प्रमुख सभ्यताओं के अन्तर्गत समाजों के लिए किया जा रहा है।

इस तर्क को चरम परिणति तक पहुँचाने के लिए किसी पुस्तक की भूमिका उपयुक्त माध्यम नहीं है। लेकिन एक भिन्न परिवेश में विकसित धारणाओं को अविलम्ब साक्षर समाजों पर लागू करने से पूर्व हमें साक्षरता के कुछ उपयोगों और कार्यों पर विचार कर लेना चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि बौद्धिक टेक्नोलौजी में यह क्रान्ति किसी समाज और उसके सदस्यों को किस प्रकार औरों से भिन्न बनाती है।

सीमित साक्षरता

साक्षरता के पूर्ण विकास को अवरुद्ध करने वाली अनेक बातें होती हैं। अन्य क्षेत्रों की तरह, तकनीकी सीमाओं की समाप्ति के

बावजूद सामाजिक अवरोध बने हुए हैं। साक्षरता की पूर्ण संभावनाओं के प्रस्फुटन के मार्ग में कौन सी निश्चित बाधाएँ हैं ?

पहली बाधा तो यह है कि प्रायः गोपनीयता और पुस्तकों के प्रचार को सीमित रखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। पश्चिमी अफ्रीका में स्वयं कुरान के मामले में गोपनीयता बरती जाती है जिससे उसके जादुई प्रभाव और उसको रखने वालों की शक्ति में वृद्धि हो सके। मध्ययुगीन यूरोप की जादू-टोने की किताबों के बारे में भी यही बात लागू होती थी। मिस्र और मेसोपोटामिया के धर्मानुष्ठान सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों पर 'मनुष्य की नज़र' नहीं पड़ने दी जाती थी। इसी प्रकार पाइथागोरस और उसके अनुयायियों के क्रिया-कलापों को भी गुप्त रखा जाता था : उनकी कृतियों में जादू-टोना और संख्या-सगुन विचार को काफी बल मिला है। एक तत्कालीन व्याख्याकार ने लिखा है कि "हमें प्रत्येक बात सभी लोगों को नहीं बतानी चाहिए।" कहा जाता है कि इस सम्बन्ध में नियम बनाया गया था कि जो लोग विद्वत्-परिषद में दीक्षित हों उनको शपथ दिलाई जाय कि वे पाँच वर्ष तक मौन साधे रहेंगे।

इस प्रकार के अवरोधात्मक आचरण को तब अपनाया जाता है जब उसे अपनाने वाले अपनी क्षमता के स्रोत पर एकाधिकार बनाये रखना चाहें। गुजरात के बारौतों के विषय में, जो वंशावली-विशेषज्ञों की एक जाति है, श्रीनिवास ने लिखा है : "वे अपनी पुस्तकों के बारे में बहुत गोपनीयता बरतते हैं और उन लोगों को बहुत संदेह की दृष्टि से देखते हैं जो जानना चाहते हैं कि उनमें क्या लिखा है। बारौत केवल अपने संरक्षकों को ही अपनी पुस्तकों का भेद बताते हैं, दूसरों को नहीं। उन्हें आशंका रहती है कि उनके प्रतिद्वन्द्वी उनकी रोज़ी छीन लेंगे।"

केवल ये विशिष्ट जातियाँ ही अपने एकाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए उत्सुक नहीं रहतीं। वेदों के अध्ययन की अनुमति भी केवल 'द्विजों' के लिए है। इस प्रकार उच्च कुल के लोग ही उनका अध्ययन कर सकते हैं हालाँकि पिछले दो हज़ार वर्षों में इस क्षेत्र में ब्राह्मणों का प्राधान्य रहा है। भारत में अध्यापन की चर्चा करते हुए घुरवे ने लिखा है कि किस प्रकार नवद्वीप विद्यापीठ के

संस्थापक वासुदेव सार्वभौम वाराणसी में उपनिषदों का अध्ययन पूरा कर लेने के बाद पौषधर मिश्र से और आगे की शिक्षा प्राप्त करने के लिए मिथिला गए। इस अध्यापक के पास गंगेश कृत तर्कशास्त्र की पुस्तक 'चिन्तामणि' की एकमात्र पांडुलिपि थी। उन्होंने यह शर्त लगा दी थी कि वे तभी किसी शिष्य को स्वीकार करेंगे जब वह उस पाण्डुलिपि की कोई प्रति न तैयार करे जिससे उस पर मिथिला अध्ययनपीठ का एकाधिकार बना रहे। लेकिन वासुदेव ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को कंठस्थ कर लिया और एक नये पीठ की स्थापना की जो अध्ययन-केन्द्र के रूप में मिथिला पीठ से कहीं आगे बढ़ गया।

लेकिन भारत में केवल साक्षरता के एकाधिकार को बनाये रखने के लिए ही नहीं बल्कि कतिपय आर्ष (और कुछ हद तक तात्विक) मूल्यों के कारण भी मौखिक सम्प्रेषण पद्धति अपनाई जाती थी। जैसे पश्चिमी अफ्रीका के मुसलमान मुद्रित कुरान की जगह हस्त-लिखित कुरान रखना अधिक अच्छा समझते हैं, उसी प्रकार भारत में सम्प्रेषण को सुरक्षित रखने की पद्धति के रूप में साक्षरता के प्रयोग के काफी समय बाद तक भी पवित्रतम मंत्रों को उच्चारण द्वारा (अर्थात् उनके मूल रूप में) सम्प्रेषित किया जाता रहा। यद्यपि बौद्ध सम्राट् अशोक के समय तक कुछ कार्यों के लिए लेखन का प्रचुरता से प्रयोग होने लगा था, तथापि ऋग्वेद आठवीं या नवीं शताब्दी तक लिपिबद्ध नहीं हुआ था। भारत में सीमित साक्षरता की वे अनेक विशेषताएं पाई जाती थीं जो पश्चिमी सूडान में प्रचलित थीं : पारिवारिक पाठशालाएं, लम्बे समय तक (१२ से २४ वर्ष की अवधि में) ग्रन्थों को पढ़ना-समझना, शिक्षण की मौखिक पद्धति आदि। वर्णमाला के आरम्भिक काल में भारतीय विद्वानों को लेखन के प्रति वैसे ही संदेह थे जैसे प्लैटो को थे। एक पाणिनीय सूत्र में कहा गया है कि 'जो व्यक्ति बिना अर्थ समझे बोलता है और जो लिखे हुए को पढ़ता है वह निकृष्टतम कोटि का वक्ता और पाठक है।' नारद-स्मृति में पुस्तकीय ज्ञान को बाधक मानकर उससे बचने को कहा गया है : "जो ज्ञान पुस्तकों से प्राप्त होता है, सीधे गुरु से नहीं, वह फलदायक और व्यावहारिक नहीं होता।" अन्यत्र यह भी कहा गया है कि जिस पुस्तक को कंठ में स्थान नहीं दिया गया वह औरों के पास धन

के समान है। इन सब उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखन और पुस्तक-संग्रह के प्रति कितने विरोध का वातावरण पाया जाता था। कंठस्थ करने पर बहुत जोर दिया जाता था और ज्ञान की परम्परा मुख्यतः गुरुओं की अटूट शृंखला द्वारा सुरक्षित रहती थी। इस्लामी परम्परा की भाँति किसी अध्ययन-क्रम के गुरुओं का नाम स्मरण रखने और दुहराने की प्रथा प्रचलित थी। इसे ही विल्क्स ने पश्चिमी अफ्रीका के द्यूलाओं के संदर्भ में 'अध्ययन का वंशानुक्रम' कहा है। इस क्रम में प्रत्येक शिक्षक या गुरु का महत्व इस बात से आंका जाता था कि वह पुस्तकीय विद्या को किस हद तक कंठस्थ कर चुका है। प्रत्येक शिक्षक वस्तुतः स्वयं 'जीवित पुस्तकालय' था।

किसी प्रमाणिक शिक्षक द्वारा पुस्तकों तक पहुंच का उदाहरण—जो साक्षर और मौखिक पद्धतियों का मिश्रण है, गुरु परम्परा के अनुरूप है तथा प्रायः धार्मिक साक्षरता की विशेषता है—हमें बोले के गोन्जा कस्बे में १९६५ में देखने को मिला। जैबाग्ते शाखा का एक व्यक्ति, जो फटा-पुराना गाउन पहने था और बाजार में निरुद्देश्य घूम रहा था, इसलिए बीमार बताया जाता थाकि उसने कुरान के कुछ अंशों का पाठ बिना समुचित सावधानी बरते किया था। इस सम्बन्ध में यह उक्ति प्रचलित थी कि 'अगर तुम सावधानी बरते बिना गुप्त रूप से पढ़ोगे तो तुम पागल हो जाओगे।' यह माना जाता था कि साक्षर व्यक्ति को भी पुस्तकों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मार्गदर्शन की आवश्यकता है और लिखित शब्द तक स्वतन्त्र रूप से पहुँच रहस्यात्मक खतरों से खाली नहीं है।

गुरु-परम्परा सीमित साक्षरता की विशेषता है, जिसके अन्तर्गत मध्यस्थ के रूप में शिक्षक को प्रमुख महत्व दिया जाता है। पुस्तकीय अध्ययन को वह अपने व्यक्तित्व द्वारा सम्प्रेषण की मौखिक और साक्षर पद्धतियों का समन्वयन करके, सुलभ बना देता है। गुरु का महत्व इस तथ्य के कारण और बढ़ जाता है कि वह धार्मिक परंपरा का ज्ञान देता है और वह ऐसा व्यक्ति है ,जो सांसारिक कार्यों से अंशतः सन्यास ले चुका है या कम से कम वैसा दृष्टिकोण अपना चुका है। 'सत्य' की प्राप्ति के लिए एक विशिष्ट माध्यम, एक प्रकार के वैचारिक विवेचन और स्मृति द्वारा हृदयंगम करने की क्षमता

आवश्यक मानी जाती है; ये ऐसी शिक्षण-पद्धतियाँ हैं जो शायद आनुभाविक की बजाय रहस्यात्मक दृष्टिकोण के लिए अधिक उपयुक्त हैं। भारत में अध्ययन के क्षेत्र में एक से अधिक ब्राह्मण-परम्पराएं पाई जाती थीं। एक तो वैदिक परम्परा थी जो मुख्यतः मौखिक थी। फिर तंत्र और वेदांत के अधिकांश की गुह्य परम्परा थी और फिर विवेचन तथा भाष्य की शास्त्रीय परम्परा थी। यह अन्तिम नगरवर्ती परम्परा थी जिसके अन्तर्गत व्याकरण, छंदशास्त्र, तर्क और दर्शन का अध्यापन होता था; फिर भी इसके लिए कंठस्थ करने की काफी अधिक आवश्कता होती थी। परिणामतः बौद्धिकों के बीच भी विद्या परम्पराभिमुखी होती थी जो रचना की बजाय भाष्य में अधिक पटु होते थे। और जैसा कि हाल में विद्वानों ने खोज की है, १७वीं शताब्दी में भी स्थापित विश्वविद्यालयों मे कंठस्थ विद्या पर बहुत ज़ोर था।

इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति द्वारा 'संरक्षित सम्प्रेषण' की संभावनाओं का पूरा लाभ नहीं उठाया जा सकता। इसके अंतर्गत पुस्तकें केवल स्मृति-सहायक होती हैं और उन्हें 'पठित' तभी माना जाता है जब उनको कंठस्थ कर लिया जाय। परिणामतः आरंभिक शिक्षा पर ज़ोर विषय-वस्तु की आवृत्ति पर दिया जाता है न कि दक्षता-प्राप्ति पर। इन परिस्थितियों में पुस्तकीय शिक्षा अनमनीय बन जाती है जो जिज्ञासा को उस भावना के प्रतिकूल है, जिसका प्रसार साक्षरता ने सर्वत्र किया है।

अंशतः यहाँ हम साक्षर सस्कृति के अंतर्गत मौखिक अवशेषों पर विचार कर रहे हैं। यह एक प्रकार के सांस्कृतिक पिछड़ेपन की स्थिति थी। इसका प्रभाव मध्यकाल में सम्पूर्ण यूरोप पर पड़ा। विद्यार्थियों को उस काल में वस्तुनिष्ठ विवरण या अभिव्यक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती थी और लेखन के प्रचलित हो जाने के बावजूद मौखिक सम्प्रेषण को भी बनाये रखा गया था। इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति औद्योगीकरण से पहले के अनेक समाजों में प्रचलित थी। उसके अन्तर्गत साक्षरता को मौखिक सम्प्रेषण का सहायक ही माना जाता था।

इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न होने की सबसे अधिक संभावना

तब होती है जब लेखन और धर्म में निकट का सम्बन्ध होता है क्योंकि उस स्थिति में ईश्वरीय शब्द (या उसके पैगम्बर का शब्द) अथवा उपासना की उचित विधि केन्द्रोय स्थान ग्रहण कर लेते हैं। दक्षता विषय-वस्तु के अधीन हो जाती है और विषय-वस्तु धार्मिक कट्टरता के अधीन। ऐकान्तिक धर्म न केवल 'धर्मद्रोही' विचारों के प्रसार को रोकने का प्रयास करते हैं बल्कि अनेक प्रश्नों और समस्याओं के प्राय: : निश्चित उत्तर भी प्रस्तुत करते हैं। ग्रीस और रोम इस अर्थ में और देशों से अलग हैं कि वहाँ साक्षरता को अधिकांशत: धर्म-निरपेक्ष रखा गया और तब तक उस धार्मिक साक्षरता के प्रभाव को दूर रखा गया जो पश्चिमी यूरोप की संस्कृति को आक्रांत किए हुए थी जब तक छापेखाने का आविष्कार नहीं हो गया।

हिमालय के एक गाँव में ब्राह्मणों और श्रमणों की दिलचस्प तुलना करते हुए बेरेमान ने धार्मिक दृष्टि से नई बातों की खोज करने वाले श्रमणों और परंपरावादी ब्राह्मणों में अन्तर को दर्शाया है। 'ब्राह्मण रूढ़िवादी और विद्वान होता है जो अपने कर्तव्य कर्म शुद्धता पूर्वक करता है। ब्राह्मण परिभाषानुसार सांस्कृतिक और सामाजिक रूढ़िवादी होता है।' इसके साथ ही ब्राह्मण का रूढ़िवादी आचरण इस तथ्य को व्यक्त करता है कि वह निश्चित ग्रन्थों के आदेशनुसार कार्य करता है। ये ग्रन्थ संरक्षित सम्प्रेषण हैं यद्यपि वे मौखिक भी हैं और लिखित भी।

ऐन्द्रजालिक-धार्मिक क्रियाकलाप के सम्बन्ध में लेखन का यह योगदान लेखन के इतिहास के आरंभिक चरणों में मिलता है। ओपेनहाइम ने लिखा है कि 'मेसोपोटामिया की विधि संहिताएं, संहिताकरण की बजाय मनोवांछाओं को अधिक अभिव्यक्त करती हैं क्यों कि उनका उद्देश्य विधि को सामाजिक, आर्थिक अथवा राज नैतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुरूप बनाना है…लेकिन पवित्र श्रुति या विद्या का लेखन परंपरा के 'प्रशीतन' के लिए होता था, उसे यथार्थ के अनुरूप बनाने के लिए नहीं।

सीमित साक्षरता की इन विशेषताओं को तिब्बत में सुस्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उस देश में वर्णमालात्मक लेखन की पद्धति

प्रचलित थी जिसकी जानकारी एक ज़िले से दूसरे जिले में कमोबेश होती थी। सभी जगह उसका मुख्य उद्देश्य धर्म प्रतीत होता है। साक्षरता बौद्ध भिक्षुओं के साथ आई। एकवाल लिखता है : "वहां पढ़ना सीखने का मुख्य कारण धार्मिक है—यह इच्छा है कि बौद्ध ग्रन्थों तथा धार्मिक कृतियों में दी गई प्रार्थनाओं, उपदेशों और जादू-टोनों को पढ़ा जा सके।" अक्षर ज्ञान भिक्षुओं द्वारा दिया जाता है। शैक्षिक सामग्री की अंतर्वस्तु धार्मिक होती है। ग्रन्थ के पृष्ठों को पलटना एक अत्यधिक प्रभावोत्पादक अनुष्ठान का अंग है। ग्रन्थों का स्वामित्व प्रतिष्ठान का परिचायक है। संक्षेप में साक्षर क्रिया-कलाप कृपावान तथा तथा गुणवान बनने और अंततः निवार्ण प्राप्त करने का एक साधन है क्योंकि उससे नई प्रार्थनाओं को सीखने के द्वार खुलते हैं। निरक्षर, ग्रन्थ को प्रार्थना के लिए काम में नहीं ला सकते। वे उसे ओंम् का उच्चारण करते हुए हाथ में लेकर मस्तक से लगा सकते हैं जिससे स्पर्श-जन्य कृपा प्राप्त कर सकें। दूसरी ओर साक्षर जन एक-एक पंक्ति को लय के साथ पढ़ कर और एक-एक पृष्ठ पलटते हुए, क्योंकि यह भी अभिव्यक्ति का ही एक रूप है, कहीं अधिक लाभ प्राप्त कर सकते हैं। वे अर्थ को उसके लिखित रूप में दृष्टिगत कर सकते हैं और उसे मन में स्थिर कर सकते हैं।

वहाँ पुरुषों की संख्या में से आधे लोग पढ़ सकते हैं लेकिन उनका पठन अधिकांशतः धार्मिक और ग्रहणशील होता है। उस धर्मतंत्रिक समाज में साक्षरता की तकनीक की वही नियति रही जो प्रार्थना-चक्र की रही है। मुद्रित या लिखित शब्द का समन्वय प्रार्थना चक्र की आयताकार गति से होता रहा। प्रार्थना-चक्र तिब्बत का एक विशिष्ट आविष्कार है यद्यपि उसकी मूल प्रेरणा तिब्बत को शायद चीन के 'परिभ्रामी पुस्तकालयों' मे मिली होगी जिनका आविष्कार 'निरक्षरों को वे गुण प्राप्त कराने के लिए किया गया था जो पवित्र ग्रन्थों से मिलते हैं।' परन्तु यद्यपि धार्मिक उद्देश्यों से चक्रायित गति का प्रयोग किया जाता था, मनुष्य या माल के परिवहन के लिए उसे काम में नहीं लाया गया। एकवाल लिखता है : "चक्र के सिद्धान्त को धार्मिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाने के कारण ही ऐसा लगता है कि तिब्बतियों ने सांसारिक कार्यों के लिए

उसका प्रयोग नहीं किया ।" लेकिन यही बात लेखन के बारे में सही नहीं है जिसका प्रयोग प्रशासनिक कार्यों के लिए किया गया। परन्तु बौद्धों के शासन में उसका प्रयोग मुख्यतः प्रचार और उपासना के माध्यम के रूप में होता रहा । पवित्र मंत्र का उच्चारण,लेखन (या मुद्रण) और पठन अपने आप में सिद्धि बन गए । ग्रन्थों को बिना खोले उन्हें जुलूस में ले जाया जाता था और किसी महान लामा की समाधि में रख दिया जाता था । तिब्बत में सर्वत्र भिक्षु नदी नालों के किनारे जा बैठते थे और पानी की सतह पर तन्त्र-मंत्र मुद्रित करते रहते थे । तिब्बत से बढ़कर अन्ध मुद्रण-पूजा का अन्यत्र उदाहरण नहीं मिलता ।

कुछ हद तक लेखन से ऐन्द्रजालिक-धार्मिक क्रिया-कलापों को प्रोत्साहन मिला । पुजारी विद्याधर, साक्षर और बुद्धिजीवी व्यक्ति होता था जिनका अधिकार लौकिक और पारलौलिक-दोनों ही प्रकार की शक्तियों पर माना जाता था । वह उनके सम्प्रेषण का भी अधिकारी था । और पुस्तक का उपयोग केवल धार्मिक कार्यों के उच्चतर स्तर तक ही सीमित नहीं था क्योंकि यह सोचना गलत होगा कि साक्षरता ने अनुष्ठान और आस्था के जादू-टोने वाले तत्वों को निकाल बाहर किया । पहले जो कुछ मौखिक था वह अब लिपिबद्ध हो गया और जिस प्रकार धार्मिक मिथक पवित्र पुस्तक में संपुंजित हो जाते हैं उसी प्रकार जादू-टोने की विधियाँ तन्त्र-मन्त्र के ग्रन्थों में स्थायी हो जाती हैं और साक्षर विश्व में फैल जाती हैं। मैं यहाँ धर्म और जादू टोने के अन्तर की बात पर जोर नहीं देना चाहता लेकिन ईश्वरीय ज्ञान सुनिश्चित और सुस्थापित पुस्तकों की छाया में, जो विश्व के धर्मों की व्याख्या करती हैं एक और प्रकार की पुस्तकों का भी प्रचार होता रहा है जिनमें जादू-टोने के फार्मूलों में और अंक सगुन विचार के वर्गों का समावेश है और जिनके विषयों के अंतर्गत समस्याओं के ऐन्द्रजालिक समाधान, प्रेमिका की प्राप्ति के लिए पेय, भगोड़े नौकर को वापस लाने वाले मंत्रों आदि का उल्लेख है ।

इस प्रकार के जादू-टोने के ग्रन्थों की परम्परा लेखन के आरम्भ के साथ ही शुरू होती है । इसका उद्गम-स्थान मेसोपोटामिया है जहाँ

पहली बार लेखन का विकास हुआ। जादू-टोने के लिए शब्दों और संख्याओं के जिन विविध समीकरणों की अपेक्षा होती है वह लेखन की स्थिति में ही संभव हैं। ईश्वर के नाम-परिवर्तनों की संभावनाएं भी लेखन द्वारा उत्पन्न होती हैं। अनेक मुस्लिम ग्रन्थों में ऐन्द्रजालिक वर्गों का समावेश एक सामान्य श्रोत से हुआ है जो संभवतः भारत या चीन है। वस्तुतः गणित का विकास संख्यात्मक इन्द्र-जाल से बताया जाता है। यह भी कहा गया है कि पाइथागोरस का कर्ण पर आयत का प्रमेय संख्या-सगुन सम्बन्धी अनेक प्रयोगों के दौरान खोजा गया। अब यह स्वीकार किया जा चुका है कि यह प्रमेय पाइथागोरस के समय से पहले का है और उसके गणित का काफी भाग मूलतः पूर्वी अंचलों से आया। लेकिन यह सुस्पष्ट है कि उसके विचार-क्रम के अंतर्गत गणित और जादू का अंतर्सम्बन्ध निहित है।

उदाहरण के लिए डाड ने लिखा है कि पाइथागोरसवाद में अंशतः श्रमणवाद और अंशतः संख्यात्मक रहस्यवाद तथा सृष्टिगत सामरस्य पाया जाता है। उसके अनुसार विश्व-प्रकृति गणित की योजनानुसार निर्मित हुई। पदार्थों का उद्भव संख्याओं से हुआ। इस धारणा के रहस्यात्मक संकेतों के प्रति अरस्तू को आपत्ति थी। हमारे लिए इतना ही समझ लेना यथेष्ट है कि संख्याओं की संगणना के काफी अधिक भाग का सम्बन्ध जादू-टोने से था लेकिन साथ ही यह भी सच है कि ग्रीस की गणित सम्बन्धी सफलताओं का श्रेय काफी हद तक इस बात को जाता है कि वे संख्याओं से ज्यामितिक आकृतियों को निकाल सके। इस विकास क्रम में उन्हें संख्याओं को दृश्य रूप में रखने की आदत से, जैसे, बिंदुओं, अक्षरों और पत्थर के टुकड़ों को पंक्ति बद्ध रखने के कारण, बहुत सहायता मिली। गणित सम्बन्धी ऐसी अनेक सफलताएं, जैसे मैसोपोटामिया की कुछ उपलब्धियां, वर्णमाला-लेखन (जैसे बीजगणित) से सम्बद्ध नहीं थीं बल्कि रेखित अभिव्यक्तीकरण का परिणाम थीं जिससे संख्यात्मक समायोजन की संभावनाओं में आमूल-चूल परिवर्तन आ सके।

इस प्रकार के ऐन्द्रजालिक ग्रन्थों की एक बड़ी विशेषता अक्सर यह होती है कि उनमें वंशावली का उल्लेख होता है जो मूलतः 'पवित्र पुस्तक' से और मनुष्य के प्राचीन इतिहास से ली गई है।

उदाहरण के लिए समारी लोगों के अनुसार सभी प्रकार की ऐन्द्रजालिक शिक्षा का उद्‌गम संकेतों की किताब-बुक आफ साइन्स-से हुआ जिसे आदमी स्वर्ग से लाया ताकि उसे तत्वों तथा अदृश्य वस्तुओं पर अधिकार मिल सके। इसो प्रकार की बात यहूदी पुस्तक 'सेफेर राजिएल' में भी लिखी गई है तथा कुरान में भी इस परंपरा ने स्थान पाया : ''और हमने सुलेमान को आंधियों के उपयोग की सीख दी...और हमने उनकी सेवा में कुछ शैतान भी दिए जो उसके आदेश पर डुबकियां लगाते थे और अन्य बहुतेरे करतब दिखाते थे।'' अरबों की दृष्टि से यहूदी और अफ्रीकी महान जादूगर थे। यहूदी और रोमवासी ईसाइयों को 'जादुई गणितज्ञ' मानते थे और बाद में ईसाइयों ने जादू की बातें यहूदी और अरब श्रोतों से ग्रहण कीं। कारण यह था कि इस प्रकार की सभी जानकारी गोपनीय मानी जाती थी। अतः उसे बाह्य सूत्रों से, विशेषतः ऐसे सूत्रों से जो वंशानुक्रम में अतिमानवीय शक्ति-केन्द्रों से सम्बद्ध हों, लेने का अर्थ था कि वह और सक्षमता प्रदान करे।

जादू की किताब का प्रचलन सीमित साक्षरता की परिस्थितियों में हुआ। अंशतः इसका कारण यह था कि उसकी व्याख्या करना एक विशिष्ट कार्य माना जाता था। लेकिन लेखन का प्रचलन हो जाने से पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक संयोजनों तथा शब्दों, अक्षरों और संख्याओं के अधिक विविध समीकरणों का मार्ग प्रशस्त हो गया। तर्कशास्त्र और व्याकरण की भांति शब्दों और वाक्यों को तोड़ा जा सकता था और खंडों को फिर नये रूपों में समेकित किया जा सकता था। संख्याओं को भी सारणियों में रखा जा सकता था और उनके गुणों की परीक्षा दृश्य-पद्धति से की जा सकती थी। दोनों के व्यापक और गुह्य अंतर्सम्बन्धों की स्थापना उन्हें सादृश सारणियों में रखकर, की जा सकती थी।

इस्लामी सारणी का एक उदाहरण सारणी संख्या २ में दिया गया है। जैसा की डूटे ने लिखा है, ''इस जाडवाल के पीछे प्रमुख धारणा यह है कि विभिन्न तत्वों में एक सुनिश्चित सम्बन्ध है।'' इसी सम्बन्ध के कारण मानव व्यापार के अंतर्गत उसका बड़ा महत्व माना गया। यह केवल वर्गीकरण की एक पद्धति नहीं है बल्कि सम-

स्याओं के समाधान के लिए उसमें बहुत क्षमता है । इसी प्रकार पाइथागोरस के सिद्धान्तानुसार उस संख्यात्मक पद्धति का भी बहुत महत्व है जो विश्व व्यापार की कुँजी है जिसके अनुसार वर्गाकार सारणी में दी गई संख्याओं का पंक्ति-गत योग बराबर होता है । नौ खानों वाली ऐसी एक सरल सारणी संख्या १ नीचे जा रही है जिसका प्रत्येक पंक्ति की संख्याओं का योग १५ होता है :

४	९	२
३	५	७
८	१	६

सारणी संख्या २

'जाडवाल', 'दावत ; 'अलशम्शा ।' यह ४९ खानों वाली सारिणी होती है जिसे डूटे ने दिया । इसके अन्य रूप अरबी श्रोतों में पाये जाते हैं । ये चैल्डियन मसीही और यहूदी मूल के हैं ।

पंक्ति	विषय
१	७ जादुई चिन्ह
२	७ शब्द जो कुरान की पहली ७ आयतों में नहीं पाये जाते
३	खुदा के ९९ नामों में से ७ नाम
४	७ फ़रिश्ते
५	७ जिन्न
६	सप्ताह के ७ दिन
७	७ उपग्रह

साक्षर जादू का प्रभाव इस तथ्य पर आधारित था कि लेखन एक महत्वपूर्ण आविष्कार है जिसका प्रयोग मनुष्यों की भांति जिन्नों तथा अन्य ऐसे तत्वों से सम्पर्क स्थापित करने तथा उनको नियंत्रित करने के लिए किया जा सकता है। जादू की किताब और ईश्वरीय पुस्तक की प्रभावोत्पादकता लिखित शब्द की ठोस उपलब्धियों पर निर्भर थी।

लेकिन फिर भी जिन बातों की चर्चा मैंने की है उनमें व्यापक साक्षरता का विकास सीमित रहा। लेखन-कुशलता एक दुष्प्राप्य साधन है यद्यपि लेखन टेक्नालौजी उस स्थिति में पहुँच चुकी है जब वह सभी के लिए सुलभ हो सकती है। सामाजिक दृष्टि से सीमित साक्षरता की स्थिति वैसी ही है जैसी गैर-स्वनिक लेखन की तकनीकी कठिनाइयों से उत्पन्न होती है। इन कठिनाइयों के कारण उसे सीमित संख्या में ही लोग सीख पाते हैं।

साक्षरता प्रसार के मार्ग में एक और बाधा लेखन-सामग्री से सम्बद्ध है। कच्ची मिट्टी की मुहरों पर लिखना कलम से काग़ज पर लिखने की अपेक्षा कहीं अधिक जटिल और कष्टसाध्य होता है और लेखन की गति भी बहुत धीमी होती है। मिट्टी की मुहरों को पत्रों के रूप में लाना ले जाना भी आसान नहीं होता क्योंकि वे भारी भी होती हैं और जल्द टूट भी सकती हैं। इस दृष्टि से उर्वर मुस्लिम विश्व की अपेक्षा चीन कहीं अधिक सुविधाज़नक स्थिति में रहा जहाँ लिखने के लिए कूची, स्याही और काग़ज का प्रयोग किया गया और बाद में मुद्रण का विकास हुआ।

इस पुस्तक में जिन 'पारंपरिक' समाजों का उल्लेख किया गया है उनमें से बहुत कम ऐसे हैं जिन्हें गैर-साक्षर कहा जा सके। उन्हे न केवल लेखन बल्कि वर्णमालात्मक लेखन की जानकारी थी। फिर भी वे उन अर्थों में साक्षर नहीं थे जैसे ग्रीक समाज थे। निस्संदेह साक्षरता अलग-अलग स्थानों में कमोवेश होती हैं और उसकी माप के अनेक प्रतिमान होते हैं। शोफ़ील्ड ने अपने निबंध में धर्म-सुधार आन्दोलन के बाद के इंगलैंड में साक्षरता के परिणाम की समस्या को उठाया है जिसमें उन सबको दिलचस्पी होगी जो साक्षरता और आर्थिक स्वावलंबन के आरंभिक चरणों में सम्बन्ध की खोज करना चाहते हैं।

लेकिन मैं इतनी बारीकी में इसलिए नहीं जाना चाहता क्योंकि एक तो समुचित आंकड़ों का अभाव है और दूसरे जो तथ्य उपलब्ध् हैं भी, वे सीमित हैं। जो भी मोटे तथ्य प्राप्य हैं उनके आधार पर समाज के ऐसे महत्वपूर्ण वर्ग का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा जिसमें साक्षरता केवल अंशत: विकसित हुई है और जिसमें मौखिक परंपरा का साक्षर क्षेत्रों में आधिपत्य बना हुआ है। हमें अपने आप को यह याद दिलाते रहना होगा कि इस स्थिति से लाभ भी हैं और हानि भी। पैरी जब होमर की कृतियों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से 'मौखिक काव्य' की विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए यूगोस्लाविया गया तो उसने ऐसे ही समाज को वहाँ पाया। महा-काव्यों के रचयिता अक्षर-बोध के अभाव में अपनी कृतियों के लिए विशिष्ट प्रकार के छन्दों को अपनाने का निर्णय करते हैं जो उन्हें साक्षर कवियों से पृथक करते हैं। जिन समाजों में लेखन का ज्ञान नहीं है, या जिनमें केवल व्यावसायिक लेखक को ही उसकी सीमित जानकारी है जो पत्र-लेखन या बही-खाता लिखने का काम करता है, अथवा जहां लेखन-कला कुछ थोड़े से लोगों जैसे पादरियों और सत्ताधारियों तक सीमित है (यद्यपि सत्ताधारी प्राय: अपने नौकरों द्वारा लेखन कार्य सम्पन्न कराते हैं) वहां यदि सांस्कृतिक स्तर ऐसा है कि कथा-गायन का प्रचलन हो सके तो कथा काव्य पाये जाते हैं। दूसरी ओर जहां लेखन का प्रयोग मौखिक कथा-काव्यों या कहानियों के लिए किया जाता है और जहाँ श्रोताओं के अंतर्गत व्यापक रूप से पाठक-वर्ग मोजूद है, वहाँ यह वर्ग कथा-कहानियों को सुनने की बजाय पढ़ने में अधिक रुचि लेने लगता हैं जिसके परिणाम स्वरूप मौखिक कला क्रमश: लुप्त हो जाती है।

लेखन और वर्णमाला

हमारे पहले के निबन्ध की मुख्य समस्याओं का सम्बन्ध इस संग्रह की केन्द्रीय विषय-वस्तु से हैं। यह विषय है वर्णमालात्मक साक्षरता के मार्ग में सामाजिक रुकावटें। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार की साक्षरता का प्रसार उसी रूप में क्यों नहीं हो पाया जैसे कि पूर्वी भूमध्य सागर के प्रदेशों में हुआ। इन रुकावटों पर मैंने ऊपर विचार किया है। उत्तरी घाना सम्बन्धी हमारे निबन्ध में भी इस समस्या पर

प्रकाश डाला गया है ।

लेकिन एक और सामान्य बात को चर्चा भो आवश्यक है । हमने जिन परिवर्तनशील परिस्थितियों का उल्लेख किया है उनके अंतर्गत हैं माध्यमों और सम्प्रेषण की टेक्नालोजी में परिवर्तन तथा 'व्यापक साक्षरता' जो लेखन को सरल पद्धति जैसे वर्णमाला को अपनाने का परिणाम हैं जिसका विकास पहली बार प्राचीन ग्रीस में हुआ । ग्रीस में केवल वर्णमाला ही नही बल्कि सभी तरह के लेखनों का विकास (कम से कम पहली बार लगातार ५०० वर्षों तक) हुआ। ग्रीस संस्कृति की जिन विशेषताओं का उल्लेख हमने किया है उनका संबंध 'व्यापक साक्षरता' के अलावा संभवत: स्वयं लेखन से भी है। दूसरे शब्दों में, गैर-स्वनिक लेखन की संभावनाओं को जितना स्पष्ट महत्व दिया जाना चाहिए था उतना नहीं दिया गया। चीन में इन परिस्थितियों में काफी प्रगति हुई और चिन्तन सम्बन्धी कृतियों, एक प्रकार के ऐतिहासिक लेखन और एक प्रकार के उपन्यास का भी लेखन संभव हुआ यद्यपि यह लेखन कुछ मुट्ठी भर साक्षर लोगों द्वारा ही किया गया । इस उपलब्धि का कारण वर्णमालात्मक लेखन न होकर स्वय लेखन था। इसी प्रकार प्रशासनिक क्षेत्र में चीनी जिस राजनैतिक व्यवस्था और नियंत्रण पद्धति से परिचित थे उसे बनाये रखने में शब्दचित्रात्मक लेखन द्वारा सहायता मिली। 'परिवर्तन की किताब' पर लिखे गए महान् भाष्य में कहा गया है : "प्राचीन काल में लोग शासन करने के लिए रस्सियों में गाँठें लगाते थे। बाद में उनकी जगह धार्मिक व्यक्तियों ने लिखित दस्तावेज़ों का आविष्कार किया जिनकी सहायता से विभिन्न अधिकारियों को अंकुश में रखा गया और जनता पर शासन किया गया।" चाउ वंश (१०२७?-२४६ ई० पू०) के दार्शनिकों, चिन कालीन (२४६-२०७ ई० पू०) राज्याधिकारियों, हान काल (२०० ई० पू०—२२० ईस्वी) में इतिहास, चिकित्सा, गणित, खगोल विद्या, वनस्पति विज्ञान और रसायन के लेखकों, टैंग कालीन (६१८-६०६ ई०) कवियों तथा मंगोल शासन-काल में नाटक और उपन्यास लेखकों ने गैरस्वनिक लिपि का प्रयोग किया ।

मैसोपोटामिया के मैदानों में ताम्र युग के समाजों द्वारा

सजनात्मक लेखन का उपयोग कलाओं की बजाय वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए अधिक होता रहा। गणित जैसे कुछ विषयों को दृश्य माध्यमों पर निर्भर रहना पड़ता है लेकिन स्वनिक लेखन उनके लिए अनिवार्य नहीं है। मैसापोटामिया की गणित पद्धतियाँ ईसा से दो हजार वर्ष बाद तक भी अन्य सभी सभ्यताओं की उपलब्धियों के मुकाबले अपना स्थान बनाए रहीं। खगोल विद्या और चिकित्सा शास्त्र के अधिकांश भाग के लिए भी सृष्टि सम्बन्धी जानकारी का लेखा आवश्यक होता है लेकिन यह लेखा किस लिपि में हो, इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता। फिर भी भूमध्य-सागरीय देशों में सरलतर लेखन-प्रणाली और बहुसंख्यक पाठक वर्ग के कारण सामाजिक और बौद्धिक प्रगति में सहायता मिली। इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं कि आज सामाजिक विकास के लिए साक्षरता कार्यक्रमों पर इतना जोर दिया जाता है।

सारणी—३

मैसोमोटामिया में लेखन का उपयोग

(आपेनहाइम के अनुसार)

१. भविष्य में उपयोग के लिए तथ्यों का आकलन	(क) प्रशासनिक उद्देश्यों से (ख) विधि संहिताएँ (ग) पवित्र परंपराओं का निर्धारण (घ) इति-वृत्तों के लिए (च) और (अंततः) विद्वानों के लिए
२. समकालिक स्तर पर तथ्यों का सम्प्रेषण	(क) पत्र (ख) शाही फ़रमान (ग) सार्वजनिक घोषणाएं (घ) लिपिकारों के प्रशिक्षण के लिए दस्तावेज़
३. देवताओं से सम्पर्क	गोपनीय ग्रन्थ, तावीज़ आदि

आज भी किसी समाज में साक्षरता और 'कार्यात्मक' लेखन एवं पठन की योग्यता के स्तर के बारे में अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। स्पष्ट है कि समस्या उससे कहीं बड़ी है जिसे हम ऐतिहासिक समाजों और अल्प-ज्ञात क्षेत्रों के संदर्भ में देखते हैं। हमारे पिछले निबन्ध पर टिप्पणी करते हुए डा० गफ़ ने कहा है कि भारत के कुछ भागों में, जिनमें वर्णमालात्मक लिपि प्रचलित थी, पुरुषों की आधी संख्या और स्त्रियों का छठा भाग, अर्थात् कुल ३३ प्रतिशत आबादी साक्षर थी तथा "चीन में उच्च सांस्कृतिक कालों में साक्षरता की संभवतः यही स्थिति थी।" ठीक-ठीक आंकड़े तो अवश्य उपलब्ध नहीं हैं परन्तु चीन में निश्चय ही प्रतिशत इससे काफ़ी कम था। डि फ्रान्सिस ने, जो एक अधिकारी विद्वान है, अपनी पुस्तक 'चीन में राष्ट्रीयता और भाषा सुधार' में लिखा है: "मोटे तौर पर प्राप्त आंकड़ों से हमें केवल यह मालूम होता है कि चित्र-लिपि द्वारा चीन में इस समय १० से १५ प्रतिशत तक और चीन के इतिहास में अधिकांश कालों में १ से २ प्रतिशत तक जनता ही साक्षरता के सूत्र में बंधी थी।"

चीन में साक्षरता की सीमा के बारे में अनुमानों में काफी भिन्नताएँ पाई जाती हैं। फ्रीडमैन का कहना है कि फ़ूकिएन प्रान्त में १९वीं शताब्दी में विद्वानों का अनुपात ०·२ प्रतिशत और हांग-कांग के नये प्रदेश में ०·१ प्रतिशत था। लेकिन स्कूली शिक्षा कहीं अधिक व्यापक थी और "उक्त क्षेत्रों के अनेक गांवों में किसी न किसी प्रकार के स्कूल थे जहां आरंभिक लिखाई और पढ़ाई की शिक्षा दी जाती थी।" विद्वानों को अधिक विकसित स्कूलों या अध्ययन केन्द्रों में शिक्षा मिलती थी और ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे स्कूल केवल साधन-सम्पन्न लोगों के लिए ही उपलब्ध थे।

सामान्य स्कूलों में, जो पूर्वजों के सभा-भवनों में लगते थे, लड़कों को अक्षर लिखना और पढ़ना सिखाया जाता था। लेकिन ये लड़के पढ़ाई में अधिक समय नहीं देते थे और जो व्यापार या हस्तशिल्प के पेशे अपनाते थे वे ही दो से चार वर्ष तक टिकते थे। 'इस अवधि में वे इतना अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लेते थे कि अपना कारोबार कर सकें, पत्र लिख सकें और हिसाब-किताब तैयार कर सकें।'

चीन में साक्षर उपलब्धियों की महान् विविधता के कारण साक्षरता का मूल्यांकन करना कठिन हो गया है। सीमित संख्या में सामान्य वर्ग के विद्वानों के बाद वहां अज्ञात संख्या में कृषि-पंचागों को पढ़ सकने वाले और ऐसे अल्प विशेषज्ञ थे जो अपना हिसाब-किताब स्वयं रखते थे। इन सीमित साक्षरों की संख्या कोई कुछ बताता है तो कोई कुछ, लेकिन ऐसा लगता है कि डि फ्रांसिस का अनुमान वास्तविक संख्या से कम है।

जिन देशों में धार्मिक साक्षरता और वर्णमालात्मक लिपि पाई जाती है वहां के समाजों में साक्षरता का अनुपात काफ़ी ऊँचा है। चीन के मामले में कुछ बुनियादी कठिनाइयां हैं। वहां परम्परानुसार बच्चों को पहले सरल अक्षर सिखाए जाते थे और फिर वे आकार तथा ध्वनि को संयुक्त करने वाले नये अक्षरों को कंठस्थ करते हुए अपनी साक्षरता का विस्तार करते थे। "जब शिष्य ७-८ वर्ष की आयु के हो जाते थे तो शिक्षक आम तौर पर अक्षरों के अर्थ बताना शुरू करते थे। जब शिष्य एक हज़ार अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लेता था तो वह बच्चों के लिए पाठ्य पुस्तकें पढ़ना शुरू करता था।" अधिकांश मार्गदर्शन व्यक्तिगत रूप में दिया जाता था : शिक्षक किसी अवतरण को पढ़ता था और शिष्य से उसे दुहराने को कहता था। यह कई बार किया जाता था। बाद में शिष्य अपने स्थान पर लौटता और ज़ोर-ज़ोर से उस अवतरण को दुहराता जब तक कि उसे वह कण्ठस्थ न हो जाता, और तब वह फिर शिक्षक के पास जा कर उसे बताता कि उसने क्या सीख लिया है। यदि यह क्रम सफल रहता तो शिष्य को नया अवतरण दिया जाता।

इस क्रम की आवश्यकता अधिकांशतः चीनी लिपि की प्रकृति तथा भाषा की विशिष्ट स्वर-संगति के कारण पड़ती थी। और शिक्षण पद्धति के स्वनिक न होने के कारण यह सुनिश्चित था कि विभिन्न बोलियों वाले लोग भी विद्वत्ता की उपलब्धि के बाद लिखित रूप में पूरे साम्राज्य में अपनी बात पहुंचा सकते हैं और इस प्रकार चिन शासकों के अंतर्गत विकसित राज्याधिकारी वर्ग की व्यवस्था के लिए तकनीकी आधार प्रदान करते हैं, तथापि इस पद्धति की आलोचना बढ़ती गई। वर्तमान शताब्दी के आरंभ में स्वनिक संकेतों का व्यापक

प्रयोग अक्षर ज्ञान के लिए शुरू हुआ और मानक राष्ट्रीय उच्चारण की दिशा में आन्दोलन से इस प्रवृत्ति को बल मिला। पठन की त्वरित पद्धतियों के कारण यह संभव हो सका कि कोई व्यक्ति ३०० घंटों के शिक्षण के बाद ही अखबार पढ़ सके। लेकिन इन सुधारों के बावजूद यह मांग काफी ज़ोरों से होती रही है कि सामाजिक दृष्टि से यह लाभदायक होगा कि चित्र-लिपि को बिल्कुल त्याग दिया जाये।

चीन के अनेक विद्वानों का मत है कि वहां साक्षरता की दर कम होने का कारण लिपि है जो वर्णमालात्मक नहीं है। १९वीं शताब्दी के अंत में प्रोटेस्टेंट धर्म-प्रचारक जे० सी० गिबसन ने लिखा था कि "चित्र-लिपि के कारण साक्षरता केवल उच्च वर्गीय अल्पसंख्यकों तक सीमित रह गई है" और रेवरेंड डब्लू०एन० ब्रूस्टर का विचार था कि अभिजात लिपि के विरुद्ध गंभीर बात यह है कि उससे "विशेषाधिकार प्राप्त एक वर्ग विकसित होता है और इस प्रकार चीन में इस विद्वत्-वर्ग के लिए, विद्वत्-वर्ग द्वारा शासन होता है।"

केवल विदेशी मिशनरियों ने ही ऐसी बातें नहीं लिखी हैं। बहुत से प्रगतिशील चीनी विचारकों ने भी लिखा है कि चीन में निरक्षरता की ऊँची दर का कारण वहां की लिपि है और उन्होंने वर्णमाला-पद्धति में सुधार की मांग की। इस दिशा में एक सबसे सक्रिय व्यक्ति था चू-च्यू-पाइ जो मास्को में १९२८ में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रतिनिधि था। उसने लिखा है: "चीन की 'चीनी लिपि' जनता के लिए निस्संदेह अत्यधिक कठिन है और केवल उच्च वर्ग के लोगों के पास इतना समय होता है कि उसे सीखें। इस प्रकार राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के मार्ग में वह एक बड़ी रुकावट है।" और क्रान्तिकारी कवि सियाओ सान ने लिखा: "वस्तुतः चीन की चित्रलिपि सामंती युगों के प्राचीन अवशेष के सिवा और कुछ नहीं है। वह शताब्दियों पुरानी गुलामी का प्रतीक है और शासक वर्ग द्वारा श्रमजीवी वर्गों को दासता की बेड़ियों में जकड़े रखने का साधन है। आधुनिक चीन के सर्वोत्कृष्ट लेखक लुह सुन ने भी कहा था: "क्या हम चित्र-लिपि के लिए अपना बलिदान कर देंगे?" और विख्यात भाषाशास्त्री तथा चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के एक संस्थापक चिएन सुवान तु ग ने लिखा था: "यदि तुम कन्फ्यूशियस-

वाद को समाप्त करना चाहते हो तो सबसे पहले तुम्हें चीन की लिपि को खत्म करना होगा।"

लिपि में सुधार के आन्दोलनों का १९३० में कुओमिन्तांग के अनेक अधिकारियों ने विरोध किया था लेकिन विद्यार्थियों के अनेक समूहों ने उसे उठाया। ऐसी एक संस्था ने अपने घोषणा पत्र में कहा था : "चित्र-लिपि का सतही ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी कई वर्षों का परिश्रम और दसियों या सैकड़ों डालरों का व्यय अपेक्षित है। जनता के पास इस अमीरी शौक के लिए न तो समय है और न पैसे।" रूस स्थित चीनियों और स्वयं चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने भी सुधार के इस आन्दोलन को अपनाया। १९५१ में स्वयं माओ त्से तुंग ने भी कहा था : "लिखित भाषा में सुधार आवश्यक है। उसे ध्वनि सम्बन्धी उन दिशाओं की ओर जाना चाहिए जिन पर विश्व की भाषाएँ चल रही हैं।"

चीन ने ऐसी लिपि को पहले क्यों नहीं स्वीकार किया? चीनियों को उन वर्णमालात्मक पद्धतियों की अच्छी जानकारी थी जो उनके द्वार पर ही प्रचलित थीं। वे इन पद्धतियों की सरलता को भी स्वीकार करते थे। लेकिन बौद्ध धर्म के प्रसार से भी उन्हें अपनी लिपि छोड़ने की प्रेरणा नहीं मिली। इसका उत्तर हमें सुंग शासन काल के विख्यात विश्व-कोष रचयिता चेंग चियाव के शब्दों में मिलता है। उसने लिखा है : "विश्व की यह राय है कि जो लोग चित्रलिपि जानते हैं वे बुद्धिमान और योग्य हैं जबकि जो लोग उसे नहीं जानते वे सरल और मूर्ख हैं।" दूसरे शब्दों में, चीन की लिपि के कारण ज्ञान जनता के एक छोटे से भाग तक सीमित रहता था यद्यपि आबादी की बहुतायत के कारण साक्षर लोगों की संख्या काफी अधिक होती थी। लेकिन राष्ट्र व्यापी साक्षरता-दर से साक्षर समूहों के बारे में कोई अधिक यथार्थ जानकारी नहीं मिल पाती क्योंकि, जैसा कि गफ़ ने भारत के संदर्भ में लिखा है, साक्षरों की बहुतायत नगरों में (या धार्मिक स्थानों में) केन्द्रित हो सकती है जो लिखित संस्कृति के सम्प्रेषण और विकास के केन्द्र होते हैं।

चीन और भारत के समाजों की यथेष्ट उपलब्धियों के बावजूद इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी साक्षर संस्कृतियों की प्रकृति

सीमित थी । भारत में वर्णमाला की संभावनाएं धार्मिक परंपरा द्वारा सीमित रहीं तो चीन में उस लिपि द्वारा जो वर्णमाला पर आधारित नहीं थी । यद्यपि हमने अपने निबन्ध में चीन में पूर्ण साक्षरता प्रसार के लिए २० वर्ष की अवधि को यथेष्ठ माना है लेकिन सुधार के पक्षपातियों का कहना है कि वर्णमालात्मक लिपि की बजाय पिछली लिपि को सीखने में कहीं अधिक समय लगता है ।

वर्तमान उद्देश्य

निबंधों की यह श्रृंखला, सम्प्रेषण में गहरी रुचि और सम्प्रेषण के माध्यमों के मानव-सम्पर्क पर प्रभाव से प्रेरित है । इस बौद्धिक टेक्नालोजी का केन्द्र-बिन्दु मुख्यतः मानव संस्कृति पर, विशेषतः 'परंपरागत' और औद्योगीकरण-पूर्व के समाजों पर, साक्षरता का प्रभाव है ।

अधिकांश निबन्धों में साक्षरता के प्रभावों को स्थानीय स्तर पर देखा-परखा गया है । यह मूल्यांकन क्षेत्रीय कार्यकर्ताओं के दृष्टिकोण से किया गया है जो यह देखने में संलग्न थे कि लिखित ज्ञान किन तरीकों से प्रदान किया जा रहा है । प्रमुखतः मौखिक समुदाय में साक्षरों की स्थिति का भी मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है और यह देखा गया है कि ऐसी परिस्थिति में साक्षरता के क्या सामान्य उपयोग हैं । हमारा एक उद्देश्य ऐसे विशिष्ट अध्ययनों को प्रस्तुत करना है जिनमें परंपरागत समाजों में साक्षरता के उपयोगों को स्पष्ट किया गया हो । हमारा लक्ष्य केवल वह समाज नहीं है जहां आंशिक साक्षरता बहुत समय पहले जड़ें जमा चुकी है बल्कि अशिक्षित समाजों पर 'परंपरागत' तथा 'आधुनिक'—दोनों ही प्रकार के लेखनों के प्रभाव को परखना है । मैंने स्वयं घाना में लेखन के प्रभाव का निरीक्षण किया है और मेरिट ने यूरोपियन लेखन के न्यू गिनी आन्दोलनों पर प्रभाव का विश्लेषण किया है । लेकिन प्रत्येक लेखक ने समस्या पर कुछ भिन्न ढंग से विचार किया है । ताम्बिया ने थाईलैंड के एक गांव में साक्षरता के प्रभाव का विवरण दिया है । गफ़ ने भारत के एक अंचल का अध्ययन किया है । विल्क्स ने एक ऐसे समूह के बारे में विचार किया है जो साक्षरता

और व्यापार का विशेषज्ञ है और जो अफ्रीका में एशियाई महाद्वीप की शिक्षित जातियों के निकटतम है।

जिन समाजों पर विचार किया गया है उनमें लेखन का महत्व भिन्न-भिन्न है। लेकिन सोमाली जैसे पशुचारी लोगों में, या मैडा-गास्कर के मेरीना लोगों में, जो उन समाजों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनका साक्षर संस्कृतियों से संपर्क बहुत पहले से टूटा हुआ है, या पश्चिमी सूडान जैसे धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक मिश्रित क्षेत्रों में भी अध्ययन द्वारा यह पुस्तक सामाजिक जीवन को महत्वपूर्ण विशेषताओं को प्रस्तुत करती है क्योंकि यह वैयक्तिक तथा सामा-जिक आचरण का संदर्भ-बिन्दु है, विशेषतः उस ढंग के मौखिक व्यव-हार का जिसे हम 'प्रतीकात्मक', ऐन्द्रजालिक-धार्मिक, पौराणिक या सार्वभौम कहते हैं हालांकि यह वर्गीकरण कोई अधिक उपयुक्त नहीं है।

हर्बर्ट जब मैडागास्कर या अफ्रीका में शकुन-विद्याओं का विश्ले-षण प्रस्तुत करता है तो वह इस विद्या की कुछ ऐसी विशेषताओं की ओर इंगित करता है जो लिखित रूप में कानो से कलकत्ता तक और तानानारीव से समरकन्द तक व्याप्त हैं। यह ऐसी प्रतीकात्मक पद्धति है जिसका मिथकों, विश्वासों और जिनमें वह प्रचलित है उन लोगों के वर्गीकरणों से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह मान भी लिया जाय कि सभी समाजों में 'कट्टर' इस्लाम के प्रति समान रूप से प्रतिबद्धता थी और शकुन-विचार पद्धति में इस्लामी तत्वों को उनके द्वारा स्वीकार किया जाता था (जैसे खलीफाओं और देवदूतों के नाम तथा अल्लाह के पवित्र नाम) फिर भी, इन तत्वों में से अनेक (जैसे ९ खानों वाला वर्ग) का मूल बिल्कुल पृथक है और उनकी व्यापकता कहीं अधिक है जिससे वे गोंजा या हौज़ा की विशिष्ट प्रतीकात्मक पद्धतियों के उतने ही अधिक (या कम) अंग हैं जितना समूहों का गणितीय सिद्धान्त जापान या बेल्जियम की विशिष्ट विचारधारा का अंग है। ९ खानों वाले वर्ग का मूल न केवल इस्लाम-पूर्व काल में बैबीलोनिया में गणित के विकास से सम्बद्ध है, बल्कि वह चीन और भारत में भी उतना ही परिचित था। ९ की संख्या का महत्व अलग-अलग समाजों में अलग-अलग हो सकता

है लेकिन इन सभी देशों की गणित-शास्त्र सम्बन्धी गणनाओं में उसका एक जैसा निश्चिन स्थान है। इसी प्रकार ७ की संख्या का परिशुद्ध महत्व यूरेशिया और इस्लामी संसार में भिन्न है। लेकिन उसकी कुछ स्थिर विशेषताएं हैं जो किसी विशिष्ट समाज के पारंपरिक विश्वासों और कार्यों से केवल शिथिल ढंग से ही जुड़ी हुई हो सकती हैं। दुर्भाग्य से वृत्ति और संरचना की हमारी धारणाओं के कारण (जैसी कि वे सामान्यतः व्याख्यायित होती हैं) व्यवहार के किसी पक्ष की सामाजिक जीवन की शेष विशेषताओं से अनुक्रम-बद्धता की मात्रा का मूल्यांकन करने की गुंजाइश नहीं रह जाती।

साक्षरता के परिणाम

जैक गूडी और इयान वाट

मनुष्य जाति के अतीत और वर्तमान के विधिवत् अध्ययन के लिए स्वीकृत त्रिपक्षीय विभाग बहुत हद तक प्रथम तो मनुष्य द्वारा भाषा के विकास और फिर लेखन के विकास पर आधारित है। समय के परिप्रेक्ष्य में जब मनुष्य भाषा-प्रयोगी प्राणी बना तो उसका जैविक विकास प्रागैतिहास बन चुका था ; और जब उसने लिखना सीखा था तो मूल इतिहास आरंभ हुआ। लेकिन परिप्रेक्ष्य में विशुद्ध प्राणी के रूप में मनुष्य का अध्ययन मुख्यत: जीव विज्ञान का विषय है ; वाक्-शक्ति-युक्त प्राणी के रूप में मनुष्य प्रमुखतः मानव शास्त्रियों के अध्ययन का लक्ष्य है और लिखने-पढ़ने वाले प्राणी के रूप में मनुष्य का अध्ययन प्रधानत: समाजशास्त्री करता है।

यह भी स्पष्टत: उचित ही है कि अध्ययन संबंधी उक्त विभाजन सम्प्रेषण पद्धतियों पर आधारित है। भाषा के कारण ही मनुष्य को ऐसे सामाजिक गठन में सफलता मिली जिसकी जटिलता और व्याप्ति उसे पशु से पृथक करने वाली थी। पशुओं का सामाजिक गठन मुख्यत: नैसर्गिक वृत्ति से प्रेरित था और उसका सम्प्रेषण उत्पत्ति-मूलक था; मनुष्य द्वारा इस प्रकार का गठन सीख का परिणाम था और सांस्कृतिक दाय के रूप में मौखिक पद्धति द्वारा सम्प्रेषित होता था। पिछले दोनों विभाजनों का आधार लेखन का विकास भी सुस्पष्ट है। जिस हद तक लिखित साक्ष्य यथेष्ट मात्रा में मिलता है उसी हद तक प्रागैतिहासकार, इतिहासज्ञ के आगे झुक जाता है। और जिस हद तक वर्णमालात्मक लेखन तथा सार्वजनिक साक्षरता से सामाजिक संगठन और सम्प्रेषण के नये ढंग विकसित होते हैं, मानव विज्ञानी समाजशास्त्री के आगे नमित हो जाता है।

लेकिन ऐसा क्यों होता है ? और कैसे होता है ? इस जिज्ञासा के बारे में कोई सहमति नहीं पाई जाती, न इस संबंध में मतैक्य है कि निरक्षर और साक्षर संस्कृतियों की विभाजक-रेखाएं वास्तव में क्या हैं। चित्र-लिपियों या अन्य दृश्य चिन्हों के विकास की किस मंजिल में पहुँचकर हम 'अक्षरों,' अथवा साक्षरता के अस्तित्व की बात उठायें ? और समाज का कितना भाग लिखना-पढ़ना सीख ले जिससे उसकी संस्कृति को साक्षर कहा जा सके ?

ये अनेक कारणों में से कुछ हैं जिनको ध्यान में रखकर यह कहना कठिन हो जाता है कि मानव विज्ञान और समाजशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र या पद्धतियाँ अलग-अलग हैं। और यह कठिनाई न केवल दोनों विषयों की सीमाओं के बारे में है बल्कि उनकी विषय-वस्तु की प्रकृति में तात्विक अंतर के बारे में भी है। हाल की प्रवृत्ति यह रही है कि मानव विज्ञानियों ने अपना अध्ययन-क्षेत्र बढ़ाया है और अपने समाज विज्ञानी बन्धुओं के साथ-साथ औद्योगिक समाजों का भी अध्ययन आरंभ किया है। अब यह विचार मान्य नहीं रह गया है कि मानव विज्ञानी का उद्देश्य केवल प्रागैतिहास कालीन मनुष्य का अध्ययन है जिसकी विशेषता उसका 'आदिम मन' है जबकि समाज-शास्त्री सभ्य मनुष्य को अपने अध्ययन का लक्ष्य बनाता है जिसके क्रिया-कलापों का मार्ग-दर्शन 'विवेक बुद्धि' द्वारा और संपुष्टि 'तार्किक-आनुभविक पद्धतियों' द्वारा होती है। लेकिन इस प्रकार के मानव-केन्द्रित विचारों के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने अब इतना एकांगी रूप ग्रहण कर लिया है कि इस बात से भी इन्कार किया जाने लगा है कि साक्षर और असाक्षर समाजों में कोई महत्व का अन्तर है। यह स्थिति हमारे व्यक्तिगत अनुभव के विरुद्ध है। और इसीलिए साक्षर और असाक्षर समाजों से सम्बद्ध कुछ ऐतिहासिक तथा विश्लेषणात्मक समस्याओं पर पुनर्विचार लेना कर असंगत नहीं होगा।

असाक्षर समाजों की सांस्कृतिक परम्पराएं

कुछ कारणों से, जो स्वतः स्पष्ट हो जायेंगे, यह उचित होगा कि हम उन तरीकों के सामान्य विवरण से बात शुरू करें जिन से असाक्षर समाजों में सांस्कृतिक दाय का सम्प्रेषण होता है और फिर

यह देखें कि लिखित सम्प्रेषण की किसी भी आसान और प्रभावशाली पद्धति को अपनाने के फलस्वरूप उन तरीकों में क्या परिवर्तन होता है।

जब एक पीढ़ी अपना दाय दूसरी पीढ़ी को सौंपती है तो तीन प्रक्रियायें अभिनिहित होती हैं। प्रथम, समाज अपने भौतिक उपकरण सौंपता है जिनमें वह प्राकृतिक संपदा भी होती है जो उसके सदस्यों को मिली है। द्वितीय, वह कार्य-कलाप की मानक पद्धतियों को सौंपता है। आचरण के ये स्वाभाविक तरीके केवल अंशतः मौखिक साधनों द्वारा सौंपे जाते हैं : खाना पकाने का ढंग, फसल उगाने की विधि और शिशु-पालन के उपाय आदि प्रत्यक्ष अनुकरण द्वारा हस्तांतरित होते हैं। लेकिन किसी भी मानवीय संस्कृति के सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व निस्संदेह शब्दों द्वारा सौंपे जाते हैं और उन विशिष्ट अर्थों एवं प्रवृतियों में निहित होते हैं जो कि किसी समाज के सदस्य मौखिक प्रतीकों में आरोपित करते हैं। इन तत्वों के अंतर्गत न केवल वे सब बातें होती है जिन्हें हम प्रथागत आचरण कहते हैं बल्कि प्रत्येक सामाजिक समूह के देश और काल संबंधी विचार, सामान्य लक्ष्य और आकांक्षाएं आदि भी होती हैं। डर्कहाइम के शब्दों में, इस वर्ग की धारणाएं 'चिन्तन के बहुमूल्य उपकरण होते हैं जिन्हें मानव-समूहों ने शताब्दियों में परिश्रमपूर्वक गढ़ा है और जो उनकी सर्वोत्तम बौद्धिक पूँजी है।' एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक समझ की इस पूँजी का प्रायः अटूट हस्तांतरण भाषा द्वारा सुनिश्चित बनता है जो किसी समूह के सामाजिक अनुभवों की सबसे अधिक प्रत्यक्ष और व्यापक अभिव्यक्ति है।

संस्कृति के मौखिक तत्वों का मौखिक साधनों द्वारा हस्तांतरण किसी समूह के सदस्यों द्वारा परस्पर ग्रथित संभाषणों की लम्बी शृंखला का चित्र उपस्थित करता है। इस प्रकार सभी आस्थाएं और मूल्य, सभी प्रकार का ज्ञान आमने-सामने के वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा संप्रेषित होता है और सांस्कृतिक परंम्परा के भौतिक उपकरणों से, जैसे गुफा-चित्र या कुल्हाड़ियाँ, पृथक वह मानव-स्मृति में ही संचित होता है।

मौखिक सम्प्रेषण के तात्विक स्वरूप का काफी प्रभाव सांस्कृतिक

रंगपटल की प्रकृति और हस्तांतरण दोनों ही पर पड़ता है। प्रथम तो उसके द्वारा प्रतीक और अभिहित अर्थ में सीधा संबंध स्थापित होता है। शब्दकोषीय परिभाषाओं के लिए इस सम्प्रेषण-पद्धति में कोई स्थान नहीं होता और न शब्द इतिहास द्वारा निरूपित अनेक अर्थ ग्रहण करते जाते हैं जो साक्षर संस्कृति की विशेषता है। इसकी जगह प्रत्येक शब्द की संपुष्टि मौखिक ध्वनियों और शारीरिक चेष्ठाओं के साथ यथार्थ परिस्थितियों की तारतम्यता में होती चलती है और ये सब समेकित रूप में शब्दों को विशिष्ट स्वर तथा प्रयोग-सिद्ध स्वीकृति अर्थ देते चलते हैं। अर्थ-तात्विक संपुष्टि की यह प्रक्रिया समेकित ढंग से चलती है और परिणामस्वरूप किसी ऐकान्तिक मौखिक संस्कृत के अन्तर्गत व्यक्ति द्वारा प्रतीक तथा अर्थ के समग्र संबंध को अधिक तात्कालिकता से हृदयंगम किया जाता है अतः वह अधिक गहराई के साथ समाजीकृत होता है।

इसे स्पष्ट करने का एक तरीका यह है कि इस बात पर विचार किया जाय कि किसी असाक्षर समाज में इस अर्थ-संपुष्टि को शब्दावली का विस्तार किस प्रकार प्रतिबिम्बित करता है। अक्सर यह देखा गया है कि किस प्रकार ऐसे समाज में शब्दावली उसके सदस्यों के विशिष्ट हितों से प्रभावित होती है। प्रशान्त महासागर स्थित द्वीप लेसू के निवासी सुअर के लिए लगभग एक दर्जन अलग-अलग शब्दों का प्रयोग करते हैं जो इस पशु के लिग, रंग, मूलस्थान आदि की अभिव्यक्ति करते हैं। समानार्थकों की इस बहुतायत का उपप्रमेय यह है कि जब किसी जगह भौतिक अथवा अन्य लाभ निहित नहीं होते तो शाब्दिक विकास भी नगण्य होता है। मैलीनोव्स्की ने बताया है कि ट्रोब्रायंड्स में बाह्य विश्व का नामकरण इसी दृष्टि से किया गया कि उससे कुछ मोटे लाभ प्राप्त होते थे। इस विचार की पुष्टि के लिए और भी प्रमाण हैं कि असाक्षर समाजों में भाषा का कार्यात्मक अनुकूलन पाया जाता है। यह स्थिति न केवल अपेक्षाकृत सरल और यथार्थ-परक प्रतीकार्थों के मामले में सही है बल्कि समझ के अधिक सामान्य स्तरों तथा समग्रतः सांस्कृतिक परंपरा के लिए भी।

कार्यात्मक शब्दावली का एक उदाहरण उत्तरी घाना के

लोडाग्गा लोगों की भाषा से दिया जा सकता है। वे दिन की गणना पड़ोस में लगने वाली हाट के संदर्भ में करते हैं । उनकी भाषा में दिन और हाट के लिए वस्तुतः एक ही शब्द का प्रयोग होता है । साप्ताहिक चक्र छै दिन का होता है जो पड़ौस की सबसे महत्वपूर्ण हाटों के दिनों का सूचक है । वह प्रति दिन के कार्य-कलापों के क्षेत्र-विस्तार का भी संकेत करता है ।

मौखिक संस्कृति के अन्तर्गत ये सब विभिन्न व्यवस्थाएं जिस प्रकार परस्परावलंबी होती हैं उनका साक्षर और असाक्षर समाजों में अन्तर से सीधा संबंध है । जैसाकि हम कह चुके हैं, मौखिक सस्कृतियों के अन्तर्गत भौतिक उत्तराधिकार के अलावा सामाजिक परम्परा का सम्पूर्ण दाय स्मृति में सुरक्षित रहता है। समाज शास्त्रियों और मनोविज्ञानवेत्ताओं ने स्मरण की प्रक्रिया के सामाजिक पहलुओं पर बल दिया है । व्यक्ति जिस चीज को याद रखता है वह उसके प्रमुख सामाजिक सम्बन्धों के अन्तर्गत अत्यधिक महत्व की होती है । इसलिए प्रत्येक पीढ़ी में स्मरणशक्ति सांस्कृतिक दाय के प्रति ऐसे मध्यस्थ का काम करेगी जो 'तार्किकता' अथवा 'आशय के लिए प्रयास' कही जाने वाली व्याख्यात्मक पद्धतियों द्वारा नये और पुराने में समन्वय करे और प्राचीन के अन्तर्गत जो कुछ भी वर्त मान में संगत नहीं है उसका, विस्मरण-प्रक्रिया द्वारा त्याग करे ।

इस प्रकार स्मरण और विस्मरण को एक प्रकार से असाक्षर समाजों में सांस्कृतिक परंपरा के सम-स्थायित्व का अन्तिम चरण कहा जा सकता है। समुदाय के अनुभवों से निकट सम्पर्क के फल-स्वरूप भाषा विकसित होती है और उसे व्यक्ति प्रत्यक्ष सम्पर्क द्वारा अन्य लोगों से सीखता है । जो कुछ भी सामाजिक दृष्टि से संगत है वह स्मृति-कोष में सुरक्षित होता जाता है और शेष विस्मृत होता जाता है । सामाजिक आत्मसात्करण और बहिष्करण की इस महत्वपूर्ण प्रक्रिया का प्रभावशाली माध्यम भाषा—मुख्यतः शब्दा-वली है।

असाक्षर समाजों में इन आत्मसात्कारी प्रक्रियाओं के महत्व की ओर ध्यान दिलाते हुए हम न तो सामाजिक परिवर्तन की गति-विधियों को नकार रहे हैं न उन 'अवशेषों' को जो इस परिवर्तन के

दौरान बच रहते हैं। हम मौखिक संस्कृतियों की स्मरण-पद्धतियों के अस्तित्व की भी उपेक्षा नहीं कर रहे जो व्याख्यात्मक प्रक्रिया के लिए कुछ हद तक अवरोधक होती हैं। संभाषण की औपचारिक विधियां, आनुष्ठानिक परिस्थितियों में प्रस्तुति, नगाड़ों तथा अन्य वाद्य-यंत्रों का प्रयोग, व्यावसायिक स्मरण-कर्त्ताओं का नियोजन—इन सभी बातों के कारण स्मृति-कोष के कम से कम कुछ अंश पर वर्तमान के तात्कालिक दबाव का परिवर्तनकारी प्रभाव नहीं पड़ता।

लेकिन इन सीमाओं के साथ मौखिक समाजों में सांस्कृतिक परंपरा के सम्प्रेषण को समस्थायी कहा जा सकता है। वह साक्षर समाजों की संस्कृतियों से इन अर्थों में भिन्न होता है। कुछ उदाहरणों से यह बात और स्पष्ट हो जाएगी कि किस प्रकार आदिम अतीत को वर्तमान का सामुदायिक नवीकरण पचा लेता है।

बादुई अरबों और ओल्ड टेस्टामेंट के हेब्रू लोगों की भांति नाइजीरिया के टिव लोग अपने पूर्व पुरुषों की लंबी वंशावलियाँ रखते हैं। ये अतीत में १२ पीढ़ियों तक, जबकि वंश का अज्ञात व्यक्ति द्वारा सूत्रपात हुआ था, जाती हैं। न ये वंशावलियाँ और न बाइबिल की आदम के परवर्तियों की सूचियाँ केवल स्मरण-शक्ति के चमत्कार-प्रदर्शन के लिए याद रखी जाती थीं। वे सामाजिक संबंधों की प्रणालियों के लिए स्मृति-सहायक के रूप में थीं। जब जैकब ने अपनी मृत्युशैया पर अपने बारह पुत्रों के लिए भविष्यवाणी की थी तो उसने उन्हें इस्राइल के बारह कबीले या राष्ट्र कहा था। उत्पत्ति ग्रन्थ में दिए गए विवरण से प्रतीत होता है कि उसमें उल्लिखित वंश-सारणियों का संबंध मृत व्यक्तियों से न होकर तत्कालीन समूहों से था। इन सारणियों का उद्देश्य सम्भवतः इस्राइल के बारह कबीलों के मध्य सामाजिक सम्बन्धों का नियमन था।

आरंभिक ब्रिटिश शासकों को ज्ञात था कि नाइजीरिया के टिव लोग वंशावलियों को कितना महत्व देते हैं। इसीलिए जब कभी अदालतों में ऐसे मामले पेश होते थे जिनमें व्यक्तियों के कर्तव्यों और दायित्वों का निर्णय अपेक्षित होता था तो इन वंशावलियों पर विचार किया जाता था। इन्हें लिपिबद्ध भी कराया गया जिससे

भविष्य में न्यायाधीशों को सहूलियत रहे। चालीस वर्ष बाद जब उस क्षेत्र में मानव-विज्ञान संबंधी कार्य चल रहा था तो वहाँ के निवासी इन वंशावलियों को काम में ला रहे थे । लेकिन लिखित वंशावलियों को लेकर विवाद भी कम नहीं हुए । अधिकारी उन्हें सही मानकर चलते थे जबकि टिव लोगों का कहना था कि वे अशुद्ध हैं। अधिकारियों का तर्क यह था कि निरक्षर निवासी उतने सही नहीं हो सकते जितने उनके साक्षर पूर्वज थे। लेकिन दोनों ही पक्ष यह बात न समझ सके कि परिवर्तन अवश्यंभावी होते हैं जिनका वंशावलियों में समाहार आवश्यक होता है क्योंकि इसी अटूट क्रम के द्वारा वे सामाजिक सम्बन्धों की स्मृति सहायिकाओं के रूप में उपयोगी हो सकती हैं।

ये परिवर्तन कई प्रकार के होते हैं और इनके पीछे कर्मचारी-वर्ग में उलट-फेर, 'जन्म,मैथुन और मृत्यु', किसी समूह के निर्गम या विघटन के कारण समाज की संघटक इकाइयों का पुनर्गठन और स्वयं समाज-व्यवस्था में फेर-बदल आदि बातें होती हैं। इस प्रकार की फेर-बदल आन्तरिक कारणों से भी हो सकती है और बाह्य प्रभावों से भी। अधिकारियों द्वारा जब लिखित वंशावलियों को ही सही माना गया था तो इन परिवर्तनों की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। इनके कारण वंशावलियों में भी परिवर्तन हो जाना गलत या अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इन परिवर्तनों को मोटे तौर पर तीन भागों में बांटा जा सकता है : पीढ़ीगत, संगठनात्मक और व्यवस्थात्मक।

यह सुस्पष्ट है कि एक के बाद दूसरी पीढ़ी में वंशावली भी पहले से अधिक लम्बी होती जाती है। दूसरी ओर वह जिस जनसंख्या से सम्बद्ध है उसकी वृद्धि की दर भिन्न हो सकती है। यह भी हो सकता है कि वृद्धि की बजाय जनसंख्या वही की वही रहे और केवल पुरानों की जगह नये लोग ले लें। इस प्रकार वंशावली में लगातार वृद्धि के बावजूद हो सकता है कि वह उतनी ही संख्या में निवासियों से सम्बद्ध हो जितनी कि ५० या सौ या दो सौ वर्ष पूर्व थी। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि नये जन्मों से वंशों में जो

अतिरिक्त गहराई आई हो उसके अनुरूप वंशावली में भी क्षीणता आनी चाहिए।

इसी प्रकार का समायोजन संगठनात्मक परिवर्तनों के संदर्भ में भी आवश्यक है। उत्तरी घाना में गोंजा राज्य के कई विभागीय क्षेत्र हैं जो सरदारों के अधीन हैं। इन में से कुछ क्षेत्रों के सरदार बारी-बारी से पूरे देश के शासक होते हैं। इसका कारण पूछने पर गोंजाओं ने बताया कि किस प्रकार राज्य के संस्थापक एनदेवूरा जाकपा ने सोने की खोज में नाइजर मोड़ से आकर उस क्षेत्र के लोगों को विजित बनाया और अपने आप को सभी क्षेत्रों का प्रमुख शासक घोषित किया। उसकी मृत्यु के बाद बारी-बारी से क्षेत्रीय सरदार शासक होने लगे। जब यह वृत्तान्त इस शताब्दी के आरंभ में लिखा गया तो ब्रिटिश शासक उस प्रदेश में अपने शासन का विस्तार कर रहे थे। उस विवरण के अनुसार जाकपा के सात पुत्र बताए गए। यह संख्या उन सात क्षेत्रों के बराबर थी जिनके मुखिया सर्वोच्च शासक बनने के अधिकारी माने जाते थे। लेकिन जब ब्रिटिश लोग वहाँ पहुँचे तब सात में से दो क्षेत्र लुप्त हो चुके थे। इन में से एक क्षेत्र को उसके पड़ोसी क्षेत्र ने मिला लिया था क्योंकि उसके शासक ने एक आक्रमणकारी का साथ दिया था और दूसरे क्षेत्र का लोप ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा सीमा सम्बन्धी कुछ परिवर्तन के परिणामस्वरूप हुआ। साठ वर्ष बाद जब उस राज्य की गाथाओं को फिर लिपिबद्ध किया गया तो जाकपा के पाँच बेटे ही बताए गए और उन दो क्षेत्रों के संस्थापकों के नामों का उल्लेख नहीं किया गया जो लुप्त हो चुके थे।

इन दो उदाहरणों से स्पष्ट है कि वंशावलियाँ प्रायः वही काम करती हैं जो मिथक करते हैं। वे अतीत के विशुद्ध ऐतिहासिक आलेखों के बजाय वर्तमान सामाजिक व्यवस्थाओं के 'घोषणापत्रों' के रूप में होती हैं। वे यह कार्य अधिक स्थायित्व के साथ कर सकती हैं क्योंकि वे लिखित की बजाय मौखिक परंपरा के अंतर्गत सक्रिय रहती हैं और इस प्रकार जैसे-जैसे मौखिक पद्धति द्वारा सामाजिक परिवर्तन एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुँचाये जाते हैं, वंशावलियों में भी स्वतः परिवर्तन-परिवर्द्धन होता रहता है। यह

परिवर्तन सम्प्रेषण के क्रम में होता चलता है, जैसे कि मिथकों या सांस्कृतिक रंगपटल के अन्य संघटकों के मामले में होता है, क्योंकि जो तत्व अपना महत्व खो चुके होते हैं उन्हें विस्मृत कर दिया जाता है।

इस प्रवृत्ति का एक सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह होता है कि व्यक्ति के अतीत का आभास केवल वर्तमान के ही सन्दर्भ में हो पाता है जबकि साक्षर समाज के इति-वृत्तों में अतीत और वर्तमान में अन्तर का वस्तु-परक विवरण अवश्य ही होता है। फ्रेंज़ बोआस ने लिखा है कि एस्किमों लोगों के लिए विश्व उससे अधिक कुछ नहीं है जो वह आज है। टिव लोग आज जो कुछ देखते हैं और पचास वर्ष पूर्व जो देखते थे उसमें उन्हें कोई विरोधाभास नहीं दिखाई देता क्योंकि उनके यहाँ ऐसा कोई स्थायी आलेख नहीं है जिसके आधार पर वे अपने वर्तमान विचारों को बदल सकें। मिथक और इतिहास यहां एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं: सांस्कृतिक दाय के अन्तर्गत जो तत्व वर्तमान परिस्थितियों में संगत नहीं रह गए हैं वे या तो भुला दिए जाते हैं या परिवर्तित हो जाते हैं और प्रत्येक पीढ़ी के व्यक्ति को अपनी शब्दावली, वंशावली तथा मिथक उपलब्ध करने के क्रम में यह आभास तक नहीं होता कि कतिपय शब्द, संज्ञाएँ तथा मिथक पीछे छूट गए हैं या स्थानान्तरित हो गए हैं या उनके अर्थ बदल गए हैं।

लेखन के प्रकार और उनका सामाजिक प्रभाव

इस प्रकार अतीत का आभास ऐतिहासिक संवेदनशीलता पर निर्भर करता है जो स्थायी लिखित वृत्तान्तों के बिना उपलब्ध नहीं हो सकती। इसी प्रकार सांस्कृतिक रंगपटल के अन्य अंगों के विषय में भी लेखन इसी प्रकार के संप्रेषणीय परिवर्तन ले आता है। लेकिन इस परिवर्तन की मात्रा लेखन-पद्धति की प्रकृति और सामाजिक वितरण द्वारा निर्धारित होती है। जिस हद तक लेखन-पद्धति संप्रेषण के लिए सक्षम होती है अथवा उस पर सामाजिक अंकुश होता है या समाज में उसकी व्याप्ति होती है उसी हद तक परिवर्तन भी घटित होता है।

मनुष्य ने प्रागैतिहास काल के आरंभ में ही दृश्य रूपों में अपने आप को अभिव्यक्त करना आरंभ कर दिया था। रूप विधान की दृष्टि से और संभवतः समय-क्रम के अनुसार भी गुफा चित्र और लकड़ी पर नक्क़ाशी लेखन की दिशा की ओर पूर्व-चरण हैं। सरलीकरण और शैली की किसी प्रक्रिया द्वारा वे विभिन्न प्रकार की चित्र-लिपियों में, जो आदिम समाजों में पाई जाती हैं, परिणत हो गए। चित्रलिपियाँ प्रायः विश्व में सभी जगह पाई जाती हैं परन्तु उनका किसी संवाद के लिए यथेष्ट विकास मैदानी क्षेत्रों के भारतीयों के बीच ही हुआ।

संप्रेषण के माध्यम के रूप में चित्रलिपियाँ स्पष्टतः असुविधा-जनक होती हैं। प्रथम तो संस्कृति के अंतर्गत सभी वस्तुओं का संकेत करने के लिए बहुत अधिक संख्या में चिन्हों की आवश्यकता होती है। दूसरे चूँकि चिन्ह ठोस होते हैं अतः सादे से सादे वाक्यों के लिए भी अत्यधिक जटिल चिन्ह-शृंखला की आवश्यकता होती है। यह बताने के लिए कि अमुक व्यक्ति अमुक स्थान कुछ दिन पहले छोड़ कर चला गया है, शिरस्त्राणों, पदचिन्हों, टोटेमी पशुओं आदि के अनेक प्रतिनिधि प्रतीकों का संयोजन करना होता है। और यह पद्धति चाहे कितनी ही विकसित की जाय, केवल कुछ ही बातें इसके द्वारा कही जा सकती हैं।

ईसा पूर्व की चौथी सहस्राब्दि के अंत तक लेखन के अधिक संश्लिष्ट रूपों का विकास आरंभ हुआ। यह संभवतः पूर्व में नागरी संस्कृतियों के उत्थान का परिणाम था। इन पद्धतियों के अन्तर्गत अधिकांश चिन्ह केवल बाह्य जगत के चित्र थे : वे विशिष्ट शब्दों द्वारा संकेतित वस्तुओं का मानकीकृत प्रतिनिधित्व करते थे। इनके साथ अन्य उपायों द्वारा शब्द-चिन्ह निकाले गए जिससे अर्थ की और व्याप्ति संभव हो सकी।

शब्द-चिन्हों के पूरक के रूप में प्रयुक्त मूल आविष्कार स्वन-सिद्धान्त था जिसकी सहायता से पहली बार किसी भाषा के सभी शब्दों की लिखित अभिव्यक्ति सम्भव हुई। विशेष रूप से वैयक्तिक नामों और विदेशी शब्दों को लिखित रूप देने की आवश्यकता द्वारा लेखन में स्वनिक तत्वों के विकास को प्रोत्साहन मिला।

लेकिन यद्यपि इन लेखन पद्धतियों के अंतर्गत चित्रलिपि के लिए स्वनिक युक्तियों का प्रयोग किया जाता था (और इसीलिए इन्हें लेखन की शब्दाक्षरी पद्धतियाँ कहा जाता है) वे स्वन-सिद्धान्त का ऐकान्तिक तथा व्यवस्थित उपयोग नहीं कर सकीं। एक ऐसी पद्धति की उपलब्धि, जो ध्वनि-ग्रामों के चित्रण पर पूर्णतः निर्भर हो, निकट पूर्वीय अक्षर-पद्धतियों द्वारा ही की जा सकी। यह पद्धति ई० पू० १५००-१००० के बीच विकसित हुई और अंततः ग्रीस में वर्णमाला की शुरूआत हुई। इस बीच जो भी अधूरी स्वनिक पद्धतियाँ थीं वे अपनी जटिलता और अप्रियता के कारण व्यापक साक्षरता प्रसार में असमर्थ रहीं। इसका और कारण न भी रहा हो तो भी चिन्हों के अत्यन्त आधिक्य के कारण बाधा उत्पन्न हुई। उदाहरण के लिए असीरिया की सरलीकृत कीलाक्षर पद्धति और मिस्र की चित्रलिपि पद्धति में भी कम से कम छः सौ चिन्हों को सीखे बिना काम नहीं चल सकता था। सुमेरियन, मिस्री, हिटाइट और चीनी—ये सभी प्राचीन सभ्यताएँ एक प्रकार से साक्षर थीं और उनमें टेक्नोलौजी तथा प्रशासन के क्षेत्रों में जो उल्लेखनीय प्रगति हुई वह निस्संदेह एक प्रकार की लेखन पद्धति के आविष्कार के कारण। लेकिन जब हम अपने समय में संप्रेषण की सुविधाओं की तुलना में उनकी सम्प्रेषण पद्धतियों की सीमाओं और कठिनाइयों पर विचार करते हैं तो उन सभ्यताओं की साक्षरता को सार्वजनिक की बजाय 'आदि साक्षरता' या 'कुल-तंत्रीय साक्षरता' कहना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार यह संकेतित हो जाता है कि उस काल में साक्षरता कुल जनसंख्या के एक छोटे से भाग तक ही सीमित थी। लेखन की कोई भी पद्धति, जिसमें चिन्ह सीधे-सीधे किसी वस्तु के लिए प्रयुक्त होता है, अवश्य ही अत्यन्त जटिल होगी। इस पद्धति में अर्थ-व्याप्ति या तो साधारणीकरण या वैचारिक साहचर्य द्वारा लाई जा सकती है। कोई चिन्ह या तो अधिक सामान्य वर्ग की वस्तुओं और गुणों का द्योतक हो सकता है या ऐसे सन्दर्भों का जो मूल चित्र से सम्बद्ध अन्य वस्तुओं के बारे में हों और जो किसी न किसी रूप में परस्पर ग्रथित हों। अर्थ-व्याप्ति की इन

पद्धतियों में से हरेक कुछ हद तक निरंकुश और अस्पष्ट है। और इसीलिए चिन्हों की व्याख्या न तो आसान होती है, न सुस्पष्ट। हम अनुमान ही लगा सकते हैं कि 'पुरुष' के लिए प्रयुक्त चीनी लिपि का चिन्ह पौरुष के सामान्य अर्थ का भी द्योतक होगा। लेकिन अगर एक मनुष्य और एक झाड़ू का चिन्ह हो तो यह अनुमान लगा पाना कठिन होगा कि वह स्त्री का द्योतक है। ऐसा अनुमान एक सुखद कल्पना अवश्य है परन्तु जब तक हम उस चिन्ह को पृथक अक्षर के रूप में, या चित्रलिपि के रूप में सीख नहीं लेते, उसमें अभिहित अर्थ-सम्प्रेषण हो पाना आसान नहीं होगा। चीनी लेखन के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को पर्याप्त रूप में साक्षर होने के लिए कम से कम ३ हजार ऐसे चिन्हों को सीखना पड़ता है। उसे यदि उस भाषा का विशेषज्ञ होना है तो ऐसे कम से कम ५० हजार चिन्हों को सीखना होगा। अतः साक्षरता के क्षेत्र में पूर्ण प्रवीणता प्राप्त करने में व्यक्ति को कम से कम २० वर्ष लग जाते हैं। इस प्रकार चीन का उदाहरण एक ऐसी स्थिति का द्योतक है जबकि कोई गैर-स्वनिक लेखन पद्धति इतनी विकसित तो हो जाती है कि वह बहुसंख्यक अर्थ स्पष्टतः व्यक्त कर सके, तथापि सम्पूर्ण समाज में एक छोटा सा और विशेष रूप से प्रशिक्षित समूह ही उसमें प्रवीणता प्राप्त कर सकता है और साक्षर संस्कृति का भागीदार हो सकता है।

शब्द चिन्हों को सीखना निस्संदेह अधिक सरल होता है; फिर भी अनेक कठिनाइयाँ शेष रह जाती हैं भले ही उन चिन्हों के पूरक के रूप में स्वनिक युक्तियों द्वारा एक प्रकार की अक्षर पद्धति का बिकास हो चुका हो। लेखन प्रणालियों के इस प्रकार के विकसित होने के लिए अवश्य ही समाज व्यवस्था की अन्य बातें उत्तरदायी हैं। लेकिन यह उल्लेखनीय तथ्य है—जिसका जो भी कारण रहा हो—कि चीन की भाँति मिस्र और मेसोपोटामिया में भी धार्मिक, प्रशासकीय और व्यावसायिक क्षेत्रों में साक्षर बौद्धिक समूहों का उदय हुआ और केन्द्रीकृत प्रशासनिक राज्याधिकारी वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित रहा। निस्संदेह उसकी सामाजिक और बौद्धिक उपलब्धियाँ उच्च कोटि की थीं। लेकिन जहाँ तक लिखित संस्कृति

में समाज के समग्र रूप में भागीदार होने का प्रश्न है, गुह्य साक्षर सभ्यता और लोक-प्रचलित असाक्षर सभ्यता के बीच काफी अन्तर बना रहा, जिसे बनाये रखने में साक्षरों ने दिलचस्पी ली। सुमेरियनों और अक्काडियों के बीच लेखन एक 'रहस्य' था, एक 'गुप्त खज़ाना' था जिस तक लेखकों की ही पहुँच थी। स्वयं शाही परिवार के लोग असाक्षर होते थे। अशुरबनिपाल (६६८-६२६ ई० पू०) ने लिखा है कि वह बेबीलोन का पहला शासक था जिसने 'क्लर्कों की प्रवीणता' को सीखा। एक प्राचीन मिस्रवासी का कथन था कि 'अपने दिल में लेखन को बसा ला जिससे तुम किसी भी प्रकार के शारीरिक श्रम से बच सको।' और यह भी कि 'लेखक शारीरिक श्रम से मुक्ति पा जाता है; वह केवल आदेश देता है।' यह महत्वपूर्ण बात है कि बेबीलोनियन संस्कृति का स्वर्णकाल वह था जब कि अक्काडी कीलाक्षरों का लेखन और पठन केवल छोटे समूहों या किसी एक राष्ट्र में सीमित नहीं था। ऐसी ही परिस्थिति में वह सब साहित्य लिखा गया जो आज भी पाया जाता है और वाणिज्य तथा प्रशासन की सक्रिय स्थिति के कारण जो भी निजी या सरकारी लिखा-पढ़ी लिपिबद्ध की गई उसका अधिकांश भी आज उपलब्ध है।

लेखन की ये अपूर्ण स्वनिक पद्धतियाँ कई शताब्दियों तक यथावत् प्रचलित रहीं और वे संस्कृतियाँ भी चलती रहीं जिनका वे प्रतिनिधित्व करती थीं। लेखन प्रणाली की कठिनाइयों के कारण जिस बौद्धिक समुदाय का उदय हुआ और जिसका अस्तित्व तत्कालीन समाज व्यवस्था यथावत् बनाये रखने पर निर्भर करता था, अवश्य ही एक शक्तिशाली रूढ़िवादी समूह रहा होगा, विशेषतः इसलिए कि उसके अन्तर्गत आनुष्ठानिक विशेषज्ञ होते थे। और उतनी ही शक्तिशाली रूढ़िवादी प्रकृति लेखन पद्धति की भी रही होगी क्योंकि चाहे चित्रात्मक पद्धति हो या शब्द-चिन्हात्मक, दोनों की ही प्रवृत्ति यह है कि वे प्राकृतिक और सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही वस्तुओं को मूर्त रूप देना चाहती हैं और इस क्रम में वर्तमान सामाजिक और वैचारिक ढाँचे का आलेख प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसे स्थायी भी बनाती हैं। उदाहरण के लिए एक

सबसे अधिक विकसित और टिकने वाली प्रचान मिस्री लेखन पद्धति को लिया जा सकता है जिसके द्वारा अत्यन्त विशद ढंग से मिस्र के प्राचीन समाज का चित्रण हुआ है।

किसी लेखन-पद्धति की इस रूढ़िवादी या प्राचीनतावादी रुझान को समझने के लिए सर्वोत्तम ढंग, पूर्णतः स्वनिक लेखन से उसकी तुलना करना होगा। स्वनिक लेखन पद्धति मानव सम्भाषण का अनुकरण करने के कारण सामाजिक और प्राकृतिक व्यवस्था की वस्तुओं का संकेतन न कर के वाक्-शक्ति द्वारा मानवीय अन्तर्क्रिया को ही पद्धति को मूर्तरूप देती है। उसके अन्तर्गत क्रिया को समझना उतना ही सरल है जितना संज्ञा को और लिखित शब्दावली आसानी से और सुस्पष्ट ढंग से व्यापकतर बनाई जा सकती है। इस प्रकार स्वनिक पद्धतियाँ मानव चिन्तन के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को भी अभिव्यक्त करने में सक्षम होती हैं और साथ ही वैयक्तिक सम्बन्धों एवं प्रमुख सामाजिक महत्व के विषयों का लेखन भी सम्भव बनाती हैं। दूसरी ओर, गैर-स्वनिक लेखन सांस्कतिक रंगपटल के उन्ही विषयों का लेखन या मूर्तन करने में प्रवृत्त होता है जिनका चुनाव साक्षर विशेषज्ञों ने लिखित अभिव्यक्ति के लिए किया हो। इस प्रकार ऐसा लेखन प्रायः उनके सामूहिक दृष्टिकोण को ही व्यक्त करता है।

किसी स्वर को दृश्य चिन्ह द्वारा व्यक्त करने का विचार अपने आप में कल्पना की इतनी ऊँची उड़ान का परिचायक है कि आश्चर्यजनक यह नहीं है कि यह विचार मानव-इतिहास के क्रम में काफी देर बाद आया बल्कि यह है कि आखिरकार ऐसा विचार किसी के मन में उठा तो। लेकिन काफी समय तक इन स्वनिक अविष्कारों का सीमित उपयोग ही होता रहा क्योंकि उन्हें अंशतः ही ग्रहण किया गया। ध्वनि को व्यक्त करने के लिए न केवल कीलाक्षरों और चित्र-लिपियों का प्रयोग जारी रहा बल्कि एक ही ध्वनि के लिए अनेक ध्वनि-संकेतों को भी काम में लाया गया। इस लिए स्वनिक पद्धति जैसी सरल और सुस्पष्ट पद्धति का पूरा उपयोग उन कम विकसित समाजों द्वारा अधिक सम्भव था जो मिस्र या मैसोपोटामिया के पड़ोस में स्थित थीं। इस निकटता के कारण जिन समाजों को आरम्भ से ही कोई लेखन-पद्धति चुनने की आवश्यकता

हुई उन्होंने ध्वनिक चिन्हों का विचार ग्रहण किया और उसे ऐकान्तिक रूप में अपनी भाषाओं के अनुरूप ढाल लिया। ये ध्वनिक चिन्ह ध्वनि की किसी भी इकाई के लिए प्रयुक्त हो सकते थे, अतएव उन्हें अक्षरमाला के रूप में भी विकसित किया जा सकता था और वर्णमाला के रूप में भी। कुछ मामलों में, जैसे जापान में, भाषा की विशेष प्रकृति के कारण एक अपेक्षाकृत सरल और अच्छी अक्षरमाला विकसित करना सम्भव था। लेकिन अधिकांश अन्य भाषाओं के लिए ध्वनियों को व्यक्त करने के सुगम साधन के रूप में अलग-अलग स्वरों और व्यंजनों के लिए अलग-अलग चिन्हों से युक्त वर्णमाला ही कहीं अधिक उपयुक्त प्रतीत हुई। कारण यह था कि अक्षर-माला से लेखन क्रिया सरलतर होने के बावजूद उसमें सुगमता नहीं आ पाई : उसे प्राय कीलाक्षरों और चित्रलिपियों के साथ मिला दिया जाता था। और ऐसा चाहे आवश्यकता के कारण होता हो या परम्परा के कारण अथवा दोनों ही कारणों से, वर्णमाला-पूर्व का लेखन प्रबुद्ध वर्ग तक ही सीमित रहा। माइसीनियन लिपि ईसा पूर्व की बारहवीं शताब्दी के बाद पूरी तरह लुप्त हो गई जिसका कारण यह था कि साक्षरता का उपयोग बहुत सीमित था और लेखन तथा राजभवन के प्रशासन के बीच निकट सम्बन्ध था। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि ग्रीस में पूर्णतः वर्णमालात्मक लिपि के प्रचलन के बाद भी, जो सम्भवतः ईसा पूर्व की आठवीं शताब्दी में हुआ, ऐसी स्थिति आती।

वर्णमाला निस्संदेह सांस्कृतिक प्रसार का चरम उदाहरण है। सभी वर्तमान और ऐतिहासिक वर्णमालाओं का मूल सेमिटिक अक्षर-माला है जिसका विकास दूसरी सहस्राब्दि में हुआ था। बाद में सेमिटिक लेखन-पद्धति का सरलतम रूप आया जिसमें केवल बाईस अक्षर थे। इसके बाद एक ही कदम और रह गया। ग्रीक लिपि ने, जो सेमिटिक की बजाय रोमन वर्णमाला के अधिक निकट थी, व्यंजनों के रूप में प्रयुक्त कुछ ऐसे सेमिटिक चिन्हों को ग्रहण किया जिनकी आवश्यकता ग्रीक भाषा को नहीं थी और उन्हें स्वरों के रूप में प्रयुक्त किया जो सेमिटिक अक्षरमाला में नहीं किया गया था।

वर्णमाला की सफलता का सम्बन्ध इस तथ्य से भी है कि अन्य

लेखन-पद्धतियों की तुलना में इसके दृश्य चिन्ह सांस्कृतिक चुनाव की सर्वाधिक सार्वभौम और चरम प्रणाली—मूल स्वनिक प्रणाली के प्रतीक हैं। मनुष्य की श्वास-प्रणाली से बहुसंख्यक स्वर निःसृत हो सकते हैं। लेकिन आम तौर पर सभी भाषाएँ समाज द्वारा इस मूल मान्यता पर आधारित हैं कि लगभग चालीस स्वर ही प्रधान हैं। वर्णमाला की सफलता (और उसकी कुछ आनुषंगिक कठिनाइयाँ भी) इसी तथ्य के कारण हैं कि उसके अन्तर्गत आलेखन पद्धति सभी भाषाओं में स्वर सम्बन्धी समाज की उक्त मान्यता को स्वीकार करना सुविधाजनक मानती है। इन चुनी हुई स्वनिक इकाइयों को अक्षरों का प्रतीक प्रदान कर वर्णमाला यह सम्भव बनाती है कि समाज जो भी कहना-सुनना चाहता है उसे आसानी और स्पष्टता से लिखा-पढ़ा जा सके।

नये वर्णमालात्मक लेखन के सांस्कृतिक प्रभाव का ऐतिहासिक चित्र बहुत स्पष्ट नहीं है। जहां तक सेमिटिक पद्धति का सम्बन्ध है, जिसे अन्यत्र व्यापक रूप से अपनाया गया, प्रमाणों से संकेत मिलता है कि लेखन का समाज में प्रसार धीमा था। इसका कारण अंशतः तो उक्त पद्धति की अपनी कठिनाइयाँ थीं, लेकिन मुख्य रूप से उन समाजों की सुस्थापित सांस्कृतिक विशेषताएं थीं जिन्होंने इस पद्धति को अपनाया। एक बात यह भी थी कि प्रायः लेखन को स्मृति-सहायक के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति पाई जाती थी, न कि स्वायत्त और स्वतन्त्र सम्प्रेषण-पद्धति के रूप में। इस प्रकार उससे तत्कालीन सांस्कृतिक परम्परा और सुदृढ़ ही होती थी। कम से कम भारत और पैलेस्टाइन के मामले में यह बात अवश्य ही सही है। गैंड्स ने इस का एक उदाहरण देते हुए कहा है कि ओल्ड टेस्टामेंट के लिपिबद्ध हो जाने के काफी समय बाद तक भी हेब्रू संस्कृति का मौखिक सम्प्रेषण जारी रहा। लेखन के आरम्भ से लोगों की आदतें सहसा नहीं बदल गईं और पुराने तरीके तथा परम्पराएं समाप्त नहीं हो गईं। हमें लेखन के **श्री गणेश** और उसके **सामान्य प्रसार** में अन्तर का ध्याल रखना होगा। कभी-कभी लेखन अपनी आरम्भिक अवस्था के बाद जनता की आम सम्पत्ति शताब्दियों या सहस्राब्दियों में ही हो पाता है। आरम्भ में लिपिबद्ध पुस्तक व्यावहारिक उपयोग

के लिए होती ही नहीं। वह एक दैवी साधन होती है, जिसे उपासना-गृह में ईश्वरीय सत्य के लिखित साक्ष्य के रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है और पवित्र स्मृति-चिन्ह माना जाता है। आम लोगों के लिए मौखिक आदेश-उपदेश उसके बाद भी सीखने का एक मात्र साधन होते हैं और स्मृति ही उन्हें सुरक्षित रखने का स्थल होती है। लेखन का प्रयोग जब किया भी गया तो स्मृति की सहायिका के रूप में।

इस प्रकार प्रबुद्ध वर्ग और सामान्य जन के बीच खाई काफी चौड़ी बनी रही, जिसका प्रमाण यह है कि बाइबिल में अनेक स्थलों पर लिपिकारों और लेखकों के प्रति क्षोभ प्रकट किया गया है जो अपने आप को 'लिपिकारों के परिवारों' तक सीमित रखते रहे और अपने व्यवसाय का रहस्य अपने वंशजों को ही बताते रहे।

जिन आरम्भिक समाजों ने सेमिटिक लेखन पद्धति को अपनाया उनमें सार्वजनिक साक्षरता अथवा बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा लेखन का सम्प्रेषण की स्वायत्त पद्धति के रूप में प्रयोग नहीं पाया जाता। ईसा पूर्व की छठी और पाँचवीं शताब्दी में ग्रीस और आइवोनिया के नगर-राज्यों में ही ऐसे समाज थे जिन्हें साक्षर कहा जा सकता है। जिन समाजों ने सेमिटिक या अन्य कोई सरल और सुस्पष्ट लेखन पद्धति अपनाई उनमें ग्रीस में ही क्यों साक्षरता का व्यापक प्रसार हो सका, यह इस निबंध से बाहर का विषय है। फिर भी, ग्रीस ने जिस ढंग से सेमिटिक वर्णमाला को अपनी आवश्यकता के अनुकूल ढाला उस का बहुत महत्व है। इसी अनुकूलन के कारण ग्रीक की वर्णमाला मानव कथन को मूर्त रूप देने वाली प्रथम व्यापक और ऐकान्तिक पद्धति बन गई। यह पद्धति आसान, स्पष्ट और विवादरहित थी और सेमिटिक पद्धति से भी श्रेष्ठतर थी जिसमें स्वरों का अभाव था। अक्षर-माला की अपेक्षा यह अधिक अच्छी इसलिए थी कि इसमें चिन्हों की संख्या कम थी और स्वर तथा व्यंजन समूह अलग-अलग थे। इस पद्धति को सीखना आसान था। प्लैटो ने यह समय तीन वर्ष का माना है जो आजकल भी स्कूली शिक्षा की अवधि है। और वर्णमालात्मक लेखन जिस तेजी के साथ सीखा जा सकता है उसी के कारण रोमन लिपि और वर्णमालात्मक लेखन प्रणाली को सम्पूर्ण

विश्व में दिनोंदिन अपनाया जा रहा है।

ग्रीस में वर्णमाला के व्यापक प्रसार में विभिन्न सामाजिक, और तकनीकी कारणों से भी, सहायता मिली। बारहवीं शताब्दी में माइसीनियन साम्राज्य के पतन के बाद पूर्व से व्यापार का जो सिलसिला समाप्त हो गया था वह आठवीं शताब्दी में फिर शुरू हो गया। राजनैतिक दृष्टि से यद्यपि ग्रीस के तत्कालीन समाज के अनेक स्तर थे तथापि वह सुदृढ़ रूप में केन्द्रीकृत नहीं हुआ था। विशेष रूप से आइवोनी बस्तियों में काफी लचीलापन पाया जाता था और वहीं हमें ग्रीस के नगर-राज्यों की शुरुआत के चिन्ह दिखाई देते हैं। इसके अतिरिक्त, पूर्व से सम्पर्क के कारण भौतिक समृद्धि बढ़ी और तकनीकी विकास भी हुआ। इसका शायद एक परिणाम लोहे का अधिक व्यापक इस्तेमाल और वास्तविक लौह युग की शुरुआत था। साक्षरता से निकट का सम्बन्ध इस बात से भी था कि मिस्र से पपीरस का आयात हुआ। इससे लिपिकारों और पाठकों के लिए भी लेखन अधिक आसानी और कम खर्च से होने लगा। निस्संदेह पपीरस चर्म-पत्र से अधिक सस्ता, मोम की पट्टियों से अधिक टिकाऊ और पत्थर या मिट्टी के लेखन-पट्टों की अपेक्षा अधिक सार-सम्भाल योग्य था।

ग्रीस में साक्षरता प्रसार की सीमा और काल-क्रम के बारे में विवाद अभी बना हुआ है। बारहवीं शताब्दी में माइसीनियन साम्राज्य के पतन के बाद लेखन विलुप्त हो गया। संशोधित सेमिटिक लिपि में सबसे प्राचीन ग्रीक अभिलेख आठवीं शताब्दी के अंतिम दो दर्शकों के हैं। हाल में विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नई लिपि उत्तरी सीरिया में आठवीं शताब्दी के मध्य में अपनाई और परिवर्तित की गई। लेखन का व्यापक प्रयोग संभवतः धीरे-धीरे ही सातवीं शताब्दी में आरम्भ हुआ लेकिन जब प्रयोग आरम्भ हो गया तो काफी व्यापक क्षेत्र में, जैसे बौद्धिक और आर्थिक क्षेत्रों में, बड़ी संख्या में लोगों ने उसे अपनाया।

लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि सम्पूर्ण कलासिकी युग में ग्रीक लेखन पढ़ने की कठिनाई बनी रही क्योंकि शब्दों को किसी नियमानुसार पृथक नहीं किया जाता था। पाण्डुलिपियों की

प्रतिलिपियाँ तैयार करना काफी समय-साध्य और श्रमसाध्य था और मौन वाचन के जिस रूप से हम आज भली भाँति परिचित हैं वह तब तक नहीं शुरू हुआ जब तक मुद्रण का आविष्कार और प्रसार नहीं हो गया। प्राचीन काल में पुस्तकें प्रायः दासों द्वारा जोर-जोर से पढ़ी जाती थीं। फिर भी, छठी शताब्दी के बाद से ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षरता को ग्रीस और आइवोनिया में सहज स्वीकार किया जाने लगा था। उदाहरण के लिए ऐथेन्स में पठन से सम्बद्ध नियम पहली बार सोलन द्वारा ई० पू० ५९४-३ में आम जनता के लिए बनाए गए। पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में निर्वासन सम्बन्धी व्यवस्था में यह अभिनिहित है कि नागरिक पढ़े-लिखे थे क्योंकि उक्त व्यवस्था के अंतर्गत ६ हजार नागरिकों को ठीकरों पर उस व्यक्ति का नाम लिखना पड़ता था जिसको निर्वासित किया जाना था। इस बात के भी यथेष्ट प्रमाण हैं कि पाँचवीं शताब्दी में ऐसे स्कूल थे जो लिखना-पढ़ना सिखाते थे। पुस्तक पढ़ने वाले जन-समूहों का भी प्रमाण मिला है जिनको अरिस्टोफेनीज़ ने अपनी एक कृति में व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। ग्रीक वर्णमाला को अन्तिम रूप में पाचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में काफी बाद में अपनाया गया और ई० पू० ४०३ में आर्चोन यूक्लेडीज ने उसे विशेष आदेश द्वारा एथेन्स के राजकीय अभिलेखों के लिए मान्यता दी।

वर्णमालात्मक संस्कृति और ग्रीक चिन्तन

इस प्रकार ग्रीक सभ्यता का उदय वास्तविक साक्षर समाज में संक्रमण का एक शीर्ष उदाहरण है। बाद के अन्य मामलों में जब कि किसी वर्णमालात्मक लिपि का व्यापक प्रसार हुआ, जैसे रोम साम्राज्य में, उस देश से अन्य सांस्कृतिक विशेषताएं भी आयातित हुई जहाँ से वर्णमाला आई। इस प्रकार ग्रीस न केवल साक्षरता प्रसार का प्रथम उदाहरण है बल्कि ऐसा प्रदेश है जहाँ वर्णमालात्मक साक्षरता को सांस्कृतिक परिणतियों से पृथक कर के देखा जा सकता है।

ग्रीक सभ्यता में इस ऐतिहासिक परिवर्तन के बारे में हमें जो

प्रमाण उपलब्ध हैं वे विखण्डित और अस्पष्ट ढंग के हैं। इसका परिणाम यह है कि जो भी सामान्य निष्कर्ष निकाले जायेंगे वे प्रायोगिक तथा आनुमानिक ही होंगे। फिर भी, लेखन पद्धति और आरम्भिक काल में ग्रीस में उस सांस्कृतिक नवोदय के बीच, जो सभी वर्णमालात्मक साक्षरता वाले समाजों में पाया जाता है, संभावित सम्बन्ध की खोज के प्रयास का औचित्य यह है कि लेखन पद्धतियों और पश्चिमी परम्परा के सांस्कृतिक विधानों की अनेक विशेषताओं का आधार ग्रीस ही है और इन दोनों का ही उदय एक साथ हुआ था।

पश्चिमी चिन्तन की विशिष्टताओं का आरम्भिक विकास आम तौर पर ई० पू० छठी शताब्दी में सुकरात से पहले के दार्शनिकों द्वारा प्रस्तुत आमूल परिवर्तनों का परिणाम माना जाता है। उनकी बौद्धिक क्रान्ति का सार पौराणिक चिन्तन पद्धति से तार्किक-आनुभविक पद्धति में संक्रमण के रूप में देखा जाता है। यही मोटे तौर पर वर्नर जाएगर का अभिमत है। और अर्न्स्ट कैसीरर लिखता है : "वैज्ञानिक विषय के रूप में दर्शन शास्त्र का इतिहास मिथकों से पृथकता और मुक्ति प्राप्त करने का एक लगातार संघर्ष माना जा सकता है।"

इस आम धारणा के प्रति दो आपत्तियाँ हो सकती हैं। प्रथम तो यह कि उक्त विद्वानों के अनुसार युग-प्रवर्तक बौद्धिक परिवर्तन अन्ततः ग्रीस निवासियों की विशिष्ट मानसिक क्षमता का परिणाम माने गए हैं और जिस हद तक 'ग्रीक चिन्तन' और 'मेधा' केवल वर्णनात्मक संज्ञाएं नहीं हैं, वे तर्कशः मनुष्य की प्रकृति और संस्कृति के अत्यन्त संदेहास्पद सिद्धान्तों पर आधारित हैं। दूसरे, 'अदार्शनिक' चिन्तन से 'दार्शनिक' चिन्तन तक इस रूप में संक्रमण की क्रिया में यह निहित मान लिया गया है, जो तर्कसंगत नहीं है, कि आदिम मानव के 'पौराणिक' चिन्तन और सभ्य मानव के 'तार्किक-आनुभविक' चिन्तन के बीच विभाजक रेखा है।

यह विभाजन प्रायः उसी प्रकार की कल्पना है जो लेवी ब्रूल के आदिम मानवों की 'तर्क-पूर्व' मनोवृत्ति के सिद्धान्त में निहित है। इस सिद्धान्त की सर्वत्र आलोचना की गई है। मैलीनोव्स्की और

अन्य विद्वानों ने सिद्ध किया है कि असाक्षर संस्कृतियों में आनुभविक तत्व पाये जाते हैं और इवान्स प्रिचार्ड ने सूडान के अजान्डे लोगों की आस्था-पद्धतियों में 'तार्किकता' का विश्लेषण किया है। दूसरी ओर चाहे हम अतीत पर विचार कर रहे हों या वर्तमान पर, पश्चिमी चिन्तन में अतार्किक और पौराणिक प्रकृति वाले तत्व भी अवश्य ही यथेष्ट मिलेगे।

यद्यपि हमें साक्षर ओर असाक्षर लोगों की मानसिक विशेषताओं में किसी बड़े अन्तर पर आधारित द्विविभाजन का तिरस्कार करना होगा और इस विचार से सहमत होना होगा कि ऐसे भेद-भाव के सम्बन्ध में पिछली धारणा के पीछे गलत आधार और अपर्याप्त प्रमाण थे, तथापि साक्षर और असाक्षर समाजों के बीच सामान्य अन्तर हो सकता है जो शायद उस प्रकार का हो जिसका लेवी ब्रूल ने संकेत दिया है। इसका एक कारण तो वह हो सकता है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है : लेखन शब्द और उसके संदर्भ या निहितार्थ के बीच एक भिन्न प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करता है जो अधिक सामान्य और अमूर्त होता है और किसी व्यक्ति, स्थान और काल की विशेषताओं से उस हद तक सम्बद्ध नहीं होता जिस हद तक मौखिक सम्प्रेषण में हुआ करता है। हमें ग्रीस के आरम्भिक चिन्तन में इस प्रकार के अन्तर के प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए कैसीटर और वर्नर जाएगर के वर्गीकरण को लें। निस्सन्देह यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि 'तर्क' का उत्थान केवल तभी हुआ जब कि पहली बार वर्णमालात्मक संस्कृति का प्रसार हुआ। और केवल तभी मानव के अतीत को निरपेक्ष यथार्थ के रूप में देखने की दृष्टि विकसित हुई। यह ऐसी प्रक्रिया थी जिसमें 'पुराण' और 'इतिहास' का अन्तर निर्णायक महत्व का प्रश्न बन गया।

पुराण और इतिहास

असाक्षर लोग प्रायः हल्की-फुल्की लोक कथाओं, अधिक गंभीर मिथकों और अर्द्ध-ऐतिहासिक गाथाओं में अन्तर करते हैं। लेकिन वे इस अन्तर पर बहुत जोर नहीं देते। इसका एक सुस्पष्ट कारण है। जब तक सांस्कृतिक परम्परा के गाथात्मक और सैद्धान्तिक पक्ष

मौखिक रूप से सम्प्रेषित होते हैं उन्हें परस्पर समन्वित और वर्तमान समाज के अनुकूल बनाए रखा जाता है। यह दो प्रकार से होता है : स्मृति के अवचेतन संचालन द्वारा और सम्प्रेषक के अपने श्रोताओं की रुचियों और मांगों से समायोजन द्वारा। उदाहरण के लिए इस बात के प्रमाण हैं कि ग्रीस की सांस्कृतिक परम्परा के मौखिक सम्प्रेषण के दौरान इस प्रकार के अनुकूलन और विलोपन हुए हैं। लेकिन एक बार जब होमर और हीसिओड के काव्य लिपिबद्ध हो गए, जिनमें ग्रीस के पूर्ववर्ती इतिहास, धर्म और ब्रह्मांड-विद्या के अधिकांश का समावेश था, तो परवर्ती पीढ़ी को पुराने अन्तर का सामना और भी तीव्रता से करना पड़ा : देवताओं और नायकों से सम्बद्ध बातें किस हद तक सही हैं ? उसके स्पष्ट विरोधाभास का क्या स्पष्टीकरण है ? और उसमें निर्दिष्ट आस्थाओं एवं दृष्टिकोणों को वर्तमान के अनुकूल कैसे बनाया जा सकता है ?

अनेक आरम्भिक ग्रीक कृतियों के विलोप और अनेक उपलब्ध रचनाओं की तिथि तथा निबन्धन सम्बन्धी निश्चित जानकारी के अभाव के कारण उन्हें सही रूप में फिर से देख सकना प्राय: असंभव है। निस्संदेह ग्रीक भाषा बहुत सीमित रूप में माइसीनियन काल में लिखित भाषा हो गई थी। ई० पू० १२०० के लगभग लेखन लुप्त हो गया और वर्णमाला प्राय. चार सौ वर्ष बाद ही विकसित हो पाई। अधिकांश विद्वानों की राय है कि आठवीं शताब्दी के मध्य में या अन्तिम वर्षों में ग्रीकों ने फोनीशिया की विशुद्धत: व्यंजन पद्धति को अंगीकार किया। उन्होंने संभवत: ऐसा अल मीना के व्यापारिक बंदरगाह पर किया। आरम्भिक लेखन का अधिकांश 'वर्तमान वस्तुओं, जैसे चढ़ावे के अभ्यर्पण, व्यक्तिगत या साम्पत्तिक नामों, समाधि लेख, चित्रित आकृतियों के नाम के रूप में' है। होमर की कविताएँ ७५० से ६५० ई० पू० में लिखी गई और सातवीं शताब्दी में पहली बार प्रगीत काव्य और उस शताब्दी के समाप्त होते-होते वैज्ञानिक दार्शनिकों के महान् आयोनियन सम्प्रदाय का उदय हुआ। इस प्रकार होमर के काव्य के लिपिबद्ध होने के एक या दो शताब्दी बाद ही लेखकों और शिक्षकों के अनेक समूहों का पहले आयोनिया में और फिर ग्रीस में उदय हुआ जिन्होंने अतीत से अपने आप को

काटने के आरम्भ-बिन्दु के रूप में इस विश्वास पर बल दिया कि होमर ने जो कुछ कहा है उसका अधिकांश कई प्रकार से असंगत और असंतोषजनक है। जब कीलाक्षर लेखकों ने वंश-वृत्तों, घटना-क्रमों और ब्रह्माण्डिकी को लिपिबद्ध करने का कार्य आरम्भ किया, जो उन्हें अतीत से मौखिक रूप में मिले थे, तो मूल्यांकन और तार्किकता की अपनी क्षमताओं के उपयोग के कारण वे नये व्यक्तिगत संश्लेषण तक पहुँचे। असाक्षर समाजों में निस्संदेह कुछ लोग ऐसे होते हैं जो सांस्कृतिक परम्पराओं को व्यक्तिगत रूप में एकत्र करते हैं और उनका विश्लेषण तथा व्याख्या करते हैं। लिखित अभिलेखों से प्रकट होता है कि, उदाहरणार्थ, यह क्रम मिस्र, बेबीलोन और चीन के साक्षर प्रबुद्ध-वर्ग के बीच काफी चलता रहा। लेकिन ग्रीस में लेखन और वाचन किसी धार्मिक या प्रशासनिक समूह तक कम ही सीमित थे, शायद इसीलिए वहाँ छठ शताब्दी में कट्टर सांस्कृतिक परम्परा के प्रति वैयक्तिक चुनौती अन्य स्थानों की बजाय कहीं अधिक पूर्ण थी। उदाहरणार्थ, उस शताब्दी के अन्त में हेकैटियस ने घोषणा की थी : "मैं जो कुछ लिख रहा हूँ वह मेरे अनुभूत सत्य का विवरण है क्योंकि ग्रीक लोग जो कथाएँ सुनाते हैं वे अनेक हैं और मेरी राय में उपहासास्पद भी हैं।" उसने जिन पारिवारिक परम्पराओं और और वंश-वृत्तों को एकत्र किया था उनका अपना ही तार्किक विवेचन दिया। इस प्रकार अतीत के प्रयोग की पौराणिक पद्धति लुप्त होनी शुरू हो गई थी।

इस विचारधारा का व्यापक प्रभाव हुआ। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि धार्मिक और प्रकृत दर्शन का आरम्भ अतीत से दाय में प्राप्त परम्पराओं से विवेचनात्मक विचलन से सम्बद्ध है। डब्लू० बी० यीट्स ने एक अन्य परम्परा के संदर्भ में इसी बात को स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है : "विज्ञान मिथकों का विवेचक है। यदि उत्पत्ति-ग्रन्थ न होता तो डार्विन, डार्विन न बन पाता।" सुकरात से पहले के आरम्भिक दार्शनिकों में, नये विचारों के उदय और पुराने विचारों की आलोचना में निकट सम्बन्ध के प्रमाण पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ कोलोन के जेनोफेनीज ने 'प्राचीन व्यक्तियों की दंत कथाओं' को अस्वीकार किया है और होमर तथा हीसियोड के

मानवतारोपी देवताओं के स्थान पर, जो 'वह सब करते थे जिसे मनुष्यों के बीच अपयशपूर्ण और निन्दनीय माना जाता है,' एक सर्वोच्च देवता को प्रतिष्ठित किया जो, 'शरीर और मन से मर्त्यों के समकक्ष किसी भी प्रकार नहीं था।' इफेसुस के हिरैक्लिट्स ने भी, जिसकी पद्धति प्रतिकूलताओं की एकता पर आधारित है, ओलम्पियन धर्म द्वारा मानवतारोपण और मूर्ति पूजा की खिल्ली उड़ाई है।

यह समीक्षात्मक और संदेहवादी प्रक्रिया चलती रही और, कार्नफोर्ड के अनुसार, "सर्वोच्च देवता के जीवन-वृत्त का काफी बड़ा भाग या तो मिथ्या बता कर अस्वीकार कर दिया गया या प्रतीक-कथा के रूप में पुनः व्याख्यायित किया गया अथवा ऐसा रहस्यात्मक मिथक माना गया जिसे समझ पाना मनुष्य की समझ से बाहर हो।" एक ओर तो कवि परम्परात्मक आख्यानों को अपने काव्यों और नाटकों का विषय बनाते रहे, दूसरी ओर गद्य-लेखक उन समस्याओं से उलझते रहे जो सांस्कृतिक परम्परा में परिवर्तन से उठ खड़ी हुई थीं। स्वयं कवियों का रुख अपने वर्ण्य विषयों के प्रति पहले से भिन्न था। गद्य-लेखकों और कुछ कवियों ने मिथकों के स्थान पर किसी ऐसी चीज की खोज शुरू की जो अधिक तर्क-सगत हो और उस सामान्य तथा सर्व-ग्राही सत्य के अनुकूल हो जो प्रत्यक्ष विरोधाभासों का समाधान कर सके।

सांस्कृतिक परम्परा के संवहन की दृष्टि से यह विशेष महत्वपूर्ण है कि स्थान और काल सम्बन्धी धारणाएं किस कोटि की हैं। जहाँ तक स्थान सम्बन्धी वस्तुनिष्ठ वर्णन का सम्बन्ध है, अनैक्सिमैंडर और हिकैटियस ने बेबीलोन और मिस्र की तकनीकों को काम में लाते हुए विश्व के पहले मानचित्र तैयार किए। फिर हीरोडोटस तथा अन्यों ने उन मानचित्रों की आलोचना और उनमें संशोधन का लम्बा सिलसिला शुरू किया जिसके परिणामस्वरूप अरस्तू, एरैटोस्थेनीज तथा उनके परवर्तियों ने अधिक वैज्ञानिक मानचित्र-कला का विकास किया।

इतिहास लेखन के क्षेत्र में भी प्रायः इसी प्रकार से प्रगति हुई यद्यपि इस प्रगति का वास्तविक विवरण काफी विवादास्पद विषय

है। परम्परागत दृष्टिकोण के अंतर्गत स्थानीय इतिवृत्तों को प्रमुखता दी जाती थी जिसके बाद हीरोडोटस और थ्यूसीडाइडीज के अधिक व्यापक वर्णन आए। हैलीकैरनैसस के डायोनीशियस ने इन इतिहासकारों के पूर्ववर्तियों के विषय में लिखा है: "वे अपने विवरण का एक दूसरे से समन्वय करने की बजाय अलग-अलग व्यक्तियों और नगरों के असम्बद्ध विवरण प्रस्तुत करते थे...उन सब का एक ही उद्देश्य था कि मंदिरों में या अन्य भवनों में उन्हें जिस रूप में भी लिखित विवरण प्राप्त हुए हों उन्हें बिना घट-बढ़ के यथावत् रख दिया जाय; इनके अंतर्गत समय की गति के साथ-साथ चली आ रही पवित्र आख्यायिकाएं भी होती थीं।"

लेकिन जैकोबी ने इस धारणा को गलत कहा कि ग्रीक इतिहास-लेखन का आरम्भ स्थानीय इतिवृत्त लेखन से हुआ। जहाँ तक एथेन्स का संबंध है, इतिहास-लेखन का आरम्भ एक विदेशी—हीरोडोटस—से होता है जिसने पाँचवीं शताब्दी के मध्य के कुछ समय बाद उस नगर की कथा के कुछ अंशों को भी अपने विवरण में सम्मिलित किया क्योंकि वह यह दर्शाना चाहता था कि पूर्व और पश्चिम के बीच, एशिया और यूरोप के बीच महान् संघर्ष में उस नगर का क्या योग रहा। हीरोडोटस के 'इतिहास' का उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि ग्रीकों और पर्शियनों में किस बात को लेकर युद्ध हुआ। इसके लिए उसने घटनाओं के विभिन्न श्रोतों से उपलब्ध सर्वाधिक विश्वसनीय विवरणों की वैयक्तिक जाँच या अनुसंधान का मार्ग अपनाया। उसकी रचना मौखिक परम्परा पर आधारित थी और इसलिए उसमें बहुत से पौराणिक तत्व भी मिलते हैं। ये तत्व लेस्बास के हेलैनिकस में भी मिलते हैं जिसने पाँचवीं शताब्दी के अन्त में ऐट्टिका का ६८३ से ४०४ तक का इतिहास लिखा जब कि पेलोपोनीशियन युद्ध हुआ था। हेलैनिकस ने होमर के नायकों के वंश-वृक्ष को भी नये सिरे से निर्धारित करने का प्रयास किया। यह प्रयास अतीत में देवताओं से लेकर तत्कालीन ग्रीस तक व्यापक था। इसमें अनिवार्यतः काल-क्रम का विवरण अभिनिहित था जो समय की वस्तुनिष्ठ माप है। लेकिन वह इतना ही कर सका कि दंत-कथात्मक सामग्री को अधिकांशतः व्यवस्थित और सुसंगत

बनाये । समाज के अतीत और वर्तमान को प्रमाण-सम्मत और विश्लेषणात्मक रूप में स्थायी तौर पर लिखित रूप देने की दिशा में इतिहास-लेखन का विकास थ्यूसीडाईडीज से आरम्भ हुआ जिसने पुराण और इतिहास में स्पष्ट अन्तर किया । असाक्षर समाजों में इस अन्तर की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता । थ्यूसीडाइडीज ऐथेन्स और स्पार्टा के बीच युद्धों का पूर्णत: विश्वसनीय विवरण देना चाहता था । इसका यह अर्थ था कि अतीत के सम्बन्ध में असत्यापित धारणाओं को छोड़ दिया जाय । उदाहरण के लिए थ्यूसीडाइडीज ने हेलैनिकस द्वारा एथेन्स के प्रागैतिहास के सम्बन्ध में निर्दिष्ट वंश-वृत्त को अस्वीकृत किया और घटनाओं तथा भाषणों आदि के वर्णन देते हुए अपने ही लिखे विवरणों या प्रत्यक्षदर्शियों तथा अन्य विश्वस्त सूत्रों से प्राप्त विवरणों का सहारा लिया ।

इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रीक प्रदेश में लेखन के व्यापक प्रसार तथा पिछली मौखिक परम्परा के लिपिबद्ध होने के कुछ समय बाद अतीत के प्रति ऐसा दृष्टिकोण विकसित हुआ जो असाक्षर समाजों में प्रचलित दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था । अतीत की परम्पराओं के वर्तमान की आवश्यकताओं से प्रच्छन्न अनुकूलन के स्थान पर बहुत से लोगों को अपने अभिलेखों में, जिनमें परम्परागत सांस्कृतिक रंगपटल का अधिकांश संचित था, ऐसी विरोधाभासपूर्ण आस्थाएं एवं धारणाएं देखने को मिलीं कि उन्हें विवश होकर विश्व सम्बन्धी प्रचलित धारणाओं के बारे में, विशेष रूप से ईश्वर, सृष्टि और अतीत के सम्बन्ध में अधिक सजग, तुलनात्मक और आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना पड़ा । इन प्रश्नों को ले कर अनेक व्यक्तिगत समाधान भी प्रस्तुत किए गए जो और आगे शोध के लिए आधार बनें ।

उदाहरणार्थ, यह कहा गया कि असाक्षर समाज में सांस्कृतिक परम्परा पारस्परिक वार्तालाप के आधार पर आगे बढ़ती है और उसके सम्प्रेषण की परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं जो अतीत और वर्तमान के बीच संगति को बनाए रखने की प्रवृत्ति को प्रश्रय देती हैं तथा आलोचना अर्थात् विरोधाभास को मुखर करने की गुंजाइश बहुत कम होती है । और अगर ऐसी आलोचना हुई भी तो

उसका प्रभाव प्रायः स्थायी नहीं होता और या तो उसे आसानी से संगत बना लिया जाता है या भुला दिया जाता है। ऐसे समाजों में संदेहवाद भले ही मौजूद हो, वह वैयक्तिक और असामूहिक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। उसकी परिणति किसी सामाजिक हठधर्मी की सजग अस्वीकृति या पुनर्व्याख्या न हो कर विश्वास के प्रायः अविवेचित पुनर्समायोजन में होती है।

साक्षर समाज में भी ऐसे पारस्परिक वार्तालाप होते रहते हैं। लेकिन वे मनुष्य के एकमात्र सम्प्रेषण-माध्यम नहीं होते : लेखन के रूप में उनका विकल्प भी मौजूद रहता है। और लेखन के माध्यम से सांस्कृतिक सम्प्रेषण की प्रक्रिया विरोधाभासों की चेतना के लिए अनुकूल होती है। इसका एक परिणाम परिवर्तन के प्रति सजगता और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के अहसास के रूप में सामने आता है। दूसरा परिणाम इस विचार के रूप में व्यक्त होता है कि समग्र रूप में सांस्कृतिक दाय के अन्तर्गत दो बातें होती है : एक तो काल्पनिक कथाएं, भूलें और अन्धविश्वास, और दूसरे सत्य के ऐसे खण्ड जो देवताओं, मानव के अतीत और भौतिक विश्व की अधिक विश्वसनीय तथा संगत व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए आधार बनते हैं।

प्लैटो और साक्षरता के प्रभाव

इस क्रम का एक चरण पुराण-कथाओं का इतिहास द्वारा स्थानान्तर माना जा सकता है। लेकिन ग्रीक शब्द 'हिस्टोरियों' की अर्थ-व्याप्ति कहीं अधिक है। इसका शब्दार्थ है 'जिज्ञासा' और इसके अन्तर्गत मानव से सम्बद्ध प्रत्येक क्षेत्र की यथार्थता की खोज का प्रयास आता था। इस प्रकार के प्रयत्न के फलस्वरूप हमारे वर्तमान ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में ग्रीकों ने बुनियादी स्थापनाएं दीं।

इस क्रम में लेखन का क्या योग रहा, यह इतिहास का विषय न हो कर अनुमान का ही विषय अधिक है। लेकिन जब हम कालक्रम में सामूहिक विकास और सम्प्रेषण से वैयक्तिक सम्प्रेषण की ओर बढ़ते हैं तो अनुमान से कुछ अधिक ठोस जमीन पर पहुँचते हैं। प्लैटो की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। उनमें मौखिक और साक्षर विचार-धारा में अन्तर के प्रति गहरी चेतना है। उनमें मौखिक सम्प्रेषण की अधिक

पूर्णता तथा तीव्रता पर भी विचार किया गया है और उस पर जोर दिया गया है।

प्लैटो का जन्म ४२७ ई० पू० के लगभग हुआ था। और उससे काफी पहले ग्रीक संसार में वर्णमाला का व्यापक प्रसार हो चुका था। साक्षर संस्कृति की अनेक संस्थाओं की स्थापना तब तक हो चुकी थी : बच्चों के स्कूल स्थापित हो चुके थे, और वृत्तिक दार्शनिकों तथा विद्वानों ने प्राचीन विद्याओं के पारम्परिक व्याख्या-कारों का स्थान ले लिया था। ऐसे स्कूल और वृत्तिक दार्शनिकों की चर्चा प्लैटो के 'संवाद' में आई है जहाँ यह कहा गया है कि सुकरात उन नये दार्शनिकों और शिक्षकों के प्रति संदेहशील था जिन्होंने ज्ञान को बाजारू पदार्थ बना दिया था—एक ऐसा पदार्थ, जिसकी खरीद 'तब तक खतरे से खाली नहीं है जब तक खरीदार को यह समझ न हो कि क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य।'

सुकरात ने 'अच्छे और बुरे बोल तथा लेखन की प्रकृति' की भी चर्चा की है। इस दावे के प्रसंग में कि लेखन के आविष्कार से 'स्मरणशक्ति और ज्ञान के लिए एक गुर' मिल गया है, उसने कहा है : "यदि लोग लिखना सीख जाते हैं तो उससे उनकी आत्मा में विस्मरण बद्धमूल ो जायेगा। वे स्मरणशक्ति से काम लेना बंद कर देंगे क्योंकि वे उस पर निर्भर होंगे जो लिपिबद्ध है; वे अपनी अन्तरात्मा से चीजों को अपने स्मृति-पटल पर लाने का प्रयास नहीं करेंगे बल्कि बाह्य चिन्हों पर निर्भर हो जायेंगे। यह आवि-ष्कार स्मृति के लिए नहीं बल्कि अनुस्मारक के रूप में उपयोग में में आ रहा है। उससे ज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान की छाया उपलब्ध हो रही है। यदि लोगों को आन्तरिक शिक्षण के बिना ज्ञान दिया जाये तो उन्हें इस भुलावे में डाला जायेगा कि वे बहुत-कुछ जानते हैं जबकि वास्तव में वे कुछ नहीं जानते। और अगर लोग इस प्रकार ज्ञान नहीं, बल्कि ज्ञान-गर्व से फूले रहेंगे तो वे अपने साथी-संगियों के लिए भार-स्वरूप बने रहेंगे।"

सुकरात द्वारा स्मृति पर जोर देना, जो मौखिक समाज में सांस्कृतिक परम्परा की सन्निधि थी, महत्वपूर्ण है। लेखन के प्रति इस आपत्ति के उसने दो कारण बताए : प्रथम, उसका प्रभाव

मूलतः सतही होता है; और दूसरे, सत्य के तात्विक सिद्धान्त केवल तर्क-पद्धति से ही उपलब्ध हो सकते हैं।

सुकरात के अनुसार, लेखन का प्रभाव सतही इसलिए होता है कि पुस्तकावलोकन से ज्ञान का आभास भले ही हो, उसे मौखिक प्रश्नोत्तर द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। और अगर पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त भी हो जाये तो वह गहराई तक तभी प्रविष्ट होगा जब वह 'ज्ञानार्थी के अन्तस् में अंकित हो जाये।' प्लैटो अथवा सुकरात ने जिन कारणों से यह कहा है कि वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि केवल तार्किक प्रणाली से ही होती है, वे मौखिक समाज में सांस्कृतिक परम्परा के सम्प्रेषण के सन्दर्भ में भी संगत हैं। तर्क-पद्धति तत्वतः सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें शिक्षक सीधे युवाजनों को ज्ञान प्रदान करता है। यह ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत दीर्घकालीन वैयक्तिक सम्बन्ध द्वारा, चरम सत्य के सम्प्रेषण में शब्द की अक्षमता पर विजय प्राप्त की जाती है।

विचारणीय प्रश्न केवल यही नहीं है कि दीर्घकालीन वैयक्तिक सम्पर्क से गहरी समझ विकसित हो सकती है बल्कि यह भी कि सम्प्रेषण प्रक्रिया से लिखित की अपेक्षा मौखिक पद्धति का अधिक तात्कालिक सम्बन्ध होता है और इस अर्थ में वह अधिक सुविधा-जनक होती है। एक सुविधा तो यह होती है कि अगर कोई भ्रम या उलझन हो तो वह प्रश्नोत्तर द्वारा हमेशा ही दूर की जा सकती है जबकि सुकरात के शब्दों में, "लिखित शब्द आप से ऐसे ढंग से बातचीत करते प्रतीत हो सकते हैं मानों वे बड़े बुद्धिमान हों परन्तु यदि आप उनसे पूछें कि आखिर उनका आशय क्या है तो वे एक जैसी ही बात फिर-फिर कहते रहेंगे।" दूसरी महत्वपूर्ण सुविधा यह है कि वक्ता अपने 'कथन के ढंग' को बदल सकता है, जिससे वह विषय की प्रकृति के अनुकूल हो...और इस प्रकार 'इन्द्रधनुषी आत्मा को इन्द्र धनुषी शैली में सम्बोधित किया जा सकता है और इकरंगी आत्मा को इकरंगी शैली में।' इस प्रकार सुकरात इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "जो भी व्यक्ति लिखित पुस्तक यह सोचकर किसी को सौंप जाता है कि उसका लेखन स्थायी या विश्वसनीय बनेगा, वह बेहद भोलेपन से ग्रस्त है।"

लेखन के विरुद्ध प्लैटो के तर्क के पीछे कुछ हद तक यह धारणा है कि केवल शब्द, विचार के सम्प्रेषण के लिए सक्षम नहीं हैं और यह भी कि गुरुजन अपनी शर्तों पर ही अपनी गुह्य विद्या औरों को देना चाहते थे। ज्ञान-मीमांसा के बाद के इतिहास के संदर्भ में प्लैटो की उक्त धारणा को इस खतरे की दूरदर्शितापूर्ण सजगता का सूचक भी माना जायेगा कि ऐसे अमूर्त शब्दों का उपयोग किया जा सकता है जिनके आशय के सम्बन्ध में कोई सामान्य सहमति न हो। लेखन सम्बन्धी प्लैटो की शंकाओं का सम्बन्ध इस तथ्य से भी है कि ग्रीक और रोमन सभ्यताएं लिखित शब्द की अपेक्षा मौखिक सम्प्रेषण की अधिक जीवन्त पद्धति को तरजीह देती थीं।

फिर भी ऐथेन्स में पाँचवीं शताब्दी के अन्त में नये विचारों के प्रति अटूट उत्साह और धर्म तथा नीति के प्रति बढ़ता हुआ संदेह इस बात का सूचक है कि किस प्रकार अतीत के ज्ञान-विज्ञान को लपिबद्ध करने से आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ। स्वयं प्लैटो भी लेखन के कुछ पहलुओं के प्रति, अपने संदेहों के बावजूद, इस वातावरण के प्रभाव से बच नहीं सका। यह अवश्य है कि प्लैटो विचार-जगत का आलोचक था। उसके अधिकांश 'संलाप' अन्य दार्शनिकों की विचारधाराओं के विरुद्ध तर्क के रूप में हैं। उसकी सबसे अधिक व्यावहारिक और रचनात्मक कृतियाँ, जैसे 'रिपब्लिक' और 'ला' भी उस वादविवाद के आगे की कड़ियाँ हैं जो सुकरात के समय से पहले शुरू हो गया था और जिस का लक्ष्य परम्परागत मिथकों के मानवारोपण की आलोचना करना या उसे तर्क-संगत रूप देना था।

इसलिए यह कहना सही नहीं होगा कि प्लैटो पूर्णतया मौखिक परम्परा का पोषक था। न तो वह और न सुकरात साक्षर संस्कृति के दुराग्रही विरोधी थे। सुकरात ने स्वयं पुस्तकें नहीं लिखीं लेकिन जैनोफोन के अनुसार "वह अपने मित्रों के साथ प्राचीनकाल के विद्वानों के उस संचित ज्ञान-कोष का लाभ उठाया करता था जो पुस्तकों के रूप में उपलब्ध था।" प्लैटो की पुस्तक 'रिपब्लिक' के सम्बन्ध में भी विद्वानों का मत है कि उसके आकार-प्रकार, लेखन-कौशल और उच्च कोटि के परिष्करण के कारण प्लैटो को पहला

वास्तविक लेखन माना जा सकता है । इसीलिए साक्षर संस्कृति की समस्याओं के प्रति हमें कहीं अधिक संश्लिष्ट दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है ।

तर्क और विवेक की श्रेणियाँ

दर्शन-शास्त्र के परवर्ती इतिहास में प्लैटो का महत्व मुख्यतः यह है कि उसकी कृतियाँ भविष्योन्मुखी हैं और वे पश्चिमी विचार-पद्धतियों को परिभाषित करने के लिए यथेष्ट आधार बनी हैं । अतएव हमें संक्षेप में विचार करना होगा कि ये पद्धतियाँ किस हद तक लेखन से सम्बद्ध हैं । ग्रीक चिन्तन के अधिकांश की जड़ें स्पष्टतः विशिष्ट ऐतिहासिक एवं सामाजिक परिवेश में हैं । इनमें से अनेक का उद्भव या सादृश्य दूर पूर्व की और अन्य सभ्यताओ में देखा जा सकता है । फिर भी यह कहना केवल जाति-गत पक्षपात नहीं माना जायेगा कि कम से कम दो क्षेत्रों में ग्रीकों ने ऐसी बौद्धिक प्रविधियाँ विकसित कीं जो अद्वितीय हैं और जिनके तात्विक-आनुभविक लाभ के कारण बाद की अधिकांश साक्षर संस्कृतियों ने उन्हें व्यापक रूप से अपनाया । पहला क्षेत्र है ज्ञान-मीमांसा का जिसके अन्तर्गत ग्रीकों ने एक नये प्रकार की तर्क-पद्धति का विकास किया; और दूसरा क्षेत्र है वर्गीकरण-विज्ञान का जिसके अन्तर्गत उन्होंने ज्ञान-विज्ञान को वर्गीकृत किया—जैसे धर्म-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि—जिसे हम आज भी स्वीकार करते हैं ।

प्रथम क्षेत्र में प्लैटो अनिवार्यतः उस दीर्घकालीन ग्रीक प्रयास का उत्तराधिकारी है जिसका लक्ष्य प्रचलित मतवादों के बीच सत्य की खोज है । ऐसा प्रतीत होता है कि इस खोज की चेतना और लेखन का व्यापक प्रसार एक ही काल में चल रहे थे । इसका कारण शायद यह था कि लिखित शब्द ऐसे परिभाषा योग्य सत्यों का आदर्श संकेत-चिन्ह होते हैं जो अन्तरंग स्वायत्तता एवं स्थायित्व से मण्डित होते हैं एवं सांसारिक परिवर्तनों और परस्पर-विरोधी शाब्दिक प्रयोगों की परिधि से पृथक होते हैं । मौखिक संस्कृतियों में 'ईश्वर', 'न्याय', 'आत्मा', 'शुभ' आदि शब्दों की पृथक सत्ता शायद ही स्वीकार की जाती हो : उनकी कल्पना शेष वाक्य अथवा उसके

सामाजिक संदर्भ से अलग शायद ही की जा सकती हो । लेकिन लेखन की मूर्त्त यथार्थता प्राप्त कर लेने के बाद वे स्वयं-जीवि बन जाते हैं । ग्रीक चिन्तन का अधिकांश उनके सन्तोषजनक आशय को स्पष्ट करने और उस आशय को सृष्टि में किसी विवेक-सम्मत अन्तिम सिद्धान्त से सम्बद्ध करने के लिए प्रयत्नशील रहा ।

निस्संदेह प्लैटो और अरस्तू ने ही यह धारणा दी कि इस प्रक्रिया के लिए एक विशिष्ट चिन्तन-विधि हो सकती है । उन्होंने स्वयं चिन्तन के लिए नियमों की एक पद्धति की सम्भावना की कल्पना की । ये नियम उस समस्या-विशेष से सर्वथा भिन्न थे जिसे लेकर चिन्तन-प्रक्रिया चल रही थी, और इनके द्वारा, वर्तमान अभिमत की अपेक्षा, सत्य तक पहुँच अधिक विश्वसनीय ढंग से हो सकती थी । सुकरात ने इसी संदर्भ में कहा है कि यह पद्धति प्रचलित मान्यताओं की उपेक्षा करती है और उसकी जगह प्रत्येक विचार का शब्दों की आरम्भिक परिभाषा के अनुसार विश्लेषण करती है, जिसके बाद एक समेकित तर्क का विकास होता है "जिसका मध्य और अन्त यों सुबद्ध होता है कि दोनों परस्पर तथा समग्र प्रक्रिया के अनुकूल हों ।" इस उद्देश्य की प्राप्ति, 'विभाजन और संग्रह' द्वारा, समस्या के संघटकों के विश्लेषण द्वारा और अन्ततः विवेक-संगत संश्लेषण द्वारा की जाती है ।

यह तार्किक प्रविधि अनिवार्यतः साक्षर प्रतीत होती है । सामान्य आधार पर, जैसा कि ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने लिखा है, "लेखन में मानव की सजग संचेतना में पूर्ण परिवर्तन निहित है क्योंकि वह वर्तमान के असह्य दबाव से मुक्ति देता है । बोलने और सुनने की अपेक्षा लिखने और पढ़ने का कार्य कहीं अधिक अमूर्त होता है ।" अधिक व्यावहारिक आधार पर भी इस प्रविधि का साक्षर होना संभव प्रतीत होता है क्योंकि यह विश्वास करना कठिन है कि प्लैटो के 'रिपब्लिक' या अरस्तू के 'एनालेटिक्स' जैसे ग्रन्थों में जो जटिल एवं व्यापक तर्क-श्रृंखला प्रस्तुत की गई है वह मौखिक रूप में उद्भूत या सम्प्रेषित हो सकती थी, और उसे समझना तो शायद ही संभव होता ।

लेखन और तर्क-पद्धति में अधिक सीधे कारणात्मक सम्बन्ध का

भी काफ़ी विश्वस्त प्रमाण मिलता है। ग्रीक भाषा में 'एलीमेंट' अथवा तत्व के लिए वही शब्द प्रयुक्त होता है जो 'किसी वर्णमाला के एक अक्षर' के लिए। और प्लैटों ने अपनी 'राजनीतिज्ञ' नामक पुस्तक में अपने दर्शन के बुनियादी सिद्धान्तों की तुलना वर्णमाला से बच्चे के प्रथम परिचय से की है। इस तुलना का आधार यह है कि प्रत्येक सिद्धान्त उसी प्रकार अपरिमित विचारों की कुँजी है जिस प्रकार प्रत्येक अक्षर अपरिमित शब्दों के निर्माण में सहायक है। सुकरात ने भी कहा है कि "तत्व या अक्षर केवल बोध की वस्तु हैं और उनकी न परिभाषा की जा सकती है न उन्हें 'जाना' जा सकता है। लेकिन अक्षर-मालाएं या उनके सम्मिश्रण ज्ञातव्य होते हैं और उन्हें समझा जा सकता है।" इससे आगे उस चरण तक पहुँचना कठिन नहीं जिसमें वर्णमाला के अक्षरों का प्रयोग अरस्तू की तर्क-प्रणाली में सामान्य विचारों को रूपायित करने के लिए किया गया। किसी हेत्वनुमान की स्थापनाओं, तर्कों और निष्कर्षों की शृंखला का रूपायन अरस्तू के समय से ही वर्णमाला के अक्षरों की सहायता से होता रहा है।

अमूर्त श्रेणियों में विभाजन की यह प्रक्रिया जब किसी तर्क पर आरोपित न हो कर अनुभव के सभी तत्वों के, बौद्धिक गतिविधि के पृथक क्षेत्रों में विभाजन के लिए आरोपित की जाती है तो उसका परिणाम ग्रीकों द्वारा स्वायत्त ज्ञानात्मक विषयों का वह वर्गीकरण होता है जो अब तक पाश्चात्य संस्कृति में बद्धमूल है और जो साक्षर तथा असाक्षर संस्कृतियों में अन्तर स्पष्ट करने के लिए अनिवार्यतः सहायक है। इस दिशा में प्लैटो ने एक महत्वपूर्ण योगदान किया। उसने धर्मशास्त्र को ज्ञान का एक पृथक क्षेत्र निर्धारित करने के लिए तत्सम्बन्धी शब्द भी दिया और धारणा भी। प्रकृत विश्व और मानवीय जीवन से दैवी गुणों को इस प्रकार सर्वथा पृथक कर के देखने का उदाहरण असाक्षर समाजों में कहीं नहीं मिलता। इस तथ्य की उपेक्षा के कारण असाक्षर संस्कृतियों के गैर-अनुभववादी और धार्मिक-ऐन्द्रजालिक स्वरूप के बारे में काफी भ्रम फैला है। लेकिन यह उपेक्षा ही इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि साक्षर परम्पराओं ने कितनी गहराई से ग्रीस-प्रदत्त ज्ञान के वर्गीकरणों को

स्वीकार किया है।

लेकिन अपने गुरु सुकरात की सीख का प्लैटो पर जो गहरा प्रभाव था उसके कारण यह सम्भव नहीं था कि वह ज्ञान को अलग-अलग खंडों में विभक्त करने की बात दूर तक ले जाता। यह काम उसके शिष्य अरस्तू ने और उसकी विचारधारा वालों ने किया। ई० पू० ३२२ में अरस्तू की मृत्यु हुई। उस समय तक दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान, भाषा और साहित्य सम्बन्धी अधिकांश विभाजन स्थिर हो चुके थे और उन सब में तथ्यों का संकलन तथा वर्गीकरण व्यवस्थित रूप ले चुका था।

अरस्तू के साथ-साथ ज्ञान के क्षेत्र में मूल पद्धतियाँ और पृथक्करण पूर्णत: और अधिकांश मामलों में स्थायी रूप में स्थापित हो चुके थे। इसी प्रकार उनसे सम्बद्ध संस्थात्मक विकास भी हो चुका था। स्ट्रैबो के कथनानुसार, अरस्तू ही पहला व्यक्ति था जिसने पुस्तकों का संग्रह किया। उसी ने मिस्र के राजाओं को पुस्तकालय स्थापित करने की विधि सिखाई और यद्यपि पहले भी लोगों के पास अपने वैयक्तिक पुस्तक-संग्रह होते थे, अरस्तू का पुस्तकालय पहला यथेष्ट ज्ञात पुस्तकालय है। उसी के पुस्तकालय के लिए प्रयुक्त शब्द, अंग्रेजी के शब्द 'म्यूज़ियम' (संग्रहालय) का मूल है।

साक्षर संस्कृति : कुछ सामान्य विचार

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण में निश्चयपूर्वक यह कह सकना शायद ही सम्भव हो कि लेखन के प्रसार के बाद की शताब्दियों में ग्रीक संसार में जो प्रारम्भिक बौद्धिक परिवर्तन हुए उनके लिए वर्णमाला ने किस हद तक आवश्यक परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। जो प्रमाण उपलब्ध हैं उनके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस समस्या का कोई पूर्णत: संतोषप्रद समाधान निकल सकेगा। इसीलिए वर्तमान तर्क को इसी बात तक सीमित रखना पड़ेगा कि इतिहास में पहली बार एक समृद्ध शहरी समाज के उदय से, जिसके अन्तर्गत काफी लोगों को लिखना-पढ़ना आता था, ग्रीस में पाश्चात्य संस्कृति की आधारभूत विशेषताएं पुष्पित हुईं और इसीलिए समस्त वर्तमान

सभ्यता क्लासिकी ग्रीस के प्रति ऋणी है। लेकिन यह ग्रीक प्रतिभा का उतना प्रतिफल नहीं जितना असाक्षर और उन साक्षर समाजों में मूलभूत अन्तर का परिणाम है, जिन्होंने ग्रीक वर्णमाला और उसकी व्युत्पत्तियों को अपनाया। यदि यह ठीक है तो हमें असाक्षर और वर्णमालात्मक साक्षरता वाले समाजों द्वारा सांस्कृतिक दाय के सम्प्रेषण में अन्तर को स्पष्ट करने में और सहायता मिल सकेगी।

वर्णमाला के पठन और लेखन में सुगमता, सम्भवतः ग्रीस में राजनैतिक लोकतन्त्र के विकास में सहायक बनी। पाँचवीं शताब्दी में स्वतन्त्र नागरिकों में से अधिकांश, नियमों और कानूनों को पढ़ सकते थे और चुनाव तथा विधायन-कार्य में सक्रिय भाग ले सकते थे। इस प्रकार लोकतन्त्र को आज हम जिस रूप में जानते हैं वह आरम्भ से ही व्यापक साक्षरता से सम्बद्ध रहा है। यही बात ज्ञान के क्षेत्र के विषय में है जो राजनीतिक इकाइयों की सीमा से परे रहा है। ग्रीक युग में विभिन्न प्रकार के लोगों और देशों के लिए समान शासन-प्रणाली थी और लिखित शब्द के माध्यम से समान सांस्कृतिक दाय मिला हुआ था। इसलिए आधुनिक साक्षर विश्व की सार्वभौम बौद्धिक परम्परा के जितने निकट ग्रीस है, उतना पूर्व के प्राचीन साम्राज्य नहीं जिनमें प्रत्येक में ज्ञान की अपनी स्थानिक परम्परा थी।

फिर भी, यद्यपि बौद्धिक और कुछ हद तक राजनीतिक सार्वभौमता की धारणा ऐतिहासिक और तात्विक दृष्टि से साक्षर संस्कृति से सम्बद्ध है, हम यह बात आसानी से भूल जाते हैं कि उसके साथ अन्य ऐसी विशेषताओं का भी आगमन होता है जिनके बिल्कुल भिन्न निहितार्थ होते हैं और जिनके कारण कुछ हद तक यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शिक्षित लोकतन्त्र' और वास्तविक समतावादी समाज का चिर-प्रतीक्षित और सिद्धान्ततः व्यावहारिक स्वप्न क्यों नहीं सत्य बन पाता। पिछली डेढ़ शताब्दी में उदारवादी सुधारों की एक मूलभूत स्थापना जेम्स मिल की रही है जिसका विवरण उसके पुत्र जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी आत्मकथा में दिया है :

मेरे पिता जी को मानव-मन पर तर्क के प्रभाव के बारे में, यदि वह प्रभाव मुक्तरूप से पड़ने दिया जाये, इतना पक्का विश्वास था कि वे महसूस करते थे कि अगर पूरी आबादी को पढ़ना सिखा दिया जाय, और अगर मौखिक या लिखित रूप में सभी प्रकार के अभिमत इस तक पहुँच सकें, और अगर मताधिकार दे कर मानवता को अपनी राय को मूर्त रूप देने के लिए विधानमण्डल का चुनाव करने दिया जाए तो सभी प्रकार के अभीष्ट की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी।

मिल पिता-पुत्र के समय से अब तक उक्त सभी शर्तें पूरी हो चुकी हैं फिर भी, सम्पूर्ण अभीष्ट की उपलब्धि नहीं हो पाई है। इस कमी के कुछ कारणों की खोज के लिए हमें देखना होगा कि सांस्कृतिक दाय के सम्प्रेषण में साक्षरता का क्या योग रहा है और वह असाक्षर समाजों में ऐसे सम्प्रेषणों से किन अर्थों में समान या भिन्न रहा है।

कहा जाता है कि ग्रीस में सांस्कृतिक परम्परा के कुछ प्रमुख तत्त्वों को लिपिबद्ध करने से दो बातों की चेतना जाग्रत हुई : एक, वर्तमान से भिन्न अतीत की; और दूसरे, लिखित रूप में व्यक्ति को सांस्कृतिक परम्परा की जो तस्वीर मिली उसके अन्तर्गत जीवन में निहित विरोधाभासों की। तब से ये दोनों ही पक्ष और भी व्यापक हुए हैं और मुद्रण के प्रचलन ने इन्हें और भी धार दी है। जेफरसन ने लिखा है, "मुद्रक हमें पूर्ण विश्राम और मतैक्य की स्थिति में हर्गिज नहीं छोड़ेंगे।" और जैसे-जैसे पुस्तकों पर पुस्तकें तथा अखबारों पर अखबार निकलते जा रहे हैं, लोगों में तर्कसंगत सहमति और लोकतान्त्रिक सामंजस्य और भी दूर गायब होता जा रहा है। इनके स्थान पर प्लैटो का वह कथन कहीं अधिक संगत होता जा रहा है जिसमें उसने 'सरे-बाजार ज्ञान बांटने वाले भ्रष्टाचारियों' की चर्चा की थी।

लेकिन समग्र लिखित अभिव्यक्ति के विरोधाभासों का शायद उतना महत्व नहीं है जितना उसके विपुल परिमाण और ऐतिहासिक गहराइयों का है। जो लोग अतीत के समाज का अधिक एकीकृत एवं सधा हुआ नमूना पेश करना चाहते हैं उनके प्रयासों के आड़े

उक्त दोनों ही बातें आती हैं। प्रत्येक काल में पुस्तकों की होली मनाने वालों और अन्य अधिक आदरास्पद विचारकों की आपत्तियों के पीछे भी यही कारण हैं। उदाहरण के लिए जॉनैथन स्विफ्ट ने अपनी एक कृति में ऐसे लोगों का चित्रण किया है जो 'साक्षर नहीं हैं' और इसी लिए जिनकी सम्पूर्ण जानकारी 'परम्परागत' है। स्विफ्ट ने लिखा है कि यह मौखिक परंपरा इतने बड़े पैमाने पर प्रचलित थी कि "उससे स्मृति पर जोर दिये बिना ही ऐतिहासिक अंश आसानी से सुरक्षित बनाया जा सका।" यह बात साक्षर परंपरा के लिए सही नहीं है क्योंकि मौखिक सम्प्रेषण में ग्रहण अथवा तिरस्कार का जो क्रम सहज ही और अचेतन रूप में चलता रहता है वह साक्षर परम्परा में संभव नहीं है अतः उसमें सांस्कृतिक रंगपटल का क्रमिक विकास ही हो सकता है। लिखित परम्परा के अन्तर्गत सभी शब्दों को—और वैब्स्टर के शब्द-कोश में १४२,००० शब्द हैं—कोई शायद ही हृदयंगम कर सके। यह असीमित विस्तार भी सामान्यतः लिखित परम्परा की एक विशेषता है। साक्षर रंगपटल के आकार में ही यह अभिप्रेत है कि उसके अंतर्गत किसी एक व्यक्ति की जो भी सम्पूर्ण जानकारी है वह मौखिक संस्कृति के अंतर्गत उपलब्ध समकक्ष जानकारी की तुलना में अत्यल्प ही होगी। साक्षर समाज में तिरस्कार अथवा 'संरचनात्मक स्मृति-लोप' की कोई पद्धति नहीं है। केवल इसी कारण से भी व्यक्ति ऐसे समाज में समग्र सांस्कृतिक परंपरा में उस प्रकार पूर्ण भागीदार नहीं हो पाता जैसे कि वह असाक्षर समाजों में होता है।

साक्षर समाजों में असाक्षर समाजों की भाँति सांस्कृतिक परंपरा के संतुलित संगठन का अभाव क्यों है, इसका कारण यह है कि साक्षर समाज अनिवार्यतः सांस्कृतिक पिछड़ेपन की स्थिति से जूझता रहता है। उसमें सांस्कृतिक परंपरा लगातार विकसित होती रहती है और जिस सीमा तक व्यक्ति उससे प्रभावित होता है, उसके मनःपटल पर इतिहास के विभिन्न कालों और चरणों की आस्थाओं और दृष्टिकोणों की तहें जमती जाती हैं। यही बात समाज पर भी घटित होती है : प्रत्येक सामाजिक समूह की यह प्रवृत्ति होती है कि वह राष्ट्रीय विकास के विभिन्न कालों की विचार धाराओं से अपने

अपने ढंग पर प्रभाव ग्रहण करता रहता है । इस प्रकार व्यक्ति, तथा समूहों के लिए भी, अतीत की अथर्वत्ता अलग-अलग हो सकती है ।

व्यक्तिगत रूप में किसी बुद्धिजीवी या साक्षर विशेषज्ञ के लिए अतीत जो व्यापक परिदृश्य उपस्थित करता है उसमें चुनाव और खोज के लिए अपरिमित संभावनाएं होती हैं । लेकिन जब हम इस प्रकार की स्थिति के सामाजिक प्रभावों पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उससे संक्रमण की ऐसी समस्या उत्पन्न हो जाती है जिसका सामना पिछली शताब्दी से पश्चिम के कितने ही दार्शनिकों और लेखकों को करना पड़ा है । उदाहरणार्थ, वर्णमालात्मक संस्कृति में सामाजिक स्मृति-लोप के अभाव के कारण ही नीत्शे को कहना पड़ा कि हम आधुनिक लोग 'भटकते विश्व कोष' हैं जो वर्तमान में रहने या कार्य-सन्नद्ध होने में असमर्थ हैं और ऐसी 'ऐतिहासिक भावना' से आक्रान्त हैं जो जीवधारियों को क्षत-विक्षत करती है और अन्ततः समाप्त कर देती है, चाहे वह व्यक्ति हो, या समूह या सांस्कृतिक प्रणाली । यदि हम नीत्शे के विचारों को अतिवादी भी मान लें तो भी यह स्पष्ट है कि साक्षर व्यक्ति के सम्मुख सम्पूर्ण सांस्कृतिक रंगपटल में से चुनाव के लिए इतना व्यापक क्षेत्र है कि वह सांस्कृतिक परंपरा की अनुभूति उसकी क्रमबद्ध समग्रता में शायद ही कर सके ।

व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण से देखने पर सांस्कृतिक रंगपटल की अपरिमित विविधता और जटिलता स्पष्टतः बहुत बड़ी समस्यायें पैदा करती है । उदाहरणार्थ, पश्चिम के साक्षर समाजों की एक विशेषता यह होती है कि उनमें सांस्कृतिक परम्परा की अनेक परतें पाई जाती हैं । इसलिए उन्हें उस सांस्कृतिक द्वन्द्व के जटिलतर रूपों का सामना लगातार करना पड़ता है जिसके कारण मौखिक समाजों में, जबकि वे यूरोपीय सभ्यता के सम्पर्क में आए, ऐसी स्थिति पैदा हुई जिसमें व्यवहार और आस्था के सामान्य मानदण्ड कमज़ोर हुए या विलीन हो गए । ये ऐसे परिवर्तन थे जिनकी चर्चा राबर्ट रेडफील्ड ने मध्य अमरीका के अपने अध्ययनों में की है ।

वर्णमालात्मक संस्कृति के एक और परिणाम का सम्बन्ध सामाजिक स्तरीकरण से है । साक्षरता-पूर्व संस्कृतियों में उनकी वर्णमाला-

त्मक लेखन प्रणाली के कारण लेखकों और गैर-लेखकों के बीच चौड़ी खाई रहती थी । लेकिन यद्यपि 'लोकतांत्रिक' लिपियों के कारण यह अन्तर मिट गया उससे अन्ततः ऐसे अन्य अनेक ठोस व्यवधान उत्पन्न हो गए जो लोगों द्वारा पढ़ी जाने वाली सामग्री पर आधारित थे । स्पष्टतः आधुनिक समाजों में लिखने-पढ़ने के उपकरणों का प्रयोग, सामाजिक विभेदीकरण की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण धुरी है । और यह विभेदीकरण व्यावसायिक विशेषज्ञताओं के क्षेत्र में और भी बारीकी से प्रविष्ट है जिससे एक ही स्तर के सामाजिक-आर्थिक समूहों के साक्षर विशेषज्ञों में प्रायः कोई भी बौद्धिक सादृश्य नहीं दिखाई देता ।

तनाव की उपर्युक्त स्थिति का कारण केवल यही नहीं है कि साक्षर परम्परा में सभी लोगों को समान रूप में भागीदार होने का अवसर नहीं मिलता जिसका प्रभाव सामाजिक ढाँचे पर पड़ता है । स्वयं साक्षर संस्कृति के अंतर्गत भी सांस्कृतिक नवीकरण का मुख्य माध्यम परंपरा ही होती है क्योंकि नये मूल्यों और दृष्टिकोणों का सम्प्रेषण वैयक्तिक सम्पर्क द्वारा होता रहता है। यह क्रम स्पष्टत विभिन्न साक्षर परंपराओं की सम्प्रेषण पद्धतियों से मेल नहीं खाता । कुछ अर्थों में यह बहुत अच्छी बात है । उदाहारणार्थ आधुनिक जन-सम्पर्क उद्योगों की प्रवृत्ति सामान्यतः ऐसे विचारों का प्रचार करने की होती है जिनकी सार्थकता समाज के एक सीमित वर्ग के लिए ही होती है । ऐसे प्रचार का लक्ष्य व्यक्ति यदि एक या एकाधिक ऐसे समूहों का भी सदस्य न होता जिनमें कहीं अधिक यथार्थवादी और पारंपरिक दृष्टि से मौखिक विचार-विमर्श चलता रहता है, तो परिणाम और भी गम्भीर हो सकते थे । समग्र रूप में वर्तमान सांस्कृतिक परंपरा पर जो सामाजिक प्रभाव पड़ते हैं उनके अंतर्गत एक मात्र अथवा मुख्य प्रभाव जन-सम्पर्क माध्यमों का ही नहीं है ।

साक्षर विशेषज्ञ-वर्ग को छोड़, 'उच्च' साक्षर संस्कृति वाले लोग बुनियादी सामूहिक मूल्यों से और भी दूर जा पड़ते हैं । इससे एक अन्य प्रकार का सांस्कृतिक संघर्ष उत्पन्न होता है जिसकी पाश्चात्य सभ्यता के लिए बहुत सार्थकता है । उदाहरणार्थ, अगर हम विचार करें कि क्या कारण है कि सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा के बावजूद वे बौद्धिक,

सामाजिक और राजनैतिक परिणाम नहीं निकले जिनकी परिकल्पना जेम्स मिल ने की थी तो हम देखेंगे कि इसका कारण स्कूलों की सार्वजनिक साक्षरता की परंपरा और स्कूली बच्चों के परिवार वालों और अभिजात वर्ग की सर्वथा भिन्न और प्रायः प्रतिकूल परंपराएं हैं। साक्षर परम्पराओं का लाभ समाज के सभी वर्गों को समान रूप से नहीं मिल पाता। इसके फलस्वरूप समाज में ऐसा बुनियादी विभाजन हो जाता है जो असाक्षर समाज में संभव नहीं हो सकता : यह साक्षरता के विभिन्न रूपों और निरक्षरता के बीच विभाजन है। जैसा कि मार्गरेट मीड ने लिखा है, "प्रागैतिहासिक काल में शिक्षा वह कड़ी होती थी जो माता-पिताओं और बच्चों को एक सूत्र में जोड़े रहती थी......आधुनिक शिक्षा के अंतर्गत ऐसे कार्य पर जोर दिया जाता है जिससे एक सूत्रता भंग होती है...यह है असाक्षर व्यक्ति के बच्चों को साक्षर बनाना।" इसी प्रकार का और प्रायः और भी तीव्र अंतर, स्कूल और अभिजात वर्ग के बीच मिलता है। और इन दोनों स्थितियों में तात्विक अन्तर के अलावा भी, साक्षर पद्धतियों की प्रकृति के अंतर्गत ऐसे उपादान मौजूद हैं जिनके कारण ये पद्धतियां साक्षर और असाक्षर समाजों के बीच अन्तर मिटाने में अक्षम हैं।

पहली बात तो यह है कि यद्यपि वर्णमाला, मुद्रण और सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा के समन्वित प्रभाव से साक्षर संस्कृति सभी के लिए जितनी सुलभ आज है उतनी पहले कभी नहीं थी, तथापि सम्प्रेषण की साक्षर पद्धति ऐसी है कि उसका प्रभाव उतने सशक्त और समान रूप में नहीं होता जितना सांस्कृतिक परम्परा के मौखिक सम्प्रेषण द्वारा होता है। असाक्षर समाज में प्रत्येक सामाजिक स्थिति द्वारा व्यक्ति समूहों के विचारों, भावनाओं और क्रियाकलापों के सम्पर्क में अवश्य ही आता है क्योंकि उसे चुनाव सांस्कृतिक परम्परा अथवा ऐकान्तिकता के बीच करना होता है। लेकिन साक्षर समाज में 'उच्च' साक्षर परम्परा के परिमाण और जटिलताओं द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों के अलावा भी, इस तथ्य के कारण कि लिखना और पढ़ना ऐकान्तिक कार्य होता है, प्रमुखतः साक्षर सांस्कृतिक परम्परा से जी चुराना बहुत सरल हो जाता है। बर्था फिलपाट्स ने आइसलैंड के

साहित्य के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा है :

> मुद्रण से सभी लोगों के लिए लेखन इतना सुलभ हो जाता है कि हम प्रायः इस तथ्य की अनदेखी कर जाते हैं कि उसके कारण ज्ञान से कतरा जाना भी उतना ही आसान हो जाता है। इसके विपरीत, आइसलैंड में अपने झोपड़े में रहने वाला चरवाहा, उस साहित्य को सुनने से अपने आपको वंचित नहीं रख सकता जो किसानों के लिए रुचिकर होता है और जिसकी चर्चा प्रत्येक शाम उसके गाँव में होती है। परिणाम यह हुआ है कि वहाँ एक ऐसी वास्तविक राष्ट्रीय संस्कृति विकसित हुई है जो आज अन्य किसी भी राष्ट्र में नहीं पाई जाती।

इस प्रकार मौखिक संस्कृति की अपेक्षा साक्षर संस्कृति का परिहार कहीं अधिक आसान है। और जब ऐसा नहीं भी होता तो भी, उसका प्रभाव बहुत छिछला होता है। इसका कारण यही नहीं है, जैसाकि प्लैटो का कहना था, कि पठन का प्रभाव मौखिक सम्प्रेषण की अपेक्षा कम गहरा और स्थायी होता है, बल्कि यह भी है कि तार्किक पद्धति की अमूर्तता और ज्ञान-विज्ञान का अरस्तू द्वारा प्रदत्त वर्गीकरण व्यक्ति या सामान्य अनुभूतियों की पकड़ में सीधे नहीं आता। उदाहरणार्थ, तर्क-पद्धति की अमूर्तता का स्वरूप ही ऐसा है कि उसे व्यक्ति के सामाजिक अनुभवों और तात्कालिक वैयक्तिक संदर्भों की उपेक्षा करनी पड़ती है। इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान के वर्गीकरण से उन सम्बन्धों की उपेक्षा होती है जो व्यक्ति प्राकृतिक और सामाजिक परिवेश से स्थापित करता है या जिनका अनुसमर्थन करता है। साक्षर संस्कृति के अंतर्गत विशेषज्ञ की चिन्तन-पद्धति का अनिवार्यतः और मूलतः दैनंदिन जीवन और सामान्य अनुभव से वैषम्य होता है। इस वैषम्य का ही संकेत 'गुम-सुम प्रोफेसर' सम्बन्धी व्यंग्य-विनोदों की परम्परा से मिलता है।

निस्संदेह यह सच है कि वर्तमान शिक्षा की समस्यायें ठीक-ठीक अरस्तू-युगीन तर्क-पद्धति और वर्गीकरण के संदर्भ में व्यक्त नहीं की जातीं। लेकिन हमारे चिन्तन की सभी साक्षर पद्धतियों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा है। और शायद इसी अर्थ में हम न केवल मौखिक प्रत्युत साक्षरता-पूर्व समाजों के भी सांस्कृतिक दाय के सम्प्रेषण से

उसकी भिन्नता देख सकते हैं। इस प्रकार मार्सेल ग्रैवेट ने चीन की लेखन-पद्धति की प्रकृति का सम्बन्ध चीन के चिन्तन की 'परिशुद्धता' से जोड़ा है; और उसने चीन द्वारा मुख्य रूप से सामाजिक क्रिया और पारंपरिक मानदण्डों पर ध्यान केन्द्रित किए जाने का जो उल्लेख किया है उससे संकेत मिलता है कि वहाँ की लेखन-पद्धति का सांस्कृतिक प्रभाव उस रूढ़िवादिता की पुष्टि की दिशा में होता था जो असाक्षर संस्कृतियों में पायी जाती है; वस्तुतः वह कन्फ्यूशियन **ताओ तुंग** में अथवा 'पंथ के रूढ़िवादी सम्प्रेषण' में प्रत्यायित था। इस विषय में यह भी उल्लेख्य है कि तर्क और ज्ञान के वर्गीकरण के सम्बन्ध में चीन के दृष्टिकोण से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि किसी मौखिक संस्कृति में क्या घटित होता है। उदाहरणार्थ मेन्शियस की निम्नलिखित टिप्पणी में सामान्यतः असाक्षर दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है: "मैं केवल एक दृष्टि-बिन्दु पर जमे रहना इसलिए नापसंद करता हूँ कि वह 'ताओ' को आघात पहुँचाता है। उससे एक बिन्दु पर तो प्रकाश पड़ता है पर सैकड़ों की उपेक्षा हो जाती है।"

पाश्चात्य समाज में मौखिक और साक्षर स्थितियों के बीच सामाजिक तनाव बौद्धिक स्थिति द्वारा और भी तीव्र बनता है। हाल के वर्षों में बौद्धिक-वर्ग द्वारा मिथकों को अतार्किक अन्धविश्वास करार दिए जाने के साथ-साथ यह प्रयास भी किया गया है कि मिथकों की एकीकरण की प्रवृत्ति के समानांतर कोई आधुनिक स्थिति खोजी जा सके। डब्लू० बी० यीट्स ने लिखा है, "क्या सभी जातियों में पहली बार एकता मिथकों की उस परम्परा द्वारा ही नहीं आई जो उन्हें वन-पर्वतों से जोड़ते हैं?"

मिथकों के प्रति इस ललक को हम प्लैटो के बाद के अनेक लोगों में देख सकते हैं। उदाहरणार्थ, रूसो द्वारा प्रतिपादित 'महान असभ्य' की धारणा के अन्तर्गत जिन बातों की प्रशंसा की गई है उनमें मौखिक संस्कृति की सशक्त सजातीयता है, शिक्षितों द्वारा कृषक के सरल और समांग जीवन की ललक भरी सराहना है, कृषक के वर्तमान में जीवन-यापन की कालातीत सहजता है, विश्व के प्रति उसका तर्क-वितर्क विहीन स्वान्तः प्रेरित दृष्टिकोण और विश्व के

क्रिया-कलापों में उसका अविवेचित सहयोग है जिसके अंतर्गत इतिहास और पुराण अथवा अनुभव और कल्पना के बीच भिन्नता, समस्या के रूप में नहीं खड़ी होती। यूरोपीय कृषक की यह परंपरा वहाँ के साहित्य में सर्वेटीज़ के सैंको पैंज़ा से लेकर टालस्टाय के प्लैटन कराताएफ़ तक में देखी जा सकती है। ये दोनों ही चरित्र असाक्षर हैं। दोनों ही मौखिक ज्ञान के भंडार हैं। दोनों ही बौद्धिक असंगति की चिन्ता से मुक्त हैं। दोनों ही के अनेक मूल्य और मानदंड ऐसे हैं जो मौखिक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य साहित्य के दो सर्वोच्च कोटि के ग्रन्थों—'डान क्विक्ज़ोट' और 'वार एंड पीस' में स्पष्ट रूप से मौखिक और साक्षर तत्वों तथा परंपराओं की तुलना मौजूद है। डान क्विक्ज़ोट स्वयं पुस्तकों के पठन से पागलपन की हद तक प्रभावित होता है। कृषक कराताएफ़ के मुकाबले पियरे का नागरी चरित्र है जिसे पढ़ने में बेहद दिलचस्पी है। काराताएफ़ के बारे में तालस्ताय लिखता है :

"वह शब्दों का अर्थ या आशय संदर्भ से अलग नहीं समझ सकता था। उसका प्रत्येक शब्द और प्रत्येक कार्य उस क्रिया-कलाप का अंग होता था जो उसके लिए अज्ञात था, परन्तु जो उसका जीवन था। लेकिन जीवन को वह जिस रूप में समझता था, वह कोई पृथक सत्ता नहीं था। वह उस अंशी का ही एक अंश था जिसके प्रति वह सदा सजग रहता था।"

टाल्सटाय ने निस्संदेह आदर्शवादी चित्रण किया है। लेकिन विलोमतः अपने आदर्शवाद में भी उसने साक्षर संस्कृति के एक ऐसे प्रमुख पक्ष की ओर संकेत किया है जिसे हम ग्रीकों से सम्बद्ध देख सकते हैं : यह है व्यक्ति पर बल देना। काराताएफ अपने जीवन को 'पृथक जीवन' नहीं मानता। निस्संदेह असाक्षर समाजों के अलग-अलग लोगों के जीवनातिहासों में उल्लेख्य अंतर होता है। इस अन्तर को स्पष्ट करने के लिए प्रायः व्यक्तियों पर वैयक्तिक संरक्षकत्व अथवा अभिभावक आत्मा का आरोपण किया जाता है। लेकिन मौखिक संस्कृतियों में कुल मिला कर निजी अनुभूतियों का वैयक्तीकरण अपेक्षतया कम होता है और ऐसा नहीं होता जिसे, डर्कहाइम के शब्दों में, समान व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों से उत्पन्न

'यान्त्रिक एकात्मता' की संज्ञा दी जा सके। हाँ, उसे विभिन्न कार्यों में प्रवृत्त व्यक्तियों के पूरक सम्बन्धों की एक जटिल स्थिति अवश्य कहा जा सकता है। डर्कहाइम की ही तरह अनेक समाजशास्त्री साक्षर समाज में निजी अनुभव के इस बृहत्तर वैयक्तीकरण का सम्बन्ध अधिक विस्तृत श्रम-विभाजन से जोड़ना चाहेंगे। लेकिन इसका कोई एक ही स्पष्टीकरण नहीं है हालांकि लेखन और पठन की तकनीकों का काफी महत्व है। प्रथम तो वह औपचारिक सीमा-रेखा है जो वर्णमालात्मक संस्कृति द्वारा दैवी, प्राकृतिक और मानवीय व्यवस्थाओं के बीच खींची गई है। द्वितीय, साक्षर संस्कृति-जन्य सामाजिक भेदभाव हैं। तृतीय, अपरिमित व्यावसायिक बौद्धिक विशेषज्ञता का प्रभाव है, और अंतिम, लिखित साहित्य में से चुनाव के लिए असंख्य अवसर है। इन चारों ही बातों से, अनेक वैयक्तिक मामलों में, समग्रतः, एक ऐसी आत्यंतिक जटिलता उत्पन्न होती है जो एक ओर उपर्युक्त साक्षर स्थितियों और दूसरी ओर उन आदिम समूहों के चुनाव के कारण होती है जो व्यक्ति के परिवेश में मौजूद हैं।

जहाँ तक इस निजत्व की वैयक्तिक चेतना का प्रश्न है, निस्संदेह अन्य बातों का भी योगदान रहा है, लेकिन सबसे अधिक महत्व लेखन का ही (विशेषतः उसके सरलतर, लोक-प्रचलित रूप का) रहा है क्योंकि लेखन शब्दों को व्यक्त रूप दे कर और मौखिक पद्धति की अपेक्षा उन्हें और उनके आशयों को अधिक दीर्घकालिक तथा गहरी समीक्षा के लिए उपलब्ध करके वैयक्तिक विचारों को प्रोत्साहित करता है। डायरी या आत्म-स्वीकृति के कारण व्यक्ति अपने अनुभव को मूर्त रूप दे सकता है और इस प्रकार परवर्ती धटनाओं के कारण होने वाले स्मृति-भ्रम का निराकरण कर सकता है। और फिर यदि डायरी बाद में प्रकाशित कर दी जाय तो और अधिक संख्या में लोग उन भिन्नताओं की ठोस अनुभूति कर सकते हैं जो अन्य व्यक्तियों के जीवन-वृत्तों तथा उस वैयक्तिक जीवन के लिखित वृत्त में मिलती है जो अंशतः मौखिक सम्प्रेषण की समावेशन-कारी प्रक्रिया से पृथक रहा है।

डायरी का उदाहरण निस्संदेह एक अतिवादी उदाहरण है।

लेकिन स्वयं प्लैटो के 'संवाद' इस तथ्य के साक्षी हैं कि लेखन की यह आम प्रवृत्ति होती है कि वह व्यवहार में और उससे सम्बद्ध व्यक्ति में वैयक्तिक अन्तर की चेतना बढ़ाता है और उपन्यास, जो सेंट आगस्टिन, पेपीज़ और रूसो जैसे लेखकों की आत्मकथात्मक और आत्म-स्वीकारात्मक दिशाओं को ले कर चलता है और वास्तविक विश्व में व्यक्तियों के बाह्य तथा आन्तरिक जीवन को अभिव्यक्ति देता है,मिथकों और पुराणों की सामूहिक अभिव्यक्तियों का स्थान ले चुका है।

इस प्रकार मौखिक तथा वर्णमालात्मक, साक्षर संस्कृति के बीच सामान्य वैषम्य की दृष्टि से निस्संदेह प्लैटों के 'संवादों' और उपन्यास की भावना में साम्य है। दोनों ही प्रकार के लेखनों में साक्षर संस्कृति के विशिष्ट बौद्धिक प्रयासों की अभिव्यक्ति है और दोनों ही में उस प्रक्रिया का प्रस्तुतीकरण है जिसमें व्यक्ति अपनी संस्कृति के अन्तर्गत विचारों और दृष्टिकोणों में से कमोबेश सजग, कमोबेश निजी चुनाव या समायोजन करता है। प्लैटो और उपन्यास जैसी साक्षर संस्कृति की विशिष्ट साहित्यिक विधा के बीच उस सामान्य अनुरूपता से मौखिक और साक्षर समाजों के बीच वैषम्य का और भी संकेत मिलता है। असाक्षर लोगों के बीच सांस्कृतिक परंपरा के समस्थायी सम्प्रेषण की तुलना में साक्षर समाज अपने सदस्यों के लिए कुछ अधिक छोड़ता है; उसकी सांस्कृतिक परंपरा में समरूपता अपेक्षाकृत कम होती है। अतएव वह व्यक्ति को अधिक स्वच्छंदता देती है, विशेषत: बौद्धिकों को, साक्षर विशेषज्ञों को। ऐसा वह जीवन की किसी एकमात्र, तत्काल प्रस्तुत स्थिति की बलि चढ़ा कर करती है। और जिस हद तक व्यक्ति मौखिक संस्कृति से स्पष्टत: भिन्न किसी साक्षर संस्कृति का भागीदार होता है, उसके द्वारा उपलब्ध सामंजस्य बहुत हद तक बहुविध सांस्कृतिक रंगपटल में से उसके निजी अस्वीकरण, चुनाव और समायोजन का परिणाम होता है। निस्संदेह उस पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है लेकिन वे इतनी अनगिनत होती हैं कि अन्त में वह प्रभाव वैयक्तिक रूप ही धारण करता है।

इस विषय पर तथा अन्य सम्बद्ध बातों पर और भी कई प्रकार

से प्रकाश डाला जा सकता है। उदाहरण के लिए वैषम्य का क्षेत्र आज की परिस्थितियों का विश्लेषण करके बढ़ाया जा सकता है जब कि सम्प्रेषण और संचार के नये साधन विकसित हो गए हैं, यथा रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन आदि। ये सब सामाजिक नवीकरण के अभिकरणों के रूप में और भी प्रभावी हैं क्योंकि उनके लिए लेखन या वाचन की अमूर्तता और ऐकान्तिकता अपेक्षित नहीं है। दूसरा ओर, उनमें लगभग वैसी ही प्रत्यक्ष वैयक्तिक अंतर्क्रिया अभिनिहित है जो मौखिक संस्कृतियों की विशेषता है। यह भी संभव है कि समय और स्थान की सीमाओं से परे, ये श्रव्य-दृश्य साधन एक नये प्रकार की संस्कृति को जन्म दें जो सम्भवतः साक्षर संस्कृति से कम अंतर्मुखी और वैयक्तिक हो और जो मौखिक समाज की पारस्परिकता तो नहीं परन्तु सापेक्ष्य सजातीयता के अनुरूप हो।

परन्तु उस दिशा में कल्पना की और उड़ानें इस निबन्ध की सीमा से बाहर की बातें हैं। अब केवल इस बात पर संक्षेप में विचार करना शेष रह जाता है कि समस्या जिस रूप में आरम्भ में उठाई गई थी उससे सम्बद्ध सामान्य तर्क-प्रक्रिया का निरूपण किया जाय। इस संदर्भ में विचार यह करना है कि जिन विषयों का सम्बन्ध मुख्यतः असाक्षर और साक्षर समाजों के विश्लेषण से है उनमें क्या अन्तर है। ये विषय हैं: मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र।

असाक्षर और वर्णमालात्मक संस्कृतियों के बीच वैषम्य के एक पक्ष द्वारा मानव-विज्ञान के विकास की एक मुख्य प्रवृत्ति के स्पष्टीकरण में सहायता मिल सकती है क्योंकि मानव-विज्ञान ने १९वीं शताब्दी में नृवंश-केन्द्रित होने के बाद जो प्रगति की है, अंशतः उसका कारण उन बातों में से एक के प्रति बढ़ती हुई चेतना है जिनका निरूपण ऊपर किया जा चुका है: यह है इस बात की चेतना कि मौखिक समाजों की संस्कृति में, उसकी भाषा, उसकी तर्क-पद्धति और ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के अंतर्सम्बन्धों में, गैर अरस्तूवादी आदर्श किस हद तक बद्धमूल हैं। इस समस्या पर कई दृष्टिकोणों से विचार किया गया है और शायद विशेष उल्लेख्य डॉरोथी डी० ली द्वारा पाश्चात्य संस्कृति में यथार्थता के क्रमबद्ध,

संहिताकरण और ट्रोब्रायन्ड द्वीपवासियों के 'क्रमरहित' संहिताकरण की तुलना है। और यद्यपि अरस्तू का जिक्र इस संदर्भ में नहीं किया गया है, तथापि उसकी विश्लेषणात्मक, सोद्देश्य एवं तर्क-परक विचारधारा को उन दृष्टिकोणों में देखा जा सकता है जिन्हें डोरोथी ली ने ट्रोब्रायन्डरों की तुलना में विशिष्ट साक्षर विचार-पद्धतियों के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार के वैषम्य को बेन्जामिन ली वोर्फ ने होपी और मानक औसत यूरोपियन की तुलना करते हुए दिखाया है। उसके अनुसार, यूरोपियनों की 'यान्त्रिक विचार-पद्धति' का निकट सम्बन्ध उस भाषा के विन्यास से है जो वे बोलते हैं और उसे "अरस्तू तथा उसके परवर्ती मध्यकालीन एवं आधुनिक अनुयायियों द्वारा और अधिक जड़ बना दिया गया है।" प्रकृति के विभागीकरण का कार्यतः व्याकरण से सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ, न्यूटन की स्थान, काल और पदार्थ की धारणा का प्रत्यक्ष श्रोत मानक औसत यूरोपीय संस्कृति और भाषा है। वोर्फ इस स्थापना की पुष्टि में यह भी कहता है कि "समय सम्बन्धी हमारी वस्तु-परक धारणा ऐतिहासिकता के अनुकूल है तथा उस सबके अनुकूल है जिसका सम्बन्ध अभिलेख रखने से है जबकि होपी दृष्टिकोण इन सबके प्रतिकूल है।" और इस तथ्य से वह निम्नलिखित बातों की उपस्थिति को संयुक्त करता है :

१. अभिलेख, डायरी, खाते, लेखा तथा लेखा द्वारा प्रेरित गणित।
२. सही अनुक्रम, तिथियां, समय-सारणियां, काल-क्रम, घड़ियां, समयानुसारी वेतन, समय ग्राफ और भौतिक विज्ञान में प्रयुक्त समय।
३. इतिवृत्त, इतिहास, ऐतिहासिक प्रवृत्तियां, अतीत में रुचि, पुरातत्व, अतीत काल के प्रति जिज्ञासा का दृष्टिकोण यथा कलासिकी और रोमानवाद।

इनमें से अनेक विशेषताएं वे हैं जिनका उल्लेख हमने उन समाजों की विशिष्टताओं के रूप में किया है जिनमें लेखन की सरल और व्यापक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लेकिन जब कि वोर्फ़ और अन्य मानव-विज्ञानी भाषाविदों ने इन वैषम्यों का उल्लेख यूरोपीय समाजों और वर्गों तथा ट्रोब्रायन्ड एवं होपी समाजों के बीच अन्तर को

ध्यान में रख कर किया है, उन्होंने इन विषमताओं को स्वयं भाषाओं से सम्बद्ध करने की प्रवृत्ति दिखाई है और सम्प्रेषण की पद्धतियों पर, यथा साक्षरता के वास्तविक सामाजिक परिणामों पर, उतना बल नहीं दिया है जितना देना चाहिए था।

दूसरी ओर, साक्षरता और उसके फलस्वरूप ग्रीक विचारधारा के विकास के सम्बन्ध में, जिसके परिणामस्वरूप तार्किक पद्धतियों और अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट वर्गीकरणों का विकास हुआ, जो कुछ कहा गया है वह एक ही व्यक्ति और उस सभ्यता पर आरोपित लगता है जिसका वह भाग था। यह बौद्धिक मान्यता का ऐसा दावा है जिसे कोई भी दार्शनिक, मानव-विज्ञानी या प्राचीन सभ्यता का इतिहासकार स्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार की आम धारणा के प्रचलन के कारण ही जान लाक को यह व्यंग्य करना पड़ा : "ईश्वर इतना कंजूस नहीं था कि वह लोगों को दोपाया न बनाता और उन्हें तार्किक बनाने का दायित्व अरस्तू पर छोड़ देता।" तथापि, स्वयं लाक ने 'तर्क के रूपों' और 'विज्ञानों के विभाजन' की चर्चा करके उन परम्पराओं को स्वीकार किया है जो अरस्तू और उसके समय से चली आ रही थीं। इसी प्रकार कुछ महत्वपूर्ण दृष्टियों से न केवल पाश्चात्य बल्कि अन्य देशीय आधुनिक साक्षर संस्कृतियों ने भी उन परम्पराओं को स्वीकार किया है। स्पष्टतः मानवीय ज्ञान के व्यवस्थित रूप में कुछ ऐसी सम्पूर्ण अमोघता है जो लगभग सम्पूर्ण साक्षर प्राथमिक संस्कृति की विचार-पद्धतियों में अभिव्यक्त होती है यद्यपि उसकी परिभाषा कठिन है और इस निबन्ध की सीमा से बाहर है। मैक्स वेबर ने पाश्चात्य सभ्यता के अनिवार्य विशिष्ट तत्व के रूप में उसकी संस्थाओं की 'औपचारिक तार्किकता' को माना है और उसे उसने सामान्य मानव की विवेक-संगत ढंग से कार्यशील होने की प्रकृति का अधिक विकसित अथवा अधिक ऐकान्तिकता से व्यवहृत रूप माना है। वेबर के अनुसार 'औपचारिक तार्किकता' इस सामान्य प्रवृत्ति का एक संस्थागत रूप ही है जो 'विवेकसंगत ढंग से निर्धारित प्रतिमानों, कानूनों, आदेशों और नियम-विनियमों' के ज़रिये क्रियाशील होता है न कि व्यक्तिगत, धार्मिक, पारंपरिक या करिश्माई वफादारियों के

ज़रिए। वेबर का प्रभेद कुछ हद तक उस प्रभेद के समान है जो मौखिक और वर्णमालात्मक संस्कृतियों के बीच है और उसने अनेक स्थलों में इस निबन्ध में ऊपर दिए गए तर्कों का पूर्वानुमान प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार वर्तमान अध्ययन में एक बहुत आम समस्या को एक विशेष दृष्टिकोण से देखने-परखने का प्रयास किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में मानव-विज्ञान और समाजशास्त्र की तुलना के सिलसिले में प्रायः जो कुछ कहा जाता है उसके लिए एक कारण मिल जाता है। यह कारण है मानव-विज्ञान के मुकाबले समाज-शास्त्रीय विश्लेषण की अपूर्णता और यूरोपीय समाजों का अध्ययन करने वाले मानव-विज्ञानियों की केवल ग्रामसमुदायों अथवा पारिवारिक समूहों तक अपने प्रेक्षण को सीमित रखने की प्रवृत्ति; क्योंकि सामाजिक ढांचों की परिमितता और जटिलता में अन्तर के अलावा भी, विश्लेषण के दो और आयाम भी हैं जिनकी व्यवहारतः मानव-विज्ञानी द्वारा प्रायः उपेक्षा की जा सकती है, यद्यपि साक्षर समाजों के अध्येता ऐसा नहीं कर सकते।

प्रथम तो अतीत को लिखित रूप में मूर्त करने का अर्थ यह है कि समाजशास्त्र को अनिवार्यतः इतिहास से गहरा सम्बन्ध रखना होगा। इस संदर्भ में जो व्यावहारिक या शास्त्रीय प्रश्न उठ खड़े होते हैं वे अपरिमित हैं क्योंकि ऐतिहासिक आयाम का प्रचुर महत्व होने से, जिसका विभिन्न सामाजिक समूहों पर बहुत भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है, पद्धति सम्बन्धी जटिल समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। सामान्यतम स्तर पर समाजशास्त्री द्वारा प्रयुक्त विश्लेषणात्मक पद्धति को यह ध्यान में रखना होगा कि एक दृष्टि से उसके तथ्यों के अन्तर्गत वह सामग्री होती है जो अतीत की संस्कृतियों और कालों से एकत्र की गई है और इस प्रकार की लिखित सामग्री द्वारा उस समाज के सदस्यों में वैकल्पिक विचार धाराओं और आचरणों की संभावनाएं बढ़ जाती हैं जिसका समाज शास्त्री अध्ययन करना चाहता है। अन्य अनेक प्रकार से भी यह सामग्री समाज के सदस्यों के क्रिया-कलाप को प्रभावित करती है। इन अतिरिक्त जटिलताओं का अर्थ यह है कि अतीत के कुछ पक्ष

वर्तमान के लिए संगत बने रहते हैं (या कम से कम वैसी सम्भावना बनी रहती है।) इसका यह भी अर्थ है कि जब कार्यात्मक शास्त्रीय नमूनों का प्रयोग होता है तो अंतर्संबंध शायद ही उतने प्रत्यक्ष या तात्कालिक हों जिसकी आशा मानव-विज्ञानी असाक्षर समाजों में कर सकता है।

द्वितीय, समाजशास्त्री को हर हालत में यह महसूस करना होगा कि चूँकि वर्णमालात्मक समाज में मौखिक परंपरा का अधिकांश समस्थायी कार्य अंतर्मुखी और व्यवित-निष्ठ होता है, न कि बहुर्मुखी और सार्वजनिक, अतः समाजशास्त्रीय विवरण, जिनका संबंध अनिवार्यतः और मुख्यतः सामूहिक जीवन से होता है, मानव-वैज्ञानिक विवरणों की अपेक्षा कम पूर्ण होते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनके द्वारा समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति के आचरण को समझने के लिए कम निश्चित मार्गदर्शन मिलता है।

सारांश

हाल के मानव-विज्ञान ने यह उचित ही किया है कि 'आदिम' और 'सभ्य' मानवों तथा 'पौराणिक' और 'तार्किक' विचार-पद्धतियों के बीच निश्चित अन्तर की बात अस्वीकार कर दी है। लेकिन इस प्रतिक्रिया पर अनावश्यक जोर दिया गया है और विकीर्ण सापेक्षवाद तथा मानवात्मक सर्वात्मवाद के मिले-जुले प्रभाव के कारण मानव-इतिहास की कुछ अत्यधिक मूलभूत समस्याओं की उपेक्षा हो गई है। जब कभी जटिल और सरल समाजों की सांस्कृतिक परंम्पराओं में बौद्धिक प्रभेद को समुचित स्वीकृति दी भी गई है, तो स्पष्टीकरण असन्तोषजनक रहे हैं। उदाहरण के लिए पाश्चात्य सभ्यता के संदर्भ में मूल उत्स की खोज के लिए ग्रीक प्रतिभा की प्रकृति की ओर, भारोपीय भाषाओं की वैयाकरणी संरचना की ओर अथवा ताम्र युग की तकनीकी प्रगति और सम्बद्ध श्रम-विभाजन की ओर, जो कुछ अधिक संगत है, देखा जा सकता है।

लेकिन हमारा विचार है कि इस तथ्य की ओर अयथेष्ट ध्यान दिया गया है कि प्राचीन निकटपूर्व में शहरी क्रान्ति से एक ऐसा

आविष्कार हुआ—लेखन का आविष्कार—जिसने सांस्कृतिक परम्परा के पूरे ढाँचे को बदल दिया। इससे यह सम्भावना उजागर हो गई कि मानव-सम्पर्क अब केवल मौखिक संलाप की अस्थायी पद्धति तक सीमित नहीं रहेगा। लेकिन चूँकि लेखन की प्राथमिक पद्धतियों की जानकारी दुस्साध्य होती थी, उनका प्रभाव अपेक्षतया सीमित था। परन्तु जब बाद में वर्णमालात्मक लेखन की सरलता और लचीलेपन के फलस्वरूप व्यापक साक्षरता सम्भव हुई तो पहली बार ईसा से ७ शताब्दी पूर्व के ग्रीक संसार में एक ऐसे समाज ने मूर्त रूप लिया जो वास्तविक रूप में साक्षर था और ऐसी अनेक संस्थाओं की नीव पड़ी जो बाद के सभी साक्षर समाजों के लिए संस्थाओं का नमूना बनीं।

लेखन की एक आसान पद्धति का विकास (जो लेखन सामग्री तथा प्रयुक्त चिन्हों की दृष्टि से भी सरल थी) ग्रीक उपलब्धियों के लिए एक आवश्यक सुविधा से कुछ अधिक महत्वपूर्ण था। उससे ग्रीक संसार की सम्पूर्ण प्रकृति और बुनियादी तौर-तरीकों के विकास पर प्रभाव पड़ा। मौखिक समाजों में सांस्कृतिक परम्परा प्रायः पूर्णतः प्रत्यक्ष वैयक्तिक संलाप द्वारा सम्प्रेषित होती है। उसकी विषय-वस्तु में परिवर्तन के साथ-साथ अनावश्यक और असंगत अंशों के विस्मरण या रूपान्तरण की समस्थायी प्रक्रिया चलती रहती है। उधर साक्षर समाज इसी रूप में अतीत का परित्याग, संनिवेशन या सम्प्रेषण नहीं कर सकते। इसकी जगह उनके सदस्यों के सामने अतीत और उनके विश्वासों के स्थायी रूप में लिखित रूप होते हैं। और चूँकि अतीत इस प्रकार वर्तमान से पृथक कर दिया जाता है, ऐतिहासिक खोज सम्भव हो सकती है। इससे संदेहवाद का जन्म होता है जिसका लक्ष्य न केवल दंतकथाओं वाला अतीत होता है बल्कि सृष्टि के सम्बन्ध में प्रदत्त धारणाएं भी होती हैं। इसके बाद का कदम है यह देखना कि विभिन्न वैकल्पिक स्पष्टोकरणों की संरचना किस प्रकार करना और उन्हें किस प्रकार कसौटी पर कसना है। इससे छठी शताब्दी के आयोनिया की तार्किक विशेषज्ञतावादी और समेकित बौद्धिक परम्परा का जन्म हुआ। तार्किक पद्धति के लिए जिस प्रकार का विश्लेषण अभीष्ट

होता है उसके और तार्किक प्रक्रिया के अन्य रूपों के लिए लेखन पर निर्भरता आवश्यक होती है— वस्तुतः ऐसा लेखन, जो इतना सरल और प्रचलित हो कि उसके परिणामस्वरूप मौखिक वक्तव्यों को व्यापक रूप में लिखित रूप देना और फिर उनकी समीक्षा करना सम्भव हो सके। यह मुमकिन है कि लेखन के लिए केवल विश्लेषणात्मक पद्धति यथेष्ट हो और लेखन का कार्य इतना ही हो कि वह स्वरों और विन्यास को मूर्त रूप दे दे जिससे उन विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों को विधिवत् पृथक् इकाइयों में विभक्त करना सहज बन जाये जिनकी अविभाजित सम्पूर्णता उस 'रहस्यात्मक सहभाग' का अनिवार्य आधार होती है जिसको लेवी ब्रूल ने असाक्षर लोगों के चिन्तन की विशेषता बताया है।

एक ऐसी समस्या, जिसका समाधान न लेवी ब्रूल कर सका है और न 'आदिम' तथा 'समय' चिन्तन के बीच सीमा रेखा खींचने वाला अन्य कोई विद्वान, यह है कि आधुनिक साक्षर समाजों में 'अतार्किक चिन्तन' अब भी पाया जाता है। लेकिन हमें इस तथ्य का सामना करना है कि हमारी सभ्यता में लेखन स्पष्टतः मौखिक सम्प्रेषण का विकल्प न हो कर सम्प्रेषण के साधनों में से एक अतिरिक्त साधन है। हमारी आज की विकसित संस्कृतियों में भी बच्चे का लालन-पालन और ऐसे ही अन्य अनेक कार्य, चाहे वे परिवार तक सीमित हों या परिवार से बाहर के हों, वार्तालाप पर निर्भर करते हैं और पाश्चात्य संस्कृतियों में लिखित तथा मौखिक परम्पराओं के बीच सम्बन्ध एक बड़ी समस्या बना रहेगा।

इन सब बातों के आधार पर साक्षरता के परिणामों पर विचार करने से न केवल ग्रीक उपलब्धियों की प्रकृति पर, बल्कि सरल और जटिल समाजों के बीच बौद्धिक प्रभेदों पर भी प्रकाश पड़ता है। निस्संदेह अन्य अनेक परिणामो पर भी हमने विचार नहीं किया है, उदाहरणार्थ केन्द्रीकृत शासन-प्रणाली में और अन्य राज-तन्त्रों के संगठनों में लेखन का योगदान। हमारा उद्देश्य मुख्य रूप से यह रहा है कि साक्षरता के कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक और कार्यात्मक परिणामों पर सामान्य रूप में विचार प्रस्तुत किए जायें।

पारम्परिक चीन और भारत में साक्षरता के निहितार्थ

अगले निबन्ध में डा० गफ़ ने भारत और चीन के सन्दर्भ में 'साक्षरता के परिणाम' में दिए गए सुझावों पर विचार किया है। उन्होंने बताया है कि हम यथेष्ट की बजाय आवश्यक कारणों पर विचार कर रहे हैं। हम इससे पूर्णतः सहमत है और हमें संदेह है कि ऐसे कोई 'यथेष्ट कारण' हैं जिनके द्वारा मानव आचरण के सश्लिष्ट पक्षों का स्पष्टीकरण संभव है।

उन्होंने हमारी मूल स्थापना में कुछ परिवर्तनों का भी सुझाव दिया है जिन पर हमने भूमिका में विचार किया है। हमने चीन की लेखन-पद्धति की कठिनाइयों को कुछ बढ़ा-चढ़ा कर बताया और उसकी साहित्यिक संस्कृति की उपलब्धियों का घटा हुआ अनुमान लगाया। जहाँ तक वर्णमालात्मक संस्कृतियों का सम्बन्ध है, इस पुस्तक का एक केन्द्रीय विषय यह है कि उन बातों पर अधिक गहराई से विचार करने की आवश्यकता है जो लेखन के प्रयोग को संख्यात्मक तथा साहित्यिक कृतियों के परिचालन की दृष्टि से सीमित करती हैं।

डा० गफ़ ने हमारे पहले वाले निबन्ध पर कई टिप्पणियाँ की हैं जिनसे उनमें उठाई गई समस्याओं के स्पष्टीकरण में सहायता मिलती है। उनका सुझाव है कि आधिभौतिक और आधिदैविक के बीच पूर्ण वैधता आधुनिक काल में प्रायौगिक विज्ञानों के आरम्भ से पहले नहीं उत्पन्न हुई। यह अन्तर स्पष्टतः क्रमिक रहा है। उन्होंने यह भी संकेत किया है कि निस्संदेह लिखित समूहों से विलोपन का क्रम भी चलता रहता है। साक्षर मध्यपूर्व के इतिहास के बड़े भागों के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है क्योंकि पाण्डुलिपियाँ लुप्त हो गई हैं। इसी के साथ मौखिक सामग्री का प्रचलन शताब्दियों तक

अपरिवर्तित रूप में जारी रह सकता है । फिर भी लेखन हमें संग्रह की जो विभिन्न क्षमताएं प्रदान करता है उससे ताम्र युग से अब तक की मानव की महान् प्रगति में उसके महत्वपूर्ण योगदान का औचित्य सिद्ध हो जाता है । और यह केवल क्षमता का ही प्रश्न नहीं है क्योंकि जो भी सामग्री सुरक्षित बनती है वह अपेक्षतया अनश्वर होती है ।

लोकतन्त्र सम्बन्धी उनका कथन उपयुक्त है यद्यपि हम केवल सरकार से बड़े पैमाने पर और विवेकयुक्त सहयोग की बात सोच रहे थे । इस संदर्भ में साक्षरता अनिवार्य शर्त प्रतीत होती है । जब हमने लेखन की उस प्रवृत्ति पर विचार किया जो 'बड़े पैमाने पर उस सामग्री के आधार पर कमावेश मूर्त प्रभेद उत्पन्न करता है जिसे पढ़ा जाता है' और जब हमने पृथक्करण की समस्या पर विचार किया (जिसके अंतर्गत हमने साक्षरता को केवल एक तत्व बताया) तो हम प्रमुखतः वर्गों या किसी प्रकार के सुस्पष्ट सामाजिक स्तरों की बात नहीं सोच रहे थे। वैयक्तीकरण, पृथक्करण और विशिष्टत्व से, जिसके विषय में हम सोच रहे थे, हमारा आशय उस क्षमता से था जो व्यक्ति को पठन द्वारा प्राप्त होती है ताकि वह स्थान और काल की सीमाओं से परे अपने अनुभवों को प्रेषित कर सके और इस प्रकार ऐसे बौद्धिक इतिहास को प्रस्तुत कर सके जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रायः क्रान्तिकारी रूप में, भिन्न हो । हमेशा की तरह स्पष्टतः इसके लिए भी साक्षरता एक शर्त है । हम मानव-व्यवहार के अटूट स्पष्टीकरणों की खोज नहीं करते और हम साक्षरता को पूँजीवाद या नौकरशाही के विरुद्ध वैकल्पिक कारणों के रूप में देखने का विरोध करेंगे । लेकिन हमें यह अवश्य प्रतीत होता है कि माध्यम की प्रकृति में परिवर्तन, व्यक्ति के अनुभव के लिए महत्वपूर्ण होता है।

पारम्परिक भारत और चीन में साक्षरता के निहितार्थ

कैथेलीन गफ़

गूडी और वाट द्वारा प्रस्तुत स्थापनाओं के परीक्षण और निर्वचन के लिए आवश्यक है कि बड़ी संख्या में विभिन्न समाजों में साक्षरता के उपयोग का विवरण प्राप्त किया जाय। भारत और चीन की तुलना के प्रकाश में मैं पहले उनके सुझावों पर सामान्य स्तर पर विचार करूंगी। बाद के एक अध्याय में मैंने दक्षिण भारत में केरल के राज्यों में १६ वीं शताब्दी के आरम्भ से १८ वीं शताब्दी के मध्य तक साक्षरता के उपयोग का विवरण दिया है और अंत में आधुनिक केरल में साक्षरता के उपयोग और निहितार्थों में कुछ परिवर्तनों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है।

व्यापक साक्षरता

आरम्भ में 'व्यापक साक्षरता' के आशय के बारे में कठिनाई उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए क्या मौर्य और गुप्त साम्राज्यों अथवा हान या शुँग कालीन चीन की अपेक्षा छठी शताब्दी के आयोनिया या पाँचवीं शताब्दी के ऐटिका में साक्षरता अधिक व्यापक थी ? अगर यह मान भी लिया जाय कि ई० पू० पाँचवीं शताब्दी के अधिकांश ग्रीक नागरिक पुस्तक-पाठी थे, फिर भी यह अनिश्चित है कि अ-नागरिकों में साक्षरता कितनी व्यापक थी। मैकनील ने बेलाक और गोम के संदर्भ से निष्कर्ष निकाला है कि "एथेन्स में वयस्क पुरुष नागरिकों की संख्या सम्भवतः २,५०,००० और ३,५०,००० के बीच थी जिनमें से आधे से कुछ कम गुलाम और मताधिकार-रहित विदेशी थे।" क्लासिकी ग्रीस में अधिकांश

स्त्रियाँ असाक्षर थीं। अतएव यह सम्भव है कि चौथी या पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में गुप्तकालीन भारत में या मौर्य साम्राज्य के मध्यवर्ती भागों में (ई० पू० की चौथी और तीसरी शताब्दी में) साक्षर व्यक्तियों का अनुपात, कम से कम राजधानियों के इर्द-गिर्द, उतना ही ऊँचा था।

इन साम्राज्यों में और बाद में मध्यकालीन भारत में ऐसा प्रतीत होता है कि साक्षरता समाज के दो उच्चतर वर्गों के बीच काफी व्यापक थी। वे थे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्ग। साक्षरता सम्भवत: मध्यवर्गीय वैश्यों में भी व्यापक थी क्योंकि आरम्भिक अभिलेखों में धनवान व्यापारियों और कारीगरों द्वारा धर्मार्थ दान का उल्लेख है। इसके अलावा व्यापारी वर्ग ने ही बौद्ध और जैन धर्म को अपनाया और वैदिक साहित्य तथा कर्मकांड का बहिष्कार किया। उन्होंने देशी भाषाओं में धार्मिक साहित्य का प्रचार-प्रसार भी किया। इन तीनों उच्च जातियों अथवा 'द्विजों' की निस्संदेह वैध रूप में हिन्दू, जैन तथा बौद्ध लेखनों तक पहुँच थी और वे जब चाहें, उनका उपयोग कर सकते थे।

चौथा वर्ग शूद्रों का था। वे अछूत माने जाते थे और उन्हें नियमत: धन-संग्रह करने या वेदों को पढ़ने-सुनने की मनाही थी। यह संभव है कि प्राचीन और मध्यकालीन उत्तर भारत में भी शूद्र और अस्पृश्य अधिकांशत: अपढ़ रहे हों। फिर भी प्राचीन काल में उत्तर भारत में कुछ शूद्रों ने सम्पत्ति प्राप्त की और यद्यपि उन्हें वेद पढ़ने का निषेध था, वे बाद के महाकाव्यों और पुराणों का अध्ययन कर सकते थे और मौर्य काल के बाद का भक्ति सम्बन्धी देशी भाषाओं का साहित्य पढ़ने की उन्हें छूट थी। उधर दक्षिण भारत में पहली से चौथी शताब्दी तक के आरम्भिक तमिल राज्यों के शूद्र वर्ग के कवियों का सम्मान किया जाता था। दसवीं से १२ वीं शताब्दी के चोलवंशीय तमिल राज्यों में भी ऐसी ही स्थिति थी।

यद्यपि संख्यात्मक अनुमान लगाना सम्भव नहीं है, यह हो सकता है कि उत्तर और दक्षिण में भी नदियों द्वारा सिंचित प्रदेशों में पनपे साम्राज्यों में उनके स्वर्णकाल में शायद पुरुषों में से आधे लोग और स्त्रियों का पाँचवा या छठा भाग साक्षर था। जैसा कि बाद

में जिक्र किया जायगा, १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में केरल के राज्यों में, जहाँ कृषि वर्षा पर निर्भर होती थी और समुद्रपार व्यापार प्रचलित था, साक्षरों का अनुपात शायद और भी ऊँचा था।

ग्रीस की तरह भारत में लेखन की तेज प्रगति हुई और लेखन-सामग्री आसानी से सुलभ थी। इसके अन्तर्गत प्रमुखतः सिझाये हुए ताड़-पत्र, भोज-पत्र तथा कपास, रेशम, बाँस की छाल या लकड़ी की लुगदी से तैयार सामग्री होती थी। उत्तरी और मध्यवर्ती भारत में सरकंडे की कलम से स्याही में डूबो कर लिखा जाता था। दक्षिण में अक्षर एक सलाई से उत्कीर्ण किए जाते थे और फिर पन्ने पर कालिख पोती जाती थी।

चीन में भी ई० पू० तीसरी शताब्दी में चिन साम्राज्य में कूची से लिखने का क्रम शुरू हो जाने और अक्षरों के मानकीकरण तथा सरलीकरण के बाद से उच्च संस्कृति वाले वर्गों में साक्षरता का शायद वही स्तर रहा होगा जैसा भारत में था। नीडहम ने लिखा है कि लगभग १४५ ई० पू० में हान कालीन चीन में कम से कम कुछ स्थानीय स्कूलों में कुछ कृषकों के लिए शिक्षा की व्यवस्था थी हालांकि उन्हें उन विद्वानों से कम स्तर की शिक्षा दी जाती थी जिनकी आवश्यकता राजकाज चलाने के लिए होती थी। पुस्तकालयों में लकड़ी, बांस की पटि्टयों, रेशम और कागज़ पर लिखी सैकड़ों पुस्तकें होती थीं और लगभग १४५ ई० पू० में ज्ञान के प्रत्येक विभाग के लिए विश्वविद्यालयों में अलग-अलग अध्यापन की व्यवस्था थी। आधुनिक काल से पूर्व चीन में विद्या का चरमोत्कर्ष स्पष्टतः दसवीं से १३ वीं शताब्दी में शुंग काल में हुआ। ९८० ईस्वी तक मुद्रण का व्यापक प्रसार हो गया। साथ ही, एक प्रकार की घसीट लिपि प्रणाली भी प्रचलित हुई जो तेजी में आधुनिक काल की शीघ्र लिपि के समकक्ष थी। इसका प्रयोग बगदाद जैसे दूर-दूर के प्रदेशों में भी चीनी लेखक करते थे।

साक्षरता की दर के सम्बन्ध में प्रमाण बहुत असन्तोषजक हैं, तथापि हमें भारत तथा चीन में भी विशाल साम्राज्यों के काल में उसे ग्रीक साक्षरता के समकक्ष रखना होगा जिसे पार्सन्स ने

'विकसित मध्यवर्ती' समाजों के वर्ग में रखा है। अतः वह पार्सन्स द्वारा निर्दिष्ट 'आद्य' समाजों की साक्षरता से भिन्न है।

पार्सन्स ने 'विकसित मध्यवर्ती' संस्कृतियों की परिभाषा देते हुए कहा है कि इनके अन्तर्गत उच्च वर्ग के वयस्क पुरुषों में पूर्ण साक्षरता पाई जाती है। ऐसे समाज सामान्यतः अपने क्रिया-कलापों की योजना पवित्र ग्रन्थों की श्रृंखलाओं के दायरे में बनाते हैं और यह आशा की जाती है कि सभी शिक्षित व्यक्तियों को इन ग्रन्थों की जानकारी होगी। उसका तर्क है कि केवल आधुनिक औद्योगिक समाजों में ही अधिकांश पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए भी संस्थात्मक पद्धति से साक्षरता की व्यवस्था की जाती है। यह कहा जा सकता है कि पाँचवीं और चौथी शताब्दी के ग्रीस में किसी भी आधुनिकता-पूर्व समाज के मुकाबले साक्षरता का अनुपात सर्वोच्च था। लेकिन समुचित प्रमाण के अभाव में भारत और चीन की उच्च संस्कृतियों को गुणात्मक दृष्टि से, तथा विश्वविद्यालयों, पुस्तकालयों, सार्वजनिक अभिलेखों और ग्राम-पाठशालाओं के अस्तित्व को देखते हुए, ग्रीस के समकक्ष रखना होगा। हो सकता है कि और गहरे अनुसंधान से संस्थात्मक दृष्टि से साक्षरता सम्बन्धी अन्तर स्पष्ट हो सके जिसकी जानकारी विवाद-ग्रस्त सांस्कृतिक प्रभेदों पर विचार करने के लिए बहुत आवश्यक है।

वर्णमाला

यह मानते हुए कि ग्रीक, भारतीय और चीनी समाज 'विकसित मध्यवर्ती' समाज थे जिनमें सापेक्षतः व्यापक साक्षरता पाई जाती थी, हमें अब वर्णमाला पर विचार करना है। सबसे विशिष्ट तथ्य निस्संदेह यह है कि यद्यपि चीन के निवासियों को ई० पू० दूसरी शताब्दी से वर्णमालात्मक लिपि की जानकारी थी, वे आज तक भी उसे अंगीकार करने से बचते रहे हैं। चीनियों ने वर्णमाला का बहिष्कार शायद इसलिए किया कि जब वह उनके सामने उपस्थित की गई, स्वयं उनकी कहीं अधिक जटिल लिपि—जो भावात्मक और चित्रात्मक संकेत-चिन्हों का सम्मिश्रण है—शताब्दियों के अंतराल में उनके अधिकांश साहित्य की संवाहिका बन चुकी थी,

उनकी धार्मिक संस्थाओं से संलग्न हो चुकी थी और शिक्षित अभिजात-वर्ग की परिचायक छाप बन चुकी थी।

प्रमुखतः भाव-लिपि को चीन द्वारा अपनी लिपि बनाए रखने के तथ्य द्वारा गूडी और वाट के वर्णमाला सम्बन्धी दावे की प्रामाणिकता कुछ न्यून हो जाती है। पहली बात तो यह है, जैसाकि मैंने पहले ही कहा है, कि चीन में कतिपय कालों में साक्षरता संभवतः उतनी ही व्यापक थी जितना क्लासिकी ग्रीस में वर्णमालात्मक लेखन था। द्वितीय, कम से कम आज तो यही स्थिति है। सार्वभौम साक्षरता चीन का भी लक्ष्य है फिर भी वहाँ की कम्युनिस्ट सरकार ने सरलतर लिपि विकसित करने के बावजूद वर्णमाला को नहीं अपनाया है। अतः व्यापक साक्षरता के लिए वर्णमाला अनिवार्य नहीं है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि यदि वर्णमाला का अस्तित्व हो और लेखन के सुलभ साधन हों तो साक्षरता-प्रसार में सुविधा होती है। इस तथ्य से कि वर्णमालात्मक लेखन का आविष्कार होने पर उसे स्थायी रूप में एक बार ही ऐतिहासिक क्रम में स्वीकार किया गया लेकिन अन्ततः वह फोनीशिया से, सुदूर पूर्व को छोड़, सम्पूर्ण साक्षर विश्व में फैल गई, यह संकेत मिलता है कि आम तौर पर भाव-लिपि की तुलना में वर्णमालात्मक लिपि अपनी अधिक सरलता और विश्लेषणात्मक गुण के कारण अधिक स्वीकार्य हुई। लेकिन चीन के अपवाद से यह सिद्ध होता है कि भाव-लिपि द्वारा भी व्यापक साक्षरता सम्भव हो सकती है और जहाँ वह वर्णमाला के उत्थान से पहले बद्धमूल थी वहाँ ऐसा हुआ भी है।

यह उल्लेख भी शायद संगत होगा कि विभिन्न भारतीय भाषाएं भी पूरे अर्थों में वर्णमालात्मक न होकर अंशतः अक्षरात्मक हैं। इसका कारण उनका सीधा सेमिटिक उद्‌गम है। उनमें केवल आरम्भिक स्वरों का प्रथक अस्तित्व होता है। उनके विशिष्ट अक्षर होते हैं। व्यंजनों के अन्तर्गत "अ" की ध्वनि तब तक निहित होती है जब तक स्वर-भेद-चिन्हों द्वारा उसका निराकरण न कर दिया जाय। जब दो व्यंजनों के बाद एक स्वर होता है तो उन सब को मिला कर एक अक्षर बना दिया जाता है। "अ" के अतिरिक्त अन्य स्वरों के लिए अनेक प्रकार के स्वर-भेद चिन्हों का प्रयोग होता है

जो पूर्ववर्ती व्यंजन से संयुक्त किए जाते हैं। अधिकांश हिन्दू लिपियाँ सेमिटिक लिपि से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनमें दुगुनी संख्या में अक्षर होते हैं। नये संकेत-चिन्ह न केवल मिश्र व्यंजनों के लिए बल्कि उन स्वरों के लिए भी विकसित किए गए हैं जो सेमिटिक भाषाओं में तो नहीं आये पर भारतीय भाषाओं में मिलते हैं। इस प्रकार संस्कृत में ४८ अक्षर हैं; मलयालम में जो केरल की द्रविड़ परिवार की भाषा है, ५३ अक्षर हैं।

भारतीय लिपियों में अक्षरों की क्रमबद्धता ध्वनि-सम्मत और तर्कसंगत होती है जिसका आधार क्रमशः उनके उच्चारण के मूल स्थान—तालु, (पृष्ठ और अग्र भाग) जिह्वा, दांत और ओंष्ठ होते हैं।

क्रोबर इस क्रम को इस तथ्य का प्रमाण मानता है कि भारत में लेखन के प्रचलित होने से पहले ही ध्वनि शास्त्र और व्याकरण का विकास हो चुका था। आरंभिक सिन्धु घाटी लिपि के अलावा, जिसे अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है, यह सही है कि कोई भी ज्ञात भारतीय अभिलेख ई० पू० तीसरी शताब्दी के मध्य से पहले का नहीं है। लेकिन बाशम का विचार है कि यह संभव है कि लेखन का प्रचलन मेसोपोटामिया से व्यापारियों ने ई० पू० ६०० से पहले ही आर्यों के काल में किया हो। कोशाम्बी का विश्वास है कि लेखन का आरम्भ ई० पू० ७०० में हो गया था। उसके इस विश्वास का आधार शहरी जीवन, व्यापार और परिशुद्ध मान के चाँदी के सिक्के हैं जिनका प्रचलन उस समय तक आरम्भ हो गया था। मैं यह निर्णय करने में असमर्थ हूँ कि किस प्रकार भारतीय लिपियों के अर्ध-अक्षरात्मक चिन्हों या उनके व्यापारियों द्वारा प्रचलन और धार्मिक क्षेत्रों के व्यक्तियों द्वारा बहिष्कार का प्रभाव भारतीय विचार-धारा पर पड़ा होगा, अथवा क्या पड़ा भी होगा? निस्संदेह प्लैटो की भाँति ब्राह्मणों ने भी सदा ज्ञान के लिखित सम्प्रेषण को मौखिक सम्प्रेषण की अपेक्षा घटिया ढंग का माना है। कट्टरपंथी लोगों की आज भी यही धारणा है। यही कारण है कि हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य की प्रचुरता के बावजूद वेदों का सम्प्रेषण आज भी गावों में मौखिक पद्धति द्वारा किया जाता है और उन्हें कण्ठस्थ करने की

प्रथा प्रचलित है हालांकि कण्ठस्थ करने वालों को प्रायः उसकी समझ नहीं होती। वस्तुतः ऐसे प्रमाण नहीं मिलते कि उसे १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व लिपिबद्ध किया गया हो।

अब मैं गूडी और वाट द्वारा निर्दिष्ट विचारधाराओं पर साक्षरता के प्रभाव को लेती हूँ। जो भी विचार आगे व्यक्त किए जा रहे हैं वे प्रायोगिक हैं जिसका कारण जहाँ यह है कि उनका आधार अस्पष्ट धारणाएं हैं वहीं यह भी कि भारतीय और चीनी साहित्य का मेरा ज्ञान सीमित है। लेकिन आरम्भिक प्रयास तो किया ही जा सकता है।

पुराण और इतिहास का अन्तर

भारत ऐतिहासिक अभिलेखों की न्यूनता के लिए प्रसिद्ध है। सम्भवतः यह कहा जा सकता है कि मुस्लिम काल से पूर्व के भारत में पुराण और इतिहास एक दूसरे से अलग नहीं थे। इसका सामान्यतः यह कारण बताया जाता है कि अधिकांश कालों में हिन्दू समाज में धर्म-तन्त्र की प्रधानता थी और ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। बौद्ध और जैन काल में भी यद्यपि ब्राह्मणों और देवताओं में विश्वास का तिरस्कार किया गया तथापि भौतिक विश्व को न केवल हेय दृष्टि से देखा जाता था बल्कि उसे अयथार्थ भी माना जाता था। सत्य की खोज का प्रमुख अर्थ था ध्यान और सम्यक् जीवन द्वारा आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि। इस प्रकार के समाज में, जिसमें प्रभुत्वयुक्त साक्षर वर्ग का सर्वोच्च लक्ष्य प्राकृतिक तथा सामाजिक विश्व से दृष्टि हटा कर अलौकिक पर केन्द्रित करना था, यह आश्चर्यजनक नहीं है कि ऐतिहासिकता विकसित नही हो पाई।

इसके विपरीत चीन में धर्म-निरपेक्ष सम्राटों और साक्षर राज-सेवकों ने लौकिकता और सम्यक् सामाजिक सम्बन्धों के विकास पर बल दिया। शायद इसीलिए पहले महान् सम्राट (हान) के काल में ही विश्वसनीय ऐतिहासिक अनुसंधान और परिशुद्ध काल-क्रम-अभिलेखों का अस्तित्व सम्भव हुआ। मैकलीन के अनुसार, "बड़ी मात्रा में जो सामग्री उपलब्ध है उसकी प्रचुरता के ही कारण चीन के विकास की मुख्य धाराओं का निर्णय कठिन हो जाता है

लेकिन उससे (चीन के) राजनीतिक इतिहास को अद्वितीय परिशुद्धता मिली है।"

समय की परम्परागत धारणाएं

सभी साक्षर व्यक्तियों के समान भारतीयों और चीनियों की भी समय सम्बन्धी विभिन्न धारणाएं थीं जिनका उपयोग विभिन्न बौद्धिक संदर्भों में और विभिन्न सामाजिक स्तरों तथा व्यावसायिक समूहों के लोगों ने किया। दोनों ही देशों के समाजों में अनेक संदर्भों में, विशेषत: सामान्य लोगों के बीच यह धारणा प्रचलित थी कि महत्वपूर्ण घटनाएं आवर्ती होती हैं और उनसे सम्बद्ध काल-क्रम की परिशुद्ध माप संभव नहीं है। समय की यह धारणा निस्संदेह दिन-रात, अंधेरे-उजाले, कृष्ण और शुक्ल पक्ष, ऋतुओं तथा रजस्वलाओं और सौर तथा चान्द्र वर्षों के सम्बन्ध में लागू होती है। भारतीयों ने इसका विस्तार करके मानव अस्तित्व के चार युगों का और जन्म-मरण के चक्र का भी विवरण प्रस्तुत किया जिससे पशु तथा मनुष्य—सभी की आत्माओं को गुजरना पड़ता है।

सृष्टि सम्बन्धी भारतीय और चीनी धारणाएं भी आवर्ती काल में अवस्थित हैं जबकि हेब्रू धारणा काल के रेखायित विस्तार की है जो सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक जाता है। हिन्दुओं के अनुसार सृष्टि कल्पों से होकर गुज़रती है। प्रत्येक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं, जो ३०,६७,२०,००० वर्षों के हैं। प्रत्येक उप-कल्प में ७० महायुग होते हैं और प्रत्येक महायुग में चार युग। प्रत्येक महायुग के अन्त में प्रलय होती है जिसमें अग्नि-दाह और जल-प्लावन से पृथ्वी का संहार हो जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में यह परिकल्पना की जाती थी कि वह प्रत्येक कल्प के अन्तर्गत निर्दिष्ट समयावधियों में ब्रह्मा के शरीर में समाहित होकर अवस्थित रहता है। बौद्ध धर्मानुयायी कल्प की इस धारणा को लेकर चीन गए। वे स्थान और काल, सृष्टियों की अनेकता तथा संसारों के बीच प्रकाश-वर्षों के समकक्ष अनन्त दूरियों की धारणाएं भी अपने साथ ले गए। सुँग काल के नव-कन्फ्यूशियनों का भी विश्वास कल्पों में था जो प्रलय के साथ समाप्त होते थे और जिनमें

से प्रत्येक के अन्तर्गत १२ युग होते थे।

जैसाकि लीच ने लिखा है, काल-चक्र की धारणा सामान्यतः एक आदिम विशेषता है क्योंकि ऐसे लोगों को काल-क्रम या उसके लिखित रूप की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन भारतीयों और चीनियों ने कल्पों की आदिम धारणा का बहुत बड़ी संख्याओं की गणनाओं द्वारा विस्तार किया। इन संख्याओं का सम्बन्ध यथार्थ घटनाओं से नहीं था : वे छद्म-वैज्ञानिक थीं अथवा 'चमत्कारिक संख्या सगुनौती' से सम्बद्ध थीं। लेकिन उनके द्वारा ग्रहों के बीच विशाल दूरियों और देश तथा काल की असीमता पर जोर दिए जाने के कारण ब्रह्माण्ड सम्बन्धी उनकी विचार-धारा लगभग वैसी ही थी जैसी आधुनिक काल में है। जिसे लीच ने 'चमत्कारिक समय' की संज्ञा दी है वह आरम्भिक साक्षर समाजों में व्यापक रूप से प्रचलित था जिसका उदाहरण बेबीलोनिया और माया सभ्यता की समय-पद्धतियाँ हैं।

इतिहास के प्रति अधिक गहरी चेतना के कारण यह स्वाभाविक था कि काल-क्रम के बारे में चीनी, भारतीयों के मुकाबले अधिक सजग हों और इस प्रकार 'रेखायित काल' के प्रति उनका बोध भी अधिक तीव्र हो। उन्हें घटनाओं को सही काल-क्रम में लिपिबद्ध करने, विशेषतः राजनीतिक घटनाओं को (जिसे लीच ने 'ऐतिहासिक समय' कहा है),—और काल-क्रम को दस वर्ष और ६० वर्ष की अवधियों में बाँधने में रुचि थी। इस प्रकार, यद्यपि चीनी, भारतीयों की तरह, घटनाओं के विवरण के दौरान वंशों की चर्चा करते थे, तथापि आधुनिक इतिहासकारों ने उनके कालक्रम को ई० पू० ६०० तक सही पाया है और कुछ कम परिशुद्धता के साथ वह ई० पू० २००० वर्ष तक मिलता है। इसके विपरीत, भारतीय वंश-वृत्तों और प्रमुख घटनाओं की क्रमबद्धता मुस्लिम काल से पूर्व केवल प्रायोगिक रूप में ही दी जा सकती है। चीनियों और भारतीयों ने भी समय सारणियाँ या संवत् निकाले जो किसी वंश के आरम्भ से सम्बद्ध थे। इनमें से से कुछ संवत् थोड़े ही समय तक चले। दोनों ही जगह दिन की घड़ियों और पलों की माप के लिए सूर्य घड़ी, बालुका-घड़ी आदि प्रचलित थीं। लेकिन चीन में जल-

घड़ी और तत्सम्बन्धी माप-विधि के प्रचलन से भारत की तुलना में समय के लघु अंशों की भी काफी सही माप सम्भव हो सकती थी।

दोनों ही देशों में खगोल-शास्त्र, विज्ञान के रूप में काफी आरम्भ से सुप्रतिष्ठित हो गया था। पाश्चात्य क्लासिकी खगोल विज्ञान का प्रभाव दोनों ही देशों पर पड़ा, विशेषतः भारत पर, लेकिन गणित में अपने बढ़े-चढ़े ज्ञान के कारण दोनों ही देशों ने ग्रीक खगोल-विज्ञान की जानकारी से आगे भी अपना विकास किया। इस संदर्भ में पाँचवीं और छठी शताब्दी ईस्वी में भारत में शून्य के आविष्कार और उसकी चीन को शीघ्र जानकारी प्राप्त होने का बड़ा महत्व है। वस्तुतः मुझे ऐसा लगता है कि शून्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति ज्ञान के अनेक विषयों के विकास के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण तत्व है (यथा खगोल विज्ञान, बीज गणित, अंकगणित और अन्ततः आधुनिक प्रायोगिक विज्ञान) और वैचारिक तथा वर्णमालात्मक लेखन के बीच अन्तर का कारण है। लेकिन यह एक जटिल विषय है जिसे यहाँ नहीं उठाया जा सकता।

प्राचीन ग्रीस और १७ वीं शताब्दी तक के यूरोप की भाँति चीन और भारत में भी खगोल विज्ञान ज्योतिष से सम्बद्ध रहा। इसके अन्तर्गत विश्वास किया जाता था कि ग्रह-नक्षत्रादि की गतियां और मनुष्य की नियति परस्पर-ग्रथित हैं। इसीलिए राजकाज से सम्बन्धित व्यक्तियों और सामान्य लोगों के जीवन और कार्यों के बारे में भविष्यवाणी और मार्गनिर्देश के लिए गणनाएं की जाती थीं और शादी-व्याह, यात्रा आदि के लिए शुभ मुहूर्त निकाले जाते थे। दिन की विशेष घड़ियाँ या पल कार्य-विशेष के लिए शुभ या अशुभ भी माने जाते थे।

सारांश में हम कह सकते हैं कि चीन और भारत दोनों ही में गूडी और वाट की इस स्थापना के अनुकूल स्थिति थी कि जहां भी व्यापक साक्षरता होती है, वहां सही काल-क्रम में भी कुछ रुचि विकसित होती है, समय की जानकारी के उपाय निकाले जाते हैं और रेखायित समय का भी कुछ हद तक विकास होता है। लेकिन दोनों ही जगह समय की कल्प सम्बन्धी और चमत्कारिक धारणाएं भी प्रचलित थीं और चीन की तुलना में भारत में सामाजिक

घटनाओं को क्रमबद्धता देने की पद्धति बहुत कम विकसित हो सकी थी।

स्थान का वस्तुनिष्ठ विवरण

चीन में ई० पू० तीसरी शताब्दी से मानचित्रों का प्रचलन था। वैज्ञानिक मानचित्र लेखन फाइ स्यू के प्रयत्नों से (२२४-२७१ ईस्वी) आरम्भ हो गया था जिसकी तुलना होलमी से की जाती है। यह कला सुँग काल में और भी विकसित हुई खास तौर पर ११ वीं शताब्दी में चुम्बकीय कुतुबनुमा के आविष्कार के बाद। १४ वीं शताब्दी तक चीनियों के नक्शे यूरोपियनों द्वारा तैयार मानचित्रों से श्रेष्ठतर और अरबों के नक्शों से अधिक सही थे। चीनियों ने नौकानयन सम्बन्धी काफी सही चार्टों का भी विकास किया, विशेषत: १५ वीं शताब्दी से, और इसके लिए उन्होंने दक्षिणी सागरों और हिन्द महासागर की वैज्ञानिक खोज की।

इस की तुलना में भारतीय भूगोल और मानचित्र कला के जो रूप उपलब्ध ग्रन्थों में मिलते हैं वे काफी घटिया दर्जे के हैं हालांकि तीर्थ यात्रियों, सैनिक विजेताओं, समुद्री यात्रा पर जाने वाले नाविकों तथा व्यापारियों को भारत तथा उसके पास-पड़ौस के प्रदेशों का अच्छा ज्ञान रहा होगा। भारतीय ग्रन्थों में विश्व-रचना और भूगोल सम्बन्धी धार्मिक दृष्टि का प्राधान्य था हालांकि कुछ थोड़े भारतीय वैज्ञानिकों ने स्वीकार किया कि धरती गोल है और ब्रह्मगुप्त ने, जो सातवीं शताब्दी ईस्वी में हुआ, धरती की परिधि की काफी हद तक सही माप बताई। चीन में धार्मिक विश्व-रचना सम्भवत: बौद्ध धर्म और ताओवाद तक सीमित थी और उस पर आरम्भ से ही वैज्ञानिक विश्व-रचना और भूगोल हावी रहे। दोनों ही सभ्यताओं ने भूमि की नाप-जोख सम्बन्धी खाते काफ़ी सही ढंग से रखे और चीनी खगोल शास्त्रियों की भाँति भारतीय खगोल वैज्ञानिकों को भी अपने देश के प्रमुख स्थानों की देशांतर रेखाओं की जानकारी थी। लेकिन आधुनिक काल से पूर्व भारत की अपेक्षा चीन में काल की भांति स्थान के सम्बन्ध में भी वैज्ञानिक खोज ज्यादा विकसित थी।

परम्पराओं पर संदेह और वस्तुनिष्ठ सत्य की खोज

इन सभ्यताओं में संदेहवाद और परम्परा के प्रति आदर के स्वरूपों में भिन्नताएं हैं। इसीलिए इस कसौटी पर उन्हें कसना कठिन है। मेरा विचार है कि चीन की अपेक्षा भारत अधिक परम्परा-बद्ध और कम संदेहवादी था। लेकिन दोनों ही सभ्यताओं में उक्त दृष्टिकोणों का समावेश था। कट्टर ब्राह्मण-निष्ठ हिन्दूवाद मौखिक परम्पराओं की पवित्रता, पारलौकिक चिन्तन और पारम्परिक कर्मकाण्ड तथा रीति-नीति पर अधिक से अधिक जोर देता था। सम्भवतः इसलिए भूगोल, प्रायोगिक भौतिकी और रसायन विज्ञान का विकास नहीं हो पाया तथा सामाजिक घटनाओं के कालक्रमानुसार विवरण में अपेक्षाकृत कम रुचि ली गई। लेकिन भेषज्य और शल्यचिकित्सा के क्षेत्र में भारत कुछ मानों में ग्रीकों से भी आगे बढ़ गया। इन क्षेत्रों में हिन्दुओं के यौगिक क्रियाओं में और बौद्धों के धर्मार्थ चिकित्सालयों में विश्वास के कारण काफी प्रगति हुई। नौकरशाही राजनीति-विज्ञान को भी कम से कम एक अध्येता मिला : यह थे कौटिल्य, जिन्होंने अर्थशास्त्र का प्रणयन किया। भारतीयों ने गणित, ध्वनि-विज्ञान, व्याकरण, खगोल विज्ञान और अन्य ऐसे विषयों में काफी उन्नति की जिनका सम्बन्ध पारलौकिक अनुभव से नहीं था। बौद्ध और हिन्दू धर्मों में कुछ नास्तिक विचारधाराएं भी प्रचलित थीं, जिन्होंने न केवल ईश्वर बल्कि स्वयं भौतिक संसार के अस्तित्व पर संदेह व्यक्त किया। जिन्होंने रहस्यवाद को मुक्तिमार्ग के रूप में चुना वे भी प्रायः अनुष्ठानों तथा रीति-रिवाजों की वैधता को नहीं मानते थे। लेकिन आधुनिक काल से पूर्व भारतीय विज्ञान व्यवस्थित रूप में प्रायौगिक नहीं था।

चीन में धर्म निरपेक्ष और सामाजिक शिक्षा पर बल दिया गया। अतएव चीनी संदेहवाद ने वैज्ञानिक इतिहास और भूगोल के क्षेत्र में अधिक व्यापकता से प्रवेश किया, पारंपरिक और पौराणिक ज्ञान पर तीखे प्रहार किए और लौकिक तथा सामाजिक

घटनाओं को लिपिबद्ध किया तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन किया। पहली शताब्दी के दार्शनिक-वैज्ञानिक वैंग छुंग ने अपने समय के विरासत में मिले अधिकांश ज्ञान के बारे में संदेह उठाया। उसके बाद संदेहवादी तार्किक परम्परा के काफी अधिक भाग का समावेश कन्फ्यूशियस के विचारों में हुआ और पुराने अन्धविश्वासों तथा बौद्ध धर्म के फलस्वरूप नये अंधविश्वासों का भी सामना निरन्तर किया गया। नीडहम का कहना है कि चीन के परम्परागत संदेहवाद का पूर्ण विकास मानविकी के अध्ययनों, पवित्र ग्रन्थों की आलोचनाओं और पुरातत्व में हुआ। प्राकृतिक विज्ञानों, विशेषतः चुम्बकीय विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, जीव-विज्ञान और भेषज विज्ञान के क्षेत्र में भी चीनी किसी न किसी काल में किसी न किसी शाखा में सभी से बढ़-चढ़ कर थे। वस्तुतः मध्यकालीन चीनी विज्ञान ने काफी हद तक वह सब दिया जो आधुनिक यूरोपीय विज्ञान के लिए आधारभूमि बना। मिंग काल में प्राकृतिक विज्ञान इसलिए उस हद तक नहीं पल्लवित पुष्पित हो सका जिस हद तक वह यूरोप में हुआ क्योंकि चीन वैज्ञानिक स्थापनाओं को गणित से संयुक्त नहीं कर सका और प्रयोगों की कसौटियों पर नहीं कस सका। नीडहम का विचार है कि चीन का सामाजिक ढाँचा कमजोर होने के कारण—जिसके पीछे उसके विदेशी व्यापार का अयथेष्ट विकास और मानसिक तथा शारीरिक श्रम करने वालों का पृथक्करण थे—वह आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान का विकास नहीं कर सका। यही बात भारत के मामले में और भी सही है लेकिन वहाँ विद्वानों को न केवल अधिकांश ज्ञान के व्यावहारिक उपयोग की चिन्ता नहीं सताती थी बल्कि वे लौकिक तथा सामाजिक परिवेश के अनेक पक्षों की खोज के प्रति भी उदासीन होते थे।

ज्ञान की शाखाएं

वैज्ञानिक तर्कशास्त्र का उदय चीन और भारत में भी आरम्भिक काल में ही हुआ जिससे गूडी और वाट की यह स्थापना सही सिद्ध होती है कि लेखन से (आवश्यक नहीं कि वह वर्णमालात्मक ही हो) क्रमबद्ध चिन्तन और हेत्वनुमानों को बढ़ावा मिलता है। दोनों ही

संस्कृतियों के अन्तर्गत्त ज्ञान का स्वायत्त विषयों में उसी प्रकार वर्गीकरण किया गया जैसा ग्रीस में हुआ, यद्यपि, जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है, ग्रीस तथा भारत-चीन ने अलग-अलग क्षेत्रों पर जोर दिया और प्रगति की। यह बात स्पष्टत: स्वीकार की गई कि राजनीतिक इकाइयों के परे ज्ञान-लोक भी है। चीन की अपेक्षा भारत में यह अनुभूति अधिक तीव्र थी क्योंकि यहाँ साम्राज्य अपेक्षाकृत कम विस्तृत और स्थायी था। लौकिक और पारलौकिक तथा धर्म और विज्ञान के पृथक्करण का प्रश्न कुछ कठिन है क्योंकि आरंभिक बौद्धवाद, कन्फ्यूशियस-वाद और ताओवाद तथा हिन्दू-दर्शन की कुछ शाखाएं भी सिद्धान्त: अनीश्वरवादी थीं। अगर प्रश्न प्रकृत तथा आधिदैविक विश्व की पृथकता का हो तो हम कह सकते हैं कि ऐसी पृथकता का अस्तित्व था लेकिन वह आधुनिक यूरोप की अपेक्षा भारत और चीन में कम पूर्ण थी। चीन में और भारत में भी ऐसे दार्शनिक थे जो धर्म-पुराणों के 'ज्ञान' की, यदि वह स्वयं उनकी शोध के विरुद्ध हो तो, खिल्ली उड़ाते थे या उपेक्षा करते थे। दूसरी ओर कीमियाई अथवा ज्योतिष जैसे छद्म विज्ञानों तथा दैवी ज्ञान के अन्य रूपों का विद्वन्मण्डली के बीच सम्मानपूर्ण स्थान था और अधिकांश पंडित उन्हें रसायन तथा खगोल विज्ञान जैसे विषयों का अभिन्न अंग मानते थे। मुझे तो इसमें संदेह ही है कि आधुनिक यूरोप के सिवा, जहाँ प्रायोगिक विज्ञान के क्षेत्र में गणित का समावेश किया गया, और कहीं भी पारलौकिक और लौकिक विज्ञान का पूर्ण पृथक्करण हो पाया है।

व्यापक साक्षरता के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभाव

काफी व्यापक साक्षरता के बावजूद चीन या भारत में 'लोकतन्त्र, जैसा हम उसे जानते हैं', नहीं आ पाया। शायद एक मात्र अपवाद १९४७ के बाद का भारत है। यह धारणा अपने वर्तमान रूप में अभी इतनी अस्पष्ट है कि इस सच्चाई की परख नहीं की जा सकती हालांकि सम्भव है कि आगे चलकर साक्षरता के विशिष्ट उपयोगों को राजतन्त्र के विशिष्ट रूपों से सम्बद्ध किया जा सके। यह संभव

नहीं प्रतीत होता कि १० लाख से अधिक आबादी वाली केन्द्रीय सरकारें राजनीतिक प्रशासन के लिए लेखन का कुछ न कुछ उपयोग किए बिना अपना अस्तित्व आसानी से बनाए रख सकती हैं। साक्षरता और राजनीतिक ढाँचे के परस्परावलम्बन के सम्बन्ध में इससे अधिक कुछ कहना फिलहाल संभव नहीं है। आधुनिक काल से पूर्व अनेक देशों में ऐसी सरकारें रही हैं, जहाँ अभिजात वर्ग का निरंकुश शासन ही रहा है या अल्पतन्त्रीय व्यवस्था रही है। लोकतन्त्री नगर-राज्यों का भी अस्तित्व रहा, सामंती शासन व्यवस्थाएं भी रहीं और पौर्वात्य ढंग के निरंकुश राजतन्त्र भी स्थापित हुए। आधुनिक काल में समाज-व्यवस्थाओं के अंतर्गत पूँजीवादी खेमे में फाशीस्तवाद भी है, संसदीय लोकतन्त्र भी और प्रिय या अप्रिय सैनिक शासन भी, और कम्यूनिस्ट खेमे में सरकारी शिकंजे वाली केन्द्रित शासन व्यवस्था भी है और ऐसी विकेन्द्रित प्रणालियाँ भी जिनमें जनता का अधिक सहयोग होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मौर्य और हान साम्राज्यों के अन्तर्गत सरकार चलाने में प्रजा का सहयोग उतना नहीं था जितना छठी और पाँचवीं शताब्दी के एथेन्स में था। लेकिन यह संदेहास्पद है कि इस अन्तर का कारण साक्षरता की दर में अन्तर होता है क्योंकि एथेन्स में पाँचवीं शताब्दी के मध्य से समुद्रपार व्यापार के साथ-साथ अमीर गरीब के बीच अन्तर काफ़ी तीव्र हो गया और अधिक निरंकुश राजनीतिक व्यवस्था स्थापित हुई। इसके अतिरिक्त, जैसा कि कोशाम्बी ने लिखा है, कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और प्लैटो की 'रिपब्लिक' या अरस्तू की 'राजनीति' की सीधी सादी तुलना ,आडम्बरपूर्ण असंगति' है क्योंकि "अरस्तू के शाही शागिद सिकन्दर महान् ने अपने विद्वान गुरू के राजनैतिक विचारों को कार्यरूप नहीं दिया। ऐथेन्स का लोकतन्त्र प्लैटो के मित्रों के कारण बहुत संक्षिप्त अस्तित्व के बाद ही असफल हो गया हालांकि उसके संविधान को बहुत व्यावहारिक और बुद्धिमत्तापूर्ण माना गया था।" मेरा अपना विचार यह है कि राजनीतिक पद्धति के विकास के लिए जो तत्त्व जिम्मेवार हैं वे साक्षरता का प्रसार न हो कर परिस्थितियाँ और बाह्य राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्ध अधिक हैं। और सामाजिक

और व्यावसायिक वर्गों में साक्षरता का वितरण अधिकांशत: आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का **परिणाम** हो सकता है। समाज के मूल्य और वैचारिक पद्धतियाँ भी, जो स्वयं वर्तमान सामाजिक ढाँचे और टेक्नोलौजी का परिणाम हो सकती हैं, कुछ हद तक राजनीतिक स्वरूपों और साक्षरता के उपयोगों का निश्चय कर सकती है।

इस प्रकार यह तर्क दिया जा सकता है कि प्राचीन एथेन्स में मुख्यत: इसलिए राजनीतिक लोकतन्त्र का विकास हुआ कि उसका आकार छोटा था और उसका विशिष्ट वाणिज्यिक तथा औद्योगिक स्वरूप था जो वस्तुत: पूँजीवाद का प्रारम्भिक रूप था। इधर भारत और चीन में केन्द्रित राजतन्त्रात्मक साम्राज्यों का विकास उनकी कृषिपरक सिंचित अर्थ-व्यवस्थाओं के आधार पर हुआ। लेकिन इन सभी समाजों में वैचारिक पद्धति की एक विशिष्ट शृंखला थी जिसका निर्धारण संभवत: अतीत के इतिहास और राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था तथा उसके आदेशों पर लोगों की प्रतिक्रिया द्वारा होता था। इस प्रकार भारत में ई० पू० छठी शताब्दी से आध्यात्मिकता के प्रभाव से साधु विद्वानों का एक लघु समूह अलग जा कर जंगलों में रहने लगा और उसने अपने लिए एक प्रकार की लोकतन्त्रात्मक स्वशासन-व्यवस्था बना ली। ये लोग राजनीतिक व्यवस्थाओं से मुक्त हो कर अपने ही ढंग से श्रेयस्कर जीवन के स्वरूप से सम्बद्ध अनुसंधान में प्रवृत्त रहते थे। बाद में ऐसे बौद्ध और हिन्दू समूहों के लिए मठ और बिहार बनने लगे और कालांतर में चीन और भारत-दोनों ही स्थानों में प्राय: मठाधीशों या बिहारों के निवासियों के पास काफी धन जमा होने लगा ओर उन्होंने अपनी धर्मतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था विकसित कर ली। लेकिन बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म में भी आदर्श यही माना जाता था कि विद्वान व्यक्तियों को छोटे-छोटे समूहों में गरीबी का वरण कर के सार्वजनिक स्थानों से दूर रहना चाहिए। लेकिन चीन के आरम्भिक दिनों की भाँति प्राचीन ग्रीस में जो विद्वान सत्ता के पदों और राजनीतिक क्षेत्र से अलग थे, जैसे सुकरात, प्लैटो और कन्फ्यूशियस, उन्होंने भी निर्वाण और पारलौकिकता के अध्ययन की बजाय राजनीतिक और सामाजिक

स्थिति का अध्ययन किया क्योंकि उनके युग में यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि विद्वानों को सार्वजनिक प्रशासन से पृथक रहना चाहिए।

कुछ हद तक लोकतन्त्रात्मक स्वशासन पारम्परिक चीन और भारत के कुछ व्यावसायिक वर्गों, जैसे व्यापारियों और कृषक समुदायों के अन्तर्गत भी पाया जाता था। लेकिन इसका कारण व्यापक साक्षरता नहीं बताया जाता था। उदाहरणार्थ, दक्षिण भारत के हिन्दुओं में सर्वाधिक उदारवादी और लोकतन्त्री जाति-सभाएं निम्न जातीय हरिजनों में पाई जाती हैं जिनमें से लगभग सभी लोग कुछ ही समय पहले तक असाक्षर थे। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि लोकतन्त्र व्यापक साक्षरता का परिणाम है हालांकि बड़े आकार की प्रतिनिधि, लोकतन्त्री व्यवस्थाओं के लिए काफी व्यापक साक्षरता के बिना अपना अस्तित्व बनाये रखना संभव नहीं प्रतीत होता।

इसी प्रकार यह भी मुमकिन नहीं मालूम होता कि व्यापक साक्षरता के साथ-साथ लिखित लेखा-जोखा-रेकार्ड रखने की प्रवृत्ति पनपती है। इस प्रकार की अभिरुचि का विकास भारत और चीन में भी राजनीतिक क्षेत्र में हुआ। लेकिन इस मामले में भी जोर देना होगा कि साक्षरता आवश्यक तो है, पर यथेष्ट शर्त नहीं। साक्षरता के साथ-साथ उच्च आर्थिक उत्पादकता मे जटिल राजनीतिक अर्थव्यवस्था का जन्म होता है जिसके परिणामस्वरूप रेकार्ड रखने पर जोर दिया जाता है।

मैं गूडी और वाट से इस बात पर भी सहमत नहीं कि व्यापक साक्षरता द्वारा स्वयं ही अनिवार्य रूप से 'ऐसे कमोवेश ठोस भेदभाव बढ़ते गए जिनके पीछे पठित सामग्री की प्रेरणा थी।' न मैं इस स्थापना से सहमत हूँ कि व्यापक साक्षरता से अवश्यंभावी रूप में आधुनिक विशेषज्ञ का मनोवैज्ञानिक पृथक्करण हो जाता है। मेरा विचार यह है कि चाहे प्राचीन काल हो या आधुनिक, वर्गों को जन्म देने वाला तत्व श्रम-विभाजन और उत्पादन के साधनों से होने वाले सम्बन्ध हैं और साक्षरता तथा पठन-पाठन के स्तरों में अन्तर इन सम्बन्धों और विभाजनों का

परिणाम है, न कि ये साक्षरता का परिणाम। यह भी सही नहीं प्रतीत होता कि साक्षर समाज में अस्वीकरण की कोई प्रणाली नहीं होती और स्मृति-लोप नहीं होता। आखिरकार बहुत सी पुस्तकों का पुनर्मुद्रण नहीं होता और आदिम समाजों की भाँति साक्षर समाजों के लिए भी यह संभव है कि वे अपने ही इतिहास के किसी चरण की उपेक्षा कर दें या तात्कालिक दृष्टिकोण से इतिहास की पुनर्व्याख्या करें। इसी प्रकार मेरी समझ से अति-विशेषज्ञता-जन्य विरक्ति उन देशों में पाई जाती है जो आधुनिक औद्योगिक देश हैं और जहाँ नौकरशाही का प्राधान्य है (वे चाहे पूँजीवादी हों या समाजवादी)। इसे मुख्यतः साहित्य की अति प्रचुरता का परिणाम नहीं कहा जा सका। भविष्य में होने वाले विकास द्वारा यह सम्भव हो सकता है कि लोगों को अवकाश और अधिक उपलब्ध हो तथा सुसाक्षर लोगों की रुचियों में विविधता और व्यापकता आए जिससे मानसिक और शारीरिक काम के बीच की दीवार हट जाये और स्वशासन के क्षेत्र और विस्तृत हों।

कुछ भी हो, मनोवैज्ञानिक विरक्ति की भावना निस्संदेह साक्षर विशेषज्ञता के अतिरिक्त अन्य कारणों से आ सकती है। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, प्लैटो—इन सभी ने तीव्र विरक्ति की भावना का अनुभव किया लेकिन प्रत्येक मामले में उसका मूल स्रोत अतिविशेषज्ञता न होकर राजनीतिक निराशा थी और यह तथ्य था कि उन्होंने अपने समाजों के लक्ष्यों का समर्थन नहीं किया। संक्षेप में, विरक्ति की भावना का मूल विशिष्ट जटिल राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थायें प्रतीत होती हैं, न कि साक्षरता-प्रसार।

मुझे यह भी लगता है कि अनुभव की वैयक्तिकता और ऐकान्तिकता की चाह सामान्यतः साक्षर समाज की ही विशेषताएं नहीं हैं हालांकि ऐकान्तिकता और वैयक्तिकता के मूल्यांकन के लिए साक्षरता एक आवश्यक पूर्व-शर्त हो सकती है। चीन और भारत में प्रमुख साक्षर समूहों ने प्रत्यक्षतः अपने वर्ग के तौर-तरीकों को सम्पूर्णतः अपनाया और वैयक्तिक अनुभव की अनचाही अभिव्यक्ति से उन्हें विरत किया गया। हान काल में चीन के साक्षर समाज के विषय में ग्रैनेट ने लिखा है: "नागरिक नैतिकता की रुझान

प्रयत्नसाध्य नम्रता के आदर्श की ओर होने से उसके द्वारा लोगों में सम्बन्धों की नियमबद्ध प्रणाली विकसित हुई जिसके अंतर्गत प्रत्येक युग के उपयुक्त आचरण राजाज्ञा द्वारा निर्धारित किए जाते थे। इनमें नर-नारी के पारस्परिक सम्बन्धों तथा विशिष्ट सामाजिक स्थितियों में आचरण का भी निर्देश होता था। अंततः राजनीतिक जीवन में जब कभी वह युग आया जिसमें इतिहास-सम्मत शासन-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ तो ऐसा प्रतीत होता है कि इतना ही यथेष्ट समझा गया कि परम्परा के अनुरूप शुभाचरण किया जाय।"

इसी प्रकार बाशम ने अभिजात हिन्दू समाज में संस्कृत के ज़ानकरों के रहन-सहन के सम्बन्ध में लिखा है :

"कवि अपेक्षतया स्थिर समाज में रहते थे। उनका जीवन ऐसी सामाजिक रीति-नीति द्वारा नियंत्रित होता था जो काफी प्राचीन थी और जिसके पीछे धर्म की छाप थी। उन्होंने समाज-व्यवस्था के विरुद्ध कभी भी विद्रोह नहीं किया और भारतीय 'शेलियों' तथा 'स्विनबर्नों' का अभाव रहा। ऐसा अधिकांश साहित्य ऐसे लोगों द्वारा लिखा गया जो अपने समाज से भली-भाँति सामंजस्य स्थापित कर चुके थे और जिनके सम्मुख आधुनिक साहित्य की जटिल मनोवैज्ञानिक कठिनाइयाँ नहीं थीं। इसीलिए किसी काउपर की आध्यात्मिक बेचैनी, किसी डॉन का हृदय-मंथन या किसी किसी टी० एस० इलियट का सामाजिक निराशावाद उनमें कतई नहीं पाया जाता।"

इस अनुवर्तन के प्रमुख अपवाद दर-दर भटकने वाले रहस्यवादी होते थे। लेकिन उनका भक्ति-साहित्य भक्त और भगवान के सम्बन्धों की व्याख्या ही करता है और उसे किसी भी प्रकार उनके निजी सम्बन्धों की अभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता। न तो पारंपरिक भारतीय और न चीनी साहित्य ही में वैयक्तिक डायरियाँ पाई जाती हैं हालांकि चीनी साहित्य में उपन्यास और अनेक जीवनियां मिलती हैं और कुछ भारतीय नाटकों तथा आख्यायिकाओं में यथार्थ-परक चरित्र-चित्रण हुआ है। आरम्भिक दार्शनिक साहित्य के अन्तर्गत 'संलाप' पद्धति को भी हिन्दुओं, बौद्धों, ताव-वादियों तथा कन्फ्यूशियस के अनुयायियों द्वारा उसी प्रकार तरजीह दी जाती थी जैसे प्राचीन ग्रीक लोग देते

थे। लेकिन मुझे लगता है कि इसका कारण यह नहीं था कि लोगों को वैयक्तिक-विचार या भावनाओं की अभिव्यक्ति करनी थी बल्कि यह था कि तत्कालीन समाज में काफ़ी परिमाण में ज्ञान मौखिक पद्धति द्वारा सम्प्रेषित होता था।

सामान्यतः मेरा यह विचार है कि आधुनिक पाश्चात्य समाज की तीव्र वैयक्तिकता व्यापक साक्षरता का प्रतिफल न होकर मुख्य रूप से (यद्यपि परोक्षतः) पूँजीवाद का परिणाम है। जिस हद तक ग्रीकों ने अनुभव किया होगा, यह व्यावसायिकता और उनकी अर्थ-व्यवस्था के प्रारम्भिक पूँजीवाद का भी परोक्ष परिणाम हो सकती है जिसके कारण तत्कालीन साक्षर समुदाय को काफ़ी हद तक वैयक्तिक कार्यों और अनुभवों की छूट थी।

निष्कर्ष

वर्तमान समय में चीन यद्यपि वर्णमाला के लाभ को महसूस करता है लेकिन वह व्यापक साक्षरता के लिए अनिवार्य नहीं मानी जाती। हम नहीं कह सकते कि वर्णमालात्मक लेखन का अमुक प्रभाव ही होगा : चीन में वर्णमाला नहीं है और भारत में अर्घ-अक्षरात्मक लिपि है। पारम्परिक चीन और भारत की साक्षरता-दर ज्ञात नहीं है लेकिन ग्रीस की तरह दोनों ही जगहों में यदि व्यापक नहीं तो पर्याप्त साक्षरता अवश्य थी। और दोनों ही को 'विकसित मध्यवर्ती' चरण में वर्गीकृत किया जा सकता है।

जैसा कि भारत के उदाहरण से स्पष्ट है, व्यापक लेखन से ज़रूरी नहीं कि पुराण और इतिहास में अन्तर स्पष्ट ही हो। उसके लिए समय और सामान्यतः यथार्थ की 'रेखायित' संहिताबद्धता आवश्यक हो सकती है लेकिन इसकी मात्रा में घट-बढ़ पाई जाती है। समय की रेखायित धारणा के साथ समय-चक्र का विचार भी चलता रह सकता है या हावी हो सकता है ओर ऐसा काफी साक्षर समाजों में भी सम्भव हो सकता है। अपेक्षाकृत साक्षर सभ्यताओं के बीच स्थान सम्बन्धी वैज्ञानिक खोज भी कहीं कम और कहीं ज्यादा होती रही है। यही बात सत्ता पर संदेह उठाने के बारे में है। चीन, और भारत में भी, वस्तुनिष्ठ सत्य के सजग आग्रह की प्रवृत्ति दिखाई

देती है जिसका मूल साक्षरता और उसके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक तर्क-पद्धति के विकास में है। लेकिन भारत में इस खोज ने मुख्यतः 'आन्तरिक' और रहस्यात्मक रूप ग्रहण किया जबकि चीन में इसके द्वारा सामाजिक विविधता और इतिहास के प्रति गहरी अभिरुचि विकसित हुई। परन्तु दोनों ही जगहों में इसके परिणामस्वरूप प्रायोगिक विज्ञान से गणित को संयुक्त करने का प्रयास नहीं हुआ। चीन और भारत के उदाहरणों से यह भी प्रकट है कि व्यापक साक्षरता के कारण स्वतः ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अन्तर घटित हो जाता है जैसे कि पश्चिम में पाया जाता है। यह भी सिद्ध होता है कि यह अन्तर कहीं कम और कहीं अधिक हो सकता है।

यह भी नहीं प्रतीत होता कि खाते आदि रखने और बड़े आकार की तथा जटिल राजनीतिक इकाइयों को विकसित करने की कुछ रुझान के सिवा पर्याप्त साक्षरता द्वारा अवश्यंभावी रूप से विशिष्ट राजनीतिक व्यवस्थाओं का जन्म हुआ हो। बड़े पैमाने पर प्रतिनिधित्वपूर्ण लोकतन्त्र के संचालन के लिए व्यापक साक्षरता आवश्यक हो सकती है लेकिन वह अनिवार्यतः लोकतन्त्र को जन्म नहीं देती। जैसे-जैसे साक्षरता विकसित होती है और लिखित ग्रन्थों की संख्या बढ़ती है, सामाजिक वर्ग और व्यावसायिक समूह एक दूसरे से अनिवार्यतः प्रथक होते जाते हैं, जिसका आंशिक आधार पढ़ने की आदत होती है। लेकिन इसे सामाजिक वर्गों के विभाजन का प्रमुख कारण नहीं कहा जा सकता और ऐसा तब भी हो सकता है जब कमोबेश सामाजिक सम्पर्क विकसित हुआ हो। जहाँ तक मैंने देखा है व्यापक साक्षरता से वैयक्तिकता, एकान्तिकता या पृथकत्व की आत्यन्तिक भावना उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है। कहा गया है कि आधुनिक रूप में ये भावनाएं (पृथकत्व के मामले में) साक्षरता की बजाय आधुनिक औद्योगिक समाज में सत्ताधारियों के प्रभुत्व और वैयक्तिक महत्व की अनुभूति से उत्पन्न होती हैं।

सम्प्रेषण के अन्य माध्यमों की तरह लेखन भी एक जटिल माध्यम है क्योंकि वह जटिल समाजों के प्राविधिक और वैचारिक दाय का भी अंग होता है और उनकी व्यवस्था से सूक्ष्मतापूर्वक ग्रथित होता है। कठिनाइयाँ इसलिए उत्पन्न होती हैं कि साक्षरता के निहितार्थों को

अन्य तकनीकों से (यथा हल द्वारा खेती, स्थायी खेती, तेज परिवहन और शक्तिचालित उद्योग) अथवा संस्थाओं से (यथा विशिष्ट धार्मिक या शक्तिशाली शासक-वर्ग) अलग करके देखना मुश्किल होता है। और इन सबसे अधिक, साक्षरता मुझे सक्षम बनाने वाला तत्व प्रतीत होता है जिसके सहारे बड़े पैमाने पर ज्ञान का संगठन, समीक्षात्मक संचय और पुनर्प्राप्ति संभव होती है, तर्क का व्यवस्थित प्रयोग होता है, विज्ञान विकसित होता है और कलाओं का विस्तार होता है। ये सब बातें होती हैं या नहीं और अगर होती हैं तो किस हद तक, यह लेखन के ज्ञान पर अधिक निर्भर न हो कर समाज की प्रविधियों और व्यवस्थाओं के विकास पर निर्भर करता है और शायद अन्य समाजों से सम्बन्धों का भी योगदान होता है। लेकिन यदि यह सब हो तो गूडी और वाट की इस स्थापना पर कोई संदेह नहीं उठा सकता कि प्रभावी सम्प्रेषण-माध्यम के रूप में लेखन के उपयोग से कतिपय वैचारिक रूपों का उदय होगा जिनके उदाहरण तर्क पद्धति और यथार्थ के प्रति रेखायित दृष्टिकोण हैं। लेखन के स्थान पर नये सम्प्रेषण माध्यमों के विकास से साक्षरता के अन्य निहितार्थ भी प्रकट होते जायेंगे।

उत्तर पूर्वी थाइलैंड के एक बौद्ध गाँव में साक्षरता

सामाजिक सन्दर्भ में लेखन सम्बन्धी अध्ययनों का आरम्भ उत्तरी थाइलैंड के एक बौद्ध गाँव के बारे में डा० ताम्बिया के विवरण से होता है। उन्होंने विचार किया है कि क्या जानकारी लिखित रूप में मौजूद है, उसका क्या उपयोग होता है और साक्षरता-कार्यों में कौन लोग संलग्न हैं। वे गाँव के मन्दिर के कार्यों का वर्णन करते हैं और उसके स्थायी तथा अस्थायी पुजारियों एवं भिक्षुओं के बारे में बताते हैं। वे गाँव की समाज-व्यवस्था की चर्चा करते हैं जिसमें कुछ हद तक साक्षरता की आवश्यकता होती थी।। यह साक्षरता या तो वहाँ की स्थानीय भाषा में होती थी या धर्मग्रन्थों की भाषा पाली में। गाँव के अन्य नगरों व पड़ोस के गांवों से सम्पर्क को भी दिखाया गया है जो प्रायः लिखित आधार पर होता था। उन्होंने बताया है कि साक्षर अनुष्ठान-विशेषज्ञों का कितना आदर होता था। विशेष रूप से बौद्ध समाज में लेखन का बड़ा आनुष्ठानिक तथा उपासनात्मक महत्व है।

ताम्बिया ने लेखन और पठन की दक्षताओं में अन्तर को भी दिखाया है। इन्हें प्रायः एक के बाद एक सिखाया जाता था न कि एक साथ, जैसा कि आज पश्चिम में होता है। बाद में शोफील्ड ने बताया है कि अन्य लोगों के विचारों को समझने की प्रक्रिया पहले बताई जाती थी और तब अपने ही विचारों को व्यक्त करने का गुर सिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त, यान्त्रिक साधनों के आगमन से पूर्व, पुस्तकों का वितरण और उन्हें पुस्तकालयों में सुरक्षित रखने का कार्य तभी हो सकता था जब उन्हें कठोर परिश्रम करके हाथ से लिखकर 'उतार' लिया जाय। इसके अतिरिक्त विशेष बल दुहराने तथा व्याख्या करने पर दिया जाता था न कि

रचना पर। लेकिन थाइलैंड में लेखन का कुछ रचनात्मक उपयोग भी था : यह लोकनाटकों और आपेरा के क्षेत्र में था। और इस लोकप्रिय साहित्य का एक मुख्य स्रोत वे कथाएँ होती थीं जो भिक्षुओं तथा बौद्ध मन्दिरों की साहित्यिक परम्परा के साथ विकसित होती थीं।

उत्तर पूर्वी थाइलैण्ड के एक बौद्ध गांव में साक्षरता

एस० जे० ताम्बिया

इस निबन्ध का विषय थाइलैंड के एक गाँव में साक्षरता की स्थिति है। इस विवरण में मैंने उस अवधि की चर्चा की है जो १९३० के बाद थाइलैंड सरकार द्वारा राष्ट्रीय अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा योजना लागू किए जाने से पहले की अवधि है जबकि इन गाँवों को ऐसी शासन पद्धति के अन्तर्गत नहीं लाया गया था, जिसमें आबादी संबंधी तथा प्रशासनिक लेखा-जोखा रखना गाँव के मुखिया के लिए अनिवार्य बना दिया गया था। इस गाँव में आज भी साक्षरता परंपरा के सहारे मौजूद है क्योंकि पिछले युग के कुछ साक्षर व्यक्ति आज भी जीवित हैं और उनका महत्वपूर्ण योगदान रहता है क्योंकि अतीत से बौद्ध मन्दिर अथवा वाट ही साक्षरता का केन्द्र रहा है और वह आज भी पूर्ववत कार्य कर रहा है।

परम्परा की तारतम्यता का प्रयोग इस गाँव के संबन्ध में इस अर्थ में नहीं किया गया है कि शताब्दियों से चली आ रही इतिहास की धारा की जानकारी मिल सके। उसके अन्तर्गत केवल उतनी ही अवधि की कल्पना की गई है जो मानव-विज्ञान संबंधी सामान्य अध्ययनों के लिए आवश्यक होती है और जिसका निर्देश मानव विज्ञान की वर्तमान शब्दावली द्वारा होता है। इसका तात्पर्य है वह कालावधि, जिसमें अध्ययन के लिए चुने गए किसी समाज के अंतर्गत सबसे अधिक वयोवृद्ध व्यक्ति घटनाओं का स्मरण कर सके और अनुभवों को अभिव्यक्ति दे सके। जिस गाँव की चर्चा मैं कर रहा हूं वह साक्षर सभ्यता का एक नमूना है। लेकिन फिर भी यह विचित्र विरोधाभास वहाँ पाया जाता है कि उसका जीवनक्रम अनैतिहासिक

रहा है। गाँव की अनैतिहासिकता इन अर्थों में रही है कि जो ज्ञान गाँव वालों को उपलब्ध था उसको लिखित रूप देना और सही ढंग से तिथिवार प्रस्तुत करना या सम्प्रेषित करना आवश्यक नहीं माना गया। गाँव में जो भी साहित्य उपलब्ध है, और जो मुख्यतया धार्मिक साहित्य है, उसकी तिथियों और उसके समय के बारे में कोई जानकारी नहीं है : केवल इतना ही माना जाता है कि वह किसी अज्ञात अतीत से चला रहा है। इस प्रकार के धार्मिक साहित्य की अनेक कृतियाँ और अनुकृतियाँ तैयार की गई हैं। लेकिन ऐसा माना जाता है कि वे प्राचीन काल के नमूनों का ही रूप हैं। फिर भी यह गाँव नितान्त अज्ञात नहीं था क्योंकि उस पर बड़ी-बड़ी राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक घटनाओं का प्रभाव पड़ता रहा, जिनकी तिथियों के सम्बन्ध में अन्य स्रोतों से पुष्टि की जा सकती है। यह गांव बौद्धिक दृष्टि से भी जड़ता की स्थिति में नहीं रहा क्योंकि एक के बाद एक पीढ़ियों में स्थानीय लेखकों ने प्राप्त ज्ञान में अपना भी सृजनात्मक योगदान किया।

इस गाँव का नाम 'बान फ्रान मुआन' हैं, जिसका अर्थ है शिकारी मुआन का गांव। यह थाईलैंड के उत्तर पूर्वी भाग में मेकांग नदी के पश्चिम में उडोर्न नगर और सीमा के व्यापारिक शहर नोंगखाई के बीच में स्थित है। उडोर्न प्रान्तीय राजधानी है और इस गाँव से १७ किलोमीटर की दूरी पर है। लेकिन अतीत में उस शहर से गाँव वालों का सम्पर्क नगण्य था। परंपरा से उनका व्यापारिक संबंध नोंगखाई से था और सामाजिक संबंध मेकांग नदी के पूर्व में लाओस से था, जो आज राजनीतिक दृष्टि से एक पृथक देश है परंतु सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्वोत्तर थाईलैंड के समान है।

थाई मानदण्डों के अनुसार पूर्वोत्तर थाईलैंड के गाँव साधनहीन और गरीब गांव हैं। उनमें वर्ष में एक बार धान की फसल होती थी, जो अनिश्चित वर्षा पर निर्भर थी। हाल के वर्षों में राजनीतिक और आर्थिक कारणों से कुछ बड़ी सड़कें बनाई गई हैं, नए कस्बे बस गए हैं और पटसन जैसी कुछ नकदी फसलें बोई जाती हैं। लेकिन लगभग १० वर्ष पूर्व ही इस अंचल के अधिकांश गाँव अलग-थलग थे और संचार व्यवस्था बहुत अपर्याप्त थी। प्रशासनिक नियंत्रण और मोटर-

गाड़ियों की पहुँच की दृष्टि से आज भी बहुत से गाँवों की ऐसी ही स्थिति है।

गाँव आम तौर पर काफी बड़े हैं, घने बसे हुए हैं और एक दूसरे से कुछ किलोमीटर की दूरी पर हैं। १९६१ में बान फ़ान मुआन गाँव में १४९ कुटुम्ब थे, जिनमें १८२ परिवार रहते थे, जिनके सदस्यों की कुल संख्या ९३२ थी। शादी विवाह और कुटुम्बियों के दूसरी जगह जा बसने की प्रवृत्ति से यह पता चलता है कि उदाहरणार्थ लगभग १२ किलोमीटर के दायरे के गाँवों में आपस में सामाजिक संपर्क बना रहता था। लेकिन एक गाँव से दूसरे गाँव में होने वाले विवाहों की संख्या बहुत अधिक नहीं होती थी। सबसे अधिक संपर्क धार्मिक क्षेत्र में बना रहता था और जब गाँव के मन्दिरों में बौद्ध त्यौहार या मेले हुआ करते थे तो आस पास के गाँवों के लोग उनमें भाग लेने के लिए आते रहते थे। परंपरागत साक्षरता को समझने के लिए यह तथ्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि बौद्ध धर्म सामाजिक आदान-प्रदान और किसी प्रदेश की सांस्कृतिक एकता का प्रेरक केन्द्र-बिन्दु होता था। प्रत्येक गाँव में, वह छोटा हो या बड़ा, अपना एक मन्दिर होता था, जिसकी आवश्यकता धार्मिक कारणों से भी होती थी और सामाजिक कारणों से भी।

इस गाँव के सामाजिक ढाँचे की दो ऐसी विशेषतायें हैं जिनके कारण वहाँ साक्षरों की जरूरत होती थी। एक तो उस गाँव में लोगों के कौटुम्बिक संबंध काफी अधिक हैं परन्तु उनका आधार द्विपक्षीय है। दूसरी बात यह है कि गाँव के विभिन्न परिवारों में आर्थिक दृष्टि से बहुत अन्तर नहीं है। जो गाँव इस प्रकार सामान्य आर्थिक स्थिति वाला हो और जिसमें बहुत अधिक भेदभाव की भावना न हो उसके बारे में प्रायः लोगों के निर्णय गलत हो सकते हैं, विशेषतः आज के युग में जबकि विकास और प्रगति को ही सर्वप्रमुख लक्ष्य माना जाता है। इसी प्रकार आज जबकि राष्ट्रीय सरकारों और अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों का यह नारा है कि सभी लोगों के लिए प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा अनिवार्य और सुलभ होनी चाहिए तो कोई आश्चर्य नहीं कि बान फ़ान मुआन जैसे गाँवों को निरक्षर करार दिया जाए। एक धारणा यह भी प्रचलित है कि अगर किसी जन-समूह में धर्म के

प्रति अन्ध-भक्ति पाई जाती है तो उसमें विज्ञान का प्रचार किया जाना चाहिए। इस तरह यह मान लिया गया है कि ज्ञान के प्रचार प्रसार का दायित्व केवल मुठ्ठी भर लोगों के हाथ में है। लेकिन हम देखेंगे कि फ़ान मुआन गाँव में स्थिति सरल न होकर काफी जटिल थी।

इस जटिलता के अनेक कारण हैं। कुछ कारणों का संबंध भाषा और राजनैतिक पृष्ठिभूमि से है। फिर, कुछ विशेष प्रकार का पारम्परिक ज्ञान और चिन्तन भिन्न-भिन्न लिपियों में पाया जाता है। एक कठिनाई यह भी है कि साक्षरों की कई श्रेणियाँ हैं और उनके प्रशिक्षण आदि से संबद्ध अनेक पद्धतियाँ हैं और एक अन्तिम समस्या यह है कि ज्ञान का सम्प्रेषण मौखिक भी रहा है और लिखित भी।

भाषा संबंधी पृष्ठिभूमि

थाई परिवार की भाषाएँ यांगत्से और शान बर्मा तथा स्याम और टौंकिन की खाड़ी के बीच व्यापकता से बोली जाती थीं। इन भाषाओं की प्रतिस्पर्धी भाषाएँ बर्मा और कम्बोदिया की मान ख्मेर भाषाएँ हैं। थाई परिवार की भाषाओं को जहाँ एक ओर सुसम्बद्ध परिवार की भाषाएँ कहा जा सकता है, जिन्हें परिवार की अन्य भाषाओं को बोलने वाले कुछ न कुछ समझ सकते हैं वहीं इस परिवार के अन्तर्गत अनेक ऐसी बोलियाँ हैं, जिन्हें कहीं समझा जा सकता है और कहीं नहीं।

भाषा, भूगोल और सांस्कृतिक विविधता के आधार पर थाई-लाव लोगो को अक्सर चार क्षेत्रीय समूहों में बाँटा जाता है : पहला समूह है केन्द्रीय थाई लोगों का, जो बहुसंख्यक हैं और बैंकाक के उत्तर में तथा चाव-फ्राया घाटी में रहते हैं। दूसरा समूह उत्तर के थाई (अथवा लाव) युवान लोगों का है जो चीयेंगमाई के आस-पास रहते हैं। तीसरा समूह कोराट प्रान्त के थाई कोराट लोगों का है और अन्तिम समूह थाईलैंड के उत्तर-पूर्व में और लाओस राज्य में रहने वाले लाव (थाई) लोगों का है जो संख्या की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है।

फ्रान मुआन गाँव उपर्युक्त चौथे क्षेत्र में स्थित है और राजनैतिक दृष्टि से दो अलग-अलग देशों, थाईलैंड और लाओस में फैला हुआ है।

उत्तर-पूर्व थाईलैंड में बोली जाने वाली भाषा और लिपि के बारे में कुछ विचित्र समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं क्योंकि एक ओर तो उस भू-भाग की सांस्कृतिक और भाषायी समानता लाओस से है; दूसरी ओर राजनैतिक दृष्टि से वह थाईलैंड का भाग है। इस संबंध में विभिन्न लेखकों ने परस्पर विरोधी और अस्पष्ट विचार प्रकट किए है; लेकिन स्थिति संभवत: इस प्रकार है।

भाषा

उत्तर-पूर्व की लाव भाषा और मध्य के मैदान की थाई भाषा को दो अलग-अलग बोलियां कहा जा सकता है। इनके बोलने वाले एक दूसरे की बात नहीं समझ सकते। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि हाल के वर्षों में काफी परिवर्तन हुआ है, जिसका मुख्य कारण थाई सरकार की शिक्षा नीति है। इस नीति के अनुसार यह जरूरी है कि मध्य थाई भाषा ही शिक्षा का राष्ट्रीय माध्यम हो। यह नीति जान-बूझ कर बनाई गई है और इसका उद्देश्य सभी अल्प-संख्यक समूहों को राष्ट्रीय संस्कृति के समान सूत्र में बाँधना है। इस प्रकार आज उत्तर-पूर्वी भाग में अधिकांश प्रौढ़ व्यक्ति और स्कूली बच्चे दो भाषाएँ जानते हैं। लेकिन गाँव में अब भी कुल मिला कर सहज विरोध भाव पाया जाता है। गाँव के लोगों की बोल-चाल की भाषा उत्तर-पूर्वी लाव भाषा है। यही परम्परागत धार्मिक अनुष्ठान और क्षेत्रीय साहित्य की भी भाषा है। स्कूलों में थाई भाषा सरकारी तौर पर पढ़ाई जाती है और इसी भाषा में गाँव वालों को प्रशासकीय अधिकारियों से तथा केन्द्रीय सरकार से लिखा-पढ़ी करनी होती है। दो भाषाएँ जानने वालों में स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक है। हम आगे चल कर देखेंगे कि थाई भाषा के तेजी से प्रसार के कारण पारम्परिक साक्षरता पर प्रभाव पड़ा है।

लिपियाँ

जब हमने उत्तर पूर्व की तथा लाओस की परम्परागत लिपियों

का अध्ययन किया तो हमें कठिनाई का सामना करना पड़ा। लिपियों की समस्या पर हमें और व्यापक रूप में विचार करना होगा और उन ऐतिहासिक घटनाओं पर ध्यान देना होगा जिन्होंने दक्षिण पूर्व एशिया को सभ्यताओं पर स्थायी छाप छोड़ी है और उनकी परम्परागत साक्षरता का स्वरूप निर्धारित किया है। इस संदर्भ में दो बातों की ओर ध्यान देना होगा जो एक दूसरे से संबंधित हैं। एक तो है भारत से प्रवासियों का आगमन; और दूसरी है हिन्दू तथा बौद्ध धर्म का प्रभाव। जहाँ तक लेखन का संबंध है, उल्लेखनीय बात यह है कि उसका विस्तार भारत से ब्राह्मी लिपि के रूप में पूर्व की ओर हुआ जो मुख्य रूप से बौद्ध धर्म के प्रसार का परिणाम था। ऐसा प्रतीत होता है कि जो ब्राह्मी लिपियाँ इस प्रकार वहाँ पहुँचीं, वे दक्षिण भारतीय स्वरूप वाली लिपियाँ अर्थात् 'ग्रन्धा' लिपियां थीं। वे ही उस अंचल की सभी लिपियों का आधार बनीं। ईसा से एक हजार वर्ष बाद भारतीयों के व्यापारिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक उपनिवेश भली-भाँति स्थापित हो चुके थे। पालि बौद्ध धर्म वहाँ श्रीलंका के जरिए काफी बाद में—ग्यारहवीं शताब्दी में—पहुँचा और उसके कारण वहाँ की भाषाओं में पालि के बहुत से शब्द आ गए हैं। दक्षिण पूर्व एशिया में परम्परागत साक्षरता, साहित्य तथा सभ्यताओं की समीक्षा करते हुए बौद्ध धर्म और कुछ हद तक हिन्दू धर्म के प्रभाव को अवश्य ही ध्यान में रखना होगा।

थाईलैंड और लाओस तथा इनके पड़ोस के बर्मा और कम्बोदिया आदि देशों में लिपियों का इतिहास और स्वरूप एक जटिल विषय है, जिसे अभी तक विद्वान नहीं सुलझा पाये हैं। लेकिन जहाँ तक थाईलैंड के उत्तर पूर्वी भाग के पारम्परिक साहित्य का सम्बन्ध है, हमारे विचार के लिए निम्न लिखित तीन बातें संगत हैं:

१. पवित्र या आनुष्ठानिक साहित्य थाम अथवा लाव थाम लिपि में लिखा गया।

२. इसके साथ ही एक धर्म-निरपेक्ष लाव लिपि भी प्रचलित थी जो मुख्यतः सरकारी और प्रशासनिक कामों के लिए प्रयोग में आती थी। वह काव्य और रोमानी सहित्य के लिए भी प्रयुक्त होती थी।

३. उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तर पूर्वी भाग पर स्याम का राजनैतिक अधिकार हो जाने के बाद वहाँ थाई लिपि भी काम में लाई जा रही है।

थाम लिपि तथा धर्म-निरपेक्ष लाव और थाई लिपियों में बुनयादी अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म-निरपेक्ष लाव लिपि वास्तव में थाई लिपि का ही विस्तार है। कहा जाता हैं कि इसका आविष्कार सम्राट रामा कामहेन सुखोदय ने १२८३ ईस्वी में किया था और यह कम्बोदिया अर्थात् ख्मेर की कीलाक्षर लिपि का प्रचलित रूप है। यह 'सुखोदय' लिपि कुछ परिवर्तनों के साथ लाओस और मध्य मैदान के स्याम राज्य में पहुँचाई गई।

लेकिन उत्तर पूर्व की पवित्र थाम लिपि, जो लाओस में प्रचलित है, सुखोदय लिपि की शाखा न हो कर 'शान' लिपि की शाखा है। फिनोट के अनुसार इस समय शान लिपि के तीन स्थानीय प्रकार हैं : एक तो थाम है जो पूरे लाओस में प्रचलित है ; दूसरी 'लुर' है जो लाओस के धुर उत्तर में प्रचलित है, और तीसरी उत्तरी थाईलैंड की 'लुवान' लिपि है। 'थाम' की व्युत्पत्ति पालि के 'धम्म' शब्द से है, जिसका अर्थ है : बौद्ध धर्म तथा उसके पवित्र ग्रन्थ। जैसाकि उसके नाम से संकेतित होता है, यह लिपि केवल धार्मिक लेखन के काम में आती है और इसकी इस निबन्ध में काफी चर्चा की गई है। इस लिपि की आकृति पर ख्मेर लिपि को अपेक्षा 'मॉन' लिपि का प्रभाव अधिक पड़ा है। आज उत्तर पूर्वी भाग में सभी धार्मिक लेखनों को 'नानसी थाम' कहा जाता है, जिसका अर्थ है धर्म ग्रन्थ, परन्तु इस विशेषण का प्रयोग व्यापक क्षेत्र के लिए भी किया जाता है।

गाँव के मन्दिर में जो भी साहित्य मिलता है या प्रयोग में आता है उसे 'नानसी थाम' कहा जाता है। उसके अन्तर्गत न केवल तन्त्र-मन्त्र और बौद्ध ग्रन्थ आते हैं बल्कि 'नितार्ण' अथवा ऐसी कथायें भी आती हैं जो शुद्ध रूप से क्षेत्रीय मूल की हैं और जिनका उपयोग भिक्षुओं द्वारा प्रवचनों में किया जाता है। इसीलिए उन्हें नानसी थामों में शामिल किया जाता है। आम लोगों द्वारा की जाने वाली उपासना और अनुष्ठान आदि से सम्बद्ध पुस्तकें और चिकित्सा

की किताबें भी थाम लिपि में लिखी जाती है। लेकिन मैंने फ्रान मुआन गाँव से नमूने के तौर पर जो पुस्तकें एकत्र कीं, उनसे मालूम होता है कि साहित्य कभी-कभी पवित्र थाम और धर्म-निरपेक्ष लाव लिपियों के मिश्रित रूप में लिखा जाता है। इसका रहस्य जानने के लिए यह जानना जरूरी है कि गाँव के किस प्रकार के व्यक्ति ने उस साहित्य की प्रतिलिपियाँ तैयार की हैं। अगर किसी बौद्ध भिक्षु ने यह काम किया है तो उसकी प्रवृत्ति थाम लिपि का प्रयोग करने की होगी और अगर किसी सामान्य नागरिक ने ऐसा किया है, तो वह अधिक लचीलेपन से काम लेगा।

गाँव में एक और ढंग का साहित्य भी है : वह है गेय लोक-नाटक और आप्त वचन। पहले को गाँव वाले 'माव लुम' कहते हैं और दूसरे को 'फाया'। इनके लिए आम तौर पर धर्म-निरपेक्ष लिपि का प्रयोग होता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि गाँव में परम्परागत साहित्य कई लिपियों में लिखा गया है। इन में से एक तो थाम लिपि है जिसकी प्रधानता है और जिसका प्रयोग धार्मिक साहित्य के लिए किया गया है। इसके बाद अनेक मध्यवर्ती मिश्रित लिपियाँ हैं और दूसरे सिरे पर लाव लिपि के ढंग की धर्म-निरपेक्ष लिपि है। परम्परागत रूप में दोनों ही प्रकार की लिपियों का अध्ययन-केन्द्र गाँव का मन्दिर हुआ करता था, लेकिन वहाँ भी विशेष रूप से थाम लिपि सिखाई जाती थी।

फ्रान मुआन गाँव में मुझे जो साहित्य मिला और जिसका उल्लेख मैंने इस निबंध में किया है, वह दो प्रकार का है : एक वह है जो ताड़पत्र पर लिखा गया है और दूसरे,कागज़ पर लिखी गई पांडुलिपियां हैं। अधिकांश साहित्य ताड़पत्र पर ही लिखा गया है। ताड़ की पत्तियों पर किसी नुकीली सुईनुमा कलम से अक्षर उकेरे जाते थे। फिर उन पर स्याही या कालिख पोती जाती थी जिसे रगड़ कर निकाल दिया जाता था और अंकित अक्षरों में स्याही या कालिख बच रहती थी, जिससे वह साफ़ दिखाई देते थे। इसके बाद ताड़पत्रों को एक दूसरे से गूंथ कर किताब के रूप में बना लिया जाता था। बढ़िया किताबों में ताड़पत्रों पर चारों ओर सुनहरी या सिन्दूरी लकीरें खींच कर उन्हें सुन्दर रूप दे दिया जाता था और

ताड़पत्रों के ऊपर-नीचे लकड़ी की पट्टियाँ लगाई जाती थीं, जिन पर आकर्षक चित्रकारी बनाई जाती थी। अधिकांश धार्मिक साहित्य इसी प्रकार लिखा और सुरक्षित बनाया जाता था। एक अन्य प्रकार की पांडुलिपियाँ गत्तें की एक लम्बी पट्टी के समान होती थीं। इन पर चीनी स्याही से लिखा जाता था। इस प्रकार के गत्ते चित्रों और नक्शों आदि के लिए बहुत उपयुक्त होते थे और ज्योतिष की कुछ किताबें भी इसी रूप में लिखी गई हैं। कभी-कभी कागज़ पर कालिख चढ़ा कर हल्के पीले रंग की पैंसिल से भी लिखा जाता था।

गाँव की साक्षरता

परम्परागत साक्षरता का वर्णन करते हुए सबसे पहले यह बताना आवश्यक है कि उस गाँव में कौन-कौन से विशिष्ट वर्ग हैं और उनमें से किस-किस को आम तौर पर साक्षरता की आवश्यकता होती है। यह प्रश्न भी विचारणीय है कि विभिन वर्गों को किस प्रकार की साक्षरता की आवश्यकता होती है।

इस दृष्टि से मैंने विशेषज्ञों को धार्मिक तथा धर्म-निरपेक्ष वर्गों में बाँटना सुविधाजनक पाया है। मुख्य बात यह दिखाना है कि इनमें से कुछ के लिए साक्षरता की जरूरत होती है और कुछ के लिए नहीं। गाँव का भिक्षु, 'आचर्न वत' अथवा बौद्ध सभा का नेता, 'माव ख्वान' अथवा 'प्राह्म', 'माव या' अथवा चिकित्सक, 'माव दू' अथवा ज्योतिषी किसी न किसी सीमा तक थाम, लाव और थाई लिपियों की किताबों को पढ़ सकते हैं। इनमें भिक्षु को छोड़ बाकी सब वर्गों का काम धर्म-निरपेक्ष है और यह सम्भव है कि एक ही व्यक्ति यह सभी काम करे अथवा उनमें से कुछ लोग एक साथ इन्हें करें। विशेषज्ञों के यह सब काम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। कुछ लोगों को छोड़ शेष अधिकांश भिक्षु थोड़ी अवधि के लिए भिक्षु बनते हैं। कुछ लोग, जो भिक्षु रह चुके हैं और जिन्हें यथेष्ट साक्षर होने का मौका मिल चुका है, अनुष्ठान सम्बन्धी सामान्य विशेषज्ञ बन जाते हैं। इस कार्य के लिए उन्हें अनुष्ठान सम्बन्धी पुस्तकों को पढ़ना पड़ता है और वे बौद्ध धर्म और बौद्ध अनुष्ठान 'माव ख्वान' द्वारा किये गये अनुष्ठान से सम्बद्ध होते हैं। चिकित्सक के कार्यों

से भी उनका सम्बन्ध होता है। स्वयं भिक्षु यह सब कार्य नहीं करता, लेकिन वह उनके विरुद्ध भी नहीं होता और बीमार होने पर उसे भी उनकी आवश्यकता पड़ सकती है।

इसके विपरीत जो लोग कर्मकाण्डी होते हैं, जैसे 'माव सोंग', (भविष्यवक्ता) 'जुम', 'तियाम' और 'माव थाम' (गाँव के प्रेतों के माध्यम आदि) तथा 'माव लुम फी फा' (आकाशीय प्रेतों के माध्यम) उन सब के बारे में यह माना जाता है कि वे ऐसे भूत-प्रेतादि से संबंध रखते हैं जिनसे भिक्षुओं का सिद्धान्ततः अथवा किसी अन्य प्रकार से कोई भी संबंध नहीं है और जिनसे बौद्ध धर्म का भी विरोध है। इस प्रकार के ओझा लोगों के लिए लिखने की तो क्या, पढ़ने की भी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि उनका काम इतना ही होता है कि वे प्रेतादि पर नियंत्रण रखें या जादू-टोनों के नियमों और मन्त्रों को याद रखें।

इसीलिए यह बात समझ में आने वाली है कि गाँव के जो अनुष्ठान विशेषज्ञ पढ़े-लिखे होते हैं उनका अपढ़ विशेषज्ञों की तुलना में अधिक आदर होता है। इसका कारण अंशतः तो यह है कि बौद्ध धर्म और उससे सम्बद्ध अनुष्ठान नैतिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं और वे ओझा सम्प्रदाय के प्रतिकूल होते हैं और अंशतः यह कि साक्षर विशेषज्ञ की कला उस ज्ञान से सम्बद्ध होती है जिसका विशेष आदर है। यह अन्तर केवल प्रतिष्ठा का ही नहीं है, बल्कि इससे नेतृत्व पर भी प्रभाव पड़ता है। गाँव के सबसे महत्वपूर्ण वयोवृद्ध व्यक्ति ('पुठाव' अथवा 'ठावकाय') वही लोग हैं जो 'आचर्न वत' 'माव ख्वान' अथवा 'माव या' हैं। वे और प्रधान भिक्षु गाँव की मन्दिर समिति के सदस्य होते हैं जो बौद्ध उत्सवों और त्योहारों का आयोजन करती है तथा गाँव के मन्दिर का आर्थिक प्रबन्ध देखती है। अन्य कामों के अलावा ये लोग विवाह सम्पन्न कराने वाले अधिकारी तथा मृतक संस्कार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कर्मकाण्डों को कराते हैं, आपसी झगड़े निपटाते हैं और विवाह तथा तलाक के मामलों में गवाह बनते हैं।

गाँव का कोई भी ऐसा व्यक्ति स्थानीय मुखिया या नेता नहीं है जो भूत प्रेतादि का विशेषज्ञ या ओझा सम्प्रदाय का हो। व्यक्तिगत

रूप में उसको आदर दिया जा सकता है, लेकिन वह समाज का नेता नहीं होता। यह इस बात का प्रमाण है कि उसकी विशेषज्ञता का आज के संदर्भ में बहुत कम आदर रह गया है और तकनीकी तथा राजनैतिक दृष्टि से उसकी निजी उपलब्धि का स्तर अपेक्षाकृत नीचा है।

जहाँ तक धर्म-निरपेक्ष विशेषज्ञ का प्रश्न है, गांव का मुखिया प्रमुख रूप से सरकार के जिला कार्यालय से सम्पर्क रखता है। उसका यह भी कर्तव्य होता है कि वह शान्ति और व्यवस्था बनाए रखे तथा गाँव के संबंध में सूचनाएँ और आंकड़े रखे। इस दृष्टि से उसके लिए आवश्यक है कि वह थोड़ी बहुत थाई भाषा लिख-पढ़ सके। इस गाँव में मुखिया के पद के लिए लोगों को अधिक लालच नहीं होता हालांकि वह पद किसी वयोवृद्ध को ही दिया जाता है।

लोक संगीत अथवा नाटक के स्त्री और पुरुष गायकों अर्थात् 'माव लुम' के लिए यह जरूरी होता है कि वह लाव और थाई तथा कभी-कभी थाम लिपियों में लिखी गई किताबों को पढ़ सकें और उन में से आवश्यक हिस्सों को उतार सकें। उनके बहुत से गाने लिखित रूप में होते हैं जिन्हें उनको याद करना पड़ता है। हम बाद में देखेंगे कि उनके गीतों का विषय नई-पुरानी कथाएं तथा स्थानीय दन्त कथाएँ होती हैं और वह बौद्ध मन्दिर में दिए गए कुछ उपदेशों के काफी निकट होती हैं। गाँव के स्कूल का शिक्षक, जो सरकारी अधिकारी के रूप में थाई भाषा पढ़ाता है और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लिए जिम्मेवार होता है, साक्षरता की नई प्रवृत्तियों का प्रतिनिधि है न कि पुरानी अथवा पारंपरिक का; शिक्षा के रूप में उसने भिक्षु का स्थान ग्रहण कर लिया है, लेकिन वह ग्रामवासियों और बाहरी दुनिया को जोड़ने वाली एक नए किस्म की कड़ी है और उसे प्रायः साक्षरता के पुराने रूपों में कोई रुचि नहीं होती।

यहाँ एक और बात समझना आवश्यक है। इसका सम्बन्ध साक्षरता की धारणा से है। पारम्परिक साक्षरता पर विचार करते हुए हमें उन लोगों के बीच अन्तर करना होगा जो केवल पढ़ सकते हैं, और जो पढ़ भी सकते हैं तथा लिख भी सकते हैं। जो लोग लिख सकते हैं उनमें भी यह देखना होगा कि कौन लोग केवल प्रतिलिपि

तैयार कर सकते हैं और कौन रचनात्मक लेखन की योग्यता रखते हैं। गाँव के पारम्परिक साक्षर विशेषज्ञ की प्रमुख योग्यता यह होती है कि वह पढ़ सके। निस्संदेह, अक्षर-ज्ञान के साथ-साथ लिखने की योग्यता भी उसे प्राप्त हो जाती है। लेकिन उसका मुख्य उपयोग प्रतिलिपि तैयार करने के लिए होता है। मुख्य जोर सुन्दर लिपि पर दिया जाता है न कि रचनात्मक लिपि पर। इस प्रकार गाँव के भिक्षुओं ने कोई नए ग्रंथ या भाष्य नहीं लिखे हैं। इसका नतीजा यह हुआ है कि जो भी ग्रंथ पहले लिखे जा चुके थे उन्हीं को ज्ञान का पवित्र भंडार मान लिया गया और वे समय के साथ-साथ बिना किसी परिवर्तन के सम्प्रेषित होते रहे। यह बात मुख्य रूप से 'नानसी थाम' अर्थात् उस पवित्र साहित्य पर लागू होती है जो थाम लिपि में लिखा गया है। गाँव के जो निवासी लाव या थाई लिपि लिख सकते थे उन्होंने अपनी इस जानकारी का उपयोग अन्य कार्यों के लिए किया। लेकिन ऐसा करते हुए भी मुख्य जोर प्रतिलिपियाँ तैयार करने पर दिया गया न कि पुराने ग्रंथों में कोई नई बात जोड़ने पर।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जिस साक्षरता द्वारा उपासना सबंधी ग्रंथों को पढ़ना संभव होता है उसकी सिखलाई गाँव के मंदिर में होती है। परंपरागत साक्षरता के अन्तर्गत पहले बालक को अक्षर-ज्ञान कराया जाता था, फिर उसे और ऊँचे दर्जे का शिष्य बनाया जाता था, फिर उसकी शिक्षा भिक्षु के रूप में होती थी और फिर वह अनुष्ठान-विशेषज्ञ के रूप में काम करता था। सरकार द्वारा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा शुरू करने से पहले बच्चे पढ़ने के लिए मन्दिर की पाठशाला में जाते थे जहाँ के शिक्षक बौद्ध भिक्षु हुआ करते थे। इस प्रकार प्राचीनकाल में साक्षरता प्राप्त करने के लिए मन्दिर की पाठशाला में जाना एक पहला आवश्यक कदम होता था और इस प्रकार जो शिक्षा प्राप्त होती थी उसे और आगे की पढ़ाई से सम्बद्ध किया जाता था जिसका मुख्य उद्देश्य धार्मिक और आनुष्ठानिक था। लेकिन हाल में यह स्थिति बदल गई है और कम से कम प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी स्कूलों की स्थापना तथा वेतन-भोगी शिक्षकों की नियुक्ति से परिवर्तन आया है। लेकिन जहाँ तक धार्मिक शिक्षा का प्रश्न है, उसका केन्द्र अभी भी मन्दिर

है जिसमें पुरानी परम्परायें कायम हैं।

साक्षरता के विभिन्न चरणों पर विचार करते हुए मैं गाँव के प्राइमरी स्कूल का पचास वर्षों का इतिहास दे रहा हूँ। इस विवरण में उसके पुराने ढाँचे पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

गाँव के स्कूल का इतिहास

शिक्षा के क्षेत्र में राष्ट्रीय महत्व की जो घटनाएँ हुई हैं उनको समझने के लिए गाँव के स्कूल का इतिहास जानना लाभदायक होगा। १८८७ में सम्राट चूलालोंघोर्न के शासन-काल में राजकुमार डामरोंग के निर्देशन में शिक्षा विभाग की स्थापना की गई। इस विभाग की कार्यवाही का गाँव के जीवन पर, और विशेष रूप से उस प्रदेश पर जिस पर हम विचार कर रहे हैं, बहुत कम असर पड़ा। १९२१ में सम्राट वजिरायुध ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के बारे में एक आदेश जारी किया। लेकिन यह कानून देश भर में नियमित ढंग से १९३५ के बाद ही अमल में आया। हाल के ही वर्षों में, विशेष रूप से यूनेस्को की कराची योजना के बाद, इस बात की पूरी कोशिश की गई है कि सभी के लिए प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएँ प्राप्त हों।

इस शताब्दी के आरंभ में गाँव का स्कूल एक मन्दिर में चलता था। मन्दिर में एक प्रधान भिक्षु था जिसे आचर्नवत थोंग कहते थे और दो अन्य सहायक भिक्षु थे। बच्चों को प्रधान भिक्षु ही शिक्षा देता था और कभी-कभी उसकी सहायता कोई भूतपूर्व भिक्षु कर दिया करता था। पढ़ाने के लिए उसे कोई पैसा नहीं मिलता था और सरकार भी प्रधान भिक्षु को कोई वेतन नहीं देती थी।

स्कूल में बहुत कम विद्यार्थी होते थे : कुल छै या सात। वे सभी बालक थे जो मन्दिर में रहते थे और भिक्षुओं की सेवा किया करते थे। कभी-कभी कोई लड़की भी पढ़ने वालों में शामिल कर ली जाती थी। शिक्षा अनिवार्य नहीं थी। न कोई दर्जा होता था न कोई परीक्षा। दो साल में पढ़ाई समाप्त हो जाती थी।

बच्चों को मामूली सा लिखना-पढ़ना और गणित सिखाया जाता था। उस समय बच्चों की पढ़ाई थाई लिपि में हुआ करती थी। पढ़ाई की पद्धति थी कंठस्थ कराना और लिखना सिखाना। गाँव में

आज शिक्षा की जो पद्धति पाई जाती है उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि पहले की पद्धति में कोई खास अन्तर नहीं आया है। आज भी बच्चे एक साथ मिलकर पाठ दुहराते हैं और उसे याद करते हैं।

जब भिक्षु शिक्षक वानथोंग ३० वर्ष के हुए तो उन्होंने चीवर त्याग कर ग्रहस्थ जीवन अपनाया। यह उस समय की बात है जब सम्राट वजिरायुध ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा संबंधी घोषणा की थी और सरकारी सहायता तथा रुचि उपलब्ध हो रही थी।

वान थोंग के बाद गाँव का शिक्षक उसीं का एक शिष्य बना। बाद में यह शिष्य भिक्षु बन गया और फिर प्रधान भिक्षु बना। इसका नाम आचर्न पुम्मा था। उस समय अर्थात् १६३० ई० तक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की घोषणा सरकार द्वारा की जा चुकी थी और वर्तमान स्कूलों को कुछ सरकारी सहायता भी प्राप्त थी। गाँव के स्कूल की सहायता के रूप में शिक्षक को कुछ वेतन मिलने लगा था। बच्चों से आशा की जाती थी कि वह नौ वर्ष की आयु में स्कूल में प्रवेश लेंगे और १४ वर्ष की आयु तक पढ़ेंगे। परन्तु स्कूल में कोई भी श्रेणी या परीक्षा की प्रणाली नहीं थी।

लगभग ८० लड़के-लड़कियाँ स्कूल में दाखिल थीं। लेकिन वे सभी हाजिर रहते हों, ऐसा नहीं होता था। पढ़ाई भी बहुत व्यवस्थित ढंग से नहीं होती थी क्योंकि केवल एक ही शिक्षक होता था। लेकिन कुछ बड़े बूढ़ों का कहना है कि उन्होंने पाँच वर्ष तक स्कूल में शिक्षा पाई और ये लोग आज भी थाई भाषा में साक्षर हैं। इस घटनाक्रम में विशेष दिलचस्पी की बात यह है कि आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए मन्दिर में सेवा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह गई थी। गाँव वालों का कहना है कि उस समय के बाद बहुत कम लोग ऐसे रह गए जो भिक्षुओं की सेवा करते थे। जो ऐसा करते थे वे सभी लोग भिक्षुओं के रिश्तेदार हुआ करते थे। वरिष्ठ भिक्षुओं की सेवा के लिए अब केवल वे शिष्य रह गए थे जो स्वयं भिक्षु होना चाहते थे।

३० वर्ष की आयु में आचर्न पुम्मा ने अपने चीवर उतार दिए जिससे वे विवाह कर सकें। इससे स्कूल को थोड़े समय के लिए बहुत

धक्का लगा और वह एक वर्ष तक कोई शिक्षक न होने के कारण बन्द रहा। इस स्थिति को सुधारने के लिए सरकार ने वेतन पर एक ऐसा शिक्षक नियुक्त किया, जिसका धर्म से सीधा संबंध नहीं था। तब से वह एक सरकारी स्कूल बन गया।

१९३३ में जिस स्कूल की फिर से स्थापना की गई और जिसका विस्तार किया गया वह पुराने मन्दिर के बरामदे में लगता रहा। १९३३ से १९६६ तक स्कूल में तीन शिक्षक नियुक्त हुए। १९५१ में पुराने मन्दिर की जगह स्कूल को उसके वर्तमान स्थान पर लाया गया जो स्वयं जीर्णावस्था में था और जिसे काफी सुधारना पड़ा। बाद में उसे नए मन्दिर में ले जाया गया। १९६६ में पहली बार स्कूल का अपना भवन बन गया और चौथे शिक्षक की नियुक्ति की गई। अब शिक्षकों को वेतन मिलता है, पाठ्यक्रम पर राष्ट्रीय नियंत्रण है और शिक्षा का माध्यम केवल थाई भाषा है।

अगर हम १९३० से पहले की परम्परागत साक्षरता पर विचार करें तो हम देखेंगे कि बहुत कम संख्या में और आम तौर पर मन्दिर के सेवक लड़के एक दो वर्ष तक गाँव के प्रधान भिक्षु से थाई भाषा लिखना और पढ़ना सीखते थे। ऐसे लड़कों की आयु १४ वर्ष से अधिक की नहीं होती थी। इसके बाद १७-१८ वर्ष का आयु होने तक उन्हें भिक्षु बनने के लिए कुछ समय के लिए दीक्षा दी जाती थी और इस प्रकार उनके पढ़ने का क्रम फिर शुरू होता था। लेकिन यह स्पष्ट है कि स्कूली शिक्षा और भिक्षु बनने के लिए शिक्षा के बीच व्यवधान आ जाता था।

शिष्यत्व और भिक्षु-वृत्ति

एक अन्य निबन्ध में मैंने कुछ व्यौरे से बताया है कि गाँव के जीवन में शिष्य और भिक्षु का क्या महत्व होता था। इसीलिए मैं इस सम्बन्ध में संक्षेप में ही वर्णन करूँगा। यह वर्णन केवल उसी हद तक किया जाएगा जिस हद तक साक्षरता और ज्ञान के सम्प्रेषण के सन्दर्भ में आवश्यक है।

भिक्षु बनने से पहले शिष्य बनना आवश्यक होता है। आम तौर पर १२ से १८ वर्ष की आयु में शिष्यत्व प्रदान किया जाता है।

अतीत काल में आम तौर पर १८ वर्ष के निकट की आयु में शिष्य बनाए जाते थे। भिक्षु बनने की आयु आम तौर पर २०-२१ वर्ष होती थी।

जहाँ तक संख्या का सवाल है, शिष्यत्व बहुत लोकप्रिय नहीं रहा है क्योंकि शिष्य लोग कुछ वर्षों तक मन्दिर में मुख्य रूप से इसलिए टिकते थे कि उन्हें कुछ सीखना होता था। इन में से कई लोग इस लिए सेवा-कार्य जारी रखते थे कि वे २०-२१ वर्ष की आयु होने तक भिक्षु बन सकें। दूसरे शब्दों में, शिष्यत्व इसलिए स्वीकार किया जाता था कि कुछ समय तक अथवा जीवन भर के लिए, भिक्षु-पद प्राप्त हो सके। धार्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए गम्भीर प्रयत्न तभी आरम्भ होता है जब कोई व्यक्ति शिष्यत्व ग्रहण करता है। लेकिन अस्थायी शिष्यत्व भी होता है, जो केवल कुछ सप्ताह के लिए हो सकता है, जिसे पुत्र व पौत्रादि इसलिए स्वीकार करते हैं ताकि वे मृत माता-पिता-पितामह के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें। इस प्रकार के शिष्यत्व के बारे में अलग से विचार किया जाना चाहिए।

भिक्षु-वृत्ति एक अलग वर्ग में है जैसा कि मध्य भाग के मैदान में प्रचलित थाई परम्परा से स्पष्ट है। उत्तर पूर्व भाग में भी यह परंपरा प्रचलित है। इसके अन्तर्गत हर साल युवकों के एक दल को भिक्षुओं के रूप में शिक्षित किया जाता है। इनमें से अधिकांश तीन से छः महीने की शिक्षा पाने के बाद ग्रहस्थ जीवन में लौट जाते हैं। यह एक प्रकार से सम्पूर्ण जीवन के लिए न हो कर थोड़े समय का क्रम होता है जिसके अन्तर्गत युवक स्वयं कुछ जानकारी प्राप्त करते ही हैं; लेकिन इससे भी अधिक वह अपने माता-पिता के प्रति कर्तव्य समझ कर यह वृत्ति ग्रहण करते हैं। इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि अस्थायी भिक्षु-वृत्ति दो पीढ़ियों अर्थात् माता-पिता और पुत्रों के बीच आदान-प्रदान के रूप में है। युवकों के लिए उसका महत्व यह है कि वह विवाह से पहले पवित्र जीवन और ब्रह्मचर्य के लाभ से परिचित होते हैं। जो लोग कुछ वर्षों तक भिक्षु बने रहते हैं, वे पहले शिष्यत्व ग्रहण कर चुके होते हैं।

इस संबंध में बान फान मुआन गाँव के कुछ आँकड़े दिये जा सकते हैं। १९६१-६२ में कुल १८२ परिवारों में से १०६ परिवारों के संबंध में जाँच करने से मालूम हुआ कि आधे से अधिक परिवारों के मुखिया भिक्षु रह चुके थे; लगभग एक तिहाई ने शिष्यों के रूप में शिक्षा पाई थी तथा १/५ भाग ने दोनों ही प्रकार का जीवन बिताया था। हम यह किसी कठिनाई के बिना मान सकते हैं कि साक्षरता की दृष्टि से इस पाँचवें भाग का सबसे अधिक महत्व है क्योंकि अधिकांश साक्षर इसी वर्ग के हैं।

गांव में धर्म-निरपेक्ष शिक्षा, विशेष रूप से माध्यमिक शिक्षा, उपलब्ध है। इसीलिए शिष्य के रूप में शिक्षा-प्राप्ति की अवधि घटती जा रही है यद्यपि भिक्षु-वृत्ति ग्रहण करने वालों के लिए उसकी अब भी आवश्यकता मालूम होती है। गाँव के तीन वयोवृद्ध सज्जनों के बारे में, जो सबसे अधिक आदरणीय नागरिक हैं, तथ्यों से पता चलता है कि अतीत में साक्षरता को दिशा क्या थी। मैं इन व्यक्तियों का नाम देना चाहूँगा क्योंकि इन की चर्चा बाद में भी आयेगी। इन में से एक हैं पावतू फान, जिनकी आयु १९६६ में ७० वर्ष की थी। वे गाँव के सबसे प्रसिद्ध चिकित्सक (माव या) हैं। साथ ही वे माव ख्यान समारोहों के अधिष्ठाता और बौद्ध उपासना में गृहस्थों के नेता भी हैं। १२ वर्ष की आयु होने पर चार वर्ष तक वे शिष्य रहे और उन्होंने थाम तथा लाव भाषाओं को अच्छी तरह पढ़ा। २१ वर्ष की आयु में वे भिक्षु बन गये और तीन वर्ष तक सेवा तथा अध्ययन करते रहे। एक अन्य व्यक्ति हैं आचर्न पुन जो एक मन्दिर के पुजारी और उपासकों के एक दल के नेता रह चुके हैं। वे ६४ वर्ष के हैं। वे १० से १२ वर्ष की आयु में मन्दिर के स्कूल में पढ़ने गए, १८ वर्ष की आयु में दो साल के लिए शिष्य बने और फिर ७ वर्ष तक भिक्षु रहे। तीन वर्ष तक भिक्षु रहने के बाद वे पुजारी बने। कुछ वर्ष बाद उन्होने ग्रहस्थ जीवन में प्रवेश किया और इस समय वे ग्रहस्थ हैं। पाव (पिता) चाम्पी ५९ वर्ष के हैं और वे गाँव के सबसे अधिक आदरणीय व्यक्ति माने जाते हैं। वे पावतू फान के उत्तराधिकारी हैं क्योंकि पावतू फान बहुत बूढ़े होने के कारण अब सक्रिय नहीं रह गए हैं। चाम्पी उस समय स्कूल गए जबकि पहली बार अनिवार्य

शिक्षा की घोषणा की गई। उन्होंने ६ से १४ वर्ष की आयु तक पढ़ाई की। १६ वर्ष की आयु में वे शिष्य बन गए और ३ वर्ष बाद शिक्षु बने। भिक्षु-वृत्ति उन्होंने एक साल में ही छोड़ दी।

पुजारी तोंग लुम २७ वर्ष के नौजवान हैं। वे वर्तमान पुजारी हैं और उन कुछ लोगों में है जिन्होंने भिक्षु-वृति अपनाई है। ६ से १४ वर्ष की आयु तक वे गाँव के प्राथमिक स्कूल में पढ़ते रहे और इसके तुरन्त बाद वे शिष्य बन गए तथा २० वर्ष की आयु तक शिष्य रहे। फिर उन्हें भिक्षु-वृत्ति में दीक्षित किया गया। उन्होंने तीन 'नगथाम' परीक्षाएँ पास की हैं और दूसरी परीक्षा पास करने के बाद अधिकारियों ने उन्हें गाँव में भिक्षुओं और शिष्यों को पढ़ाने की अनुमति दे दी।

शिष्यों और भिक्षुओं के अध्ययन का विषय और पद्धति; सभाओं में सम्प्रेषण और श्रोतावर्ग की प्रतिक्रिया

अब हम यह विचार कर सकते हैं कि शिष्यों और भिक्षुओं का अध्ययन किस ढंग का होता था और उन्हें क्या विषय पढ़ाए जाते थे। जो विवरण मैं दे रहा हूँ वह पचास वर्ष पूर्व का है जो मुझे गाँव के वयोवृद्ध लोगों से मालूम हुआ है। इसके साथ ही मैंने आजकल प्रचलित पद्धति का भी उल्लेख किया है। दोनों ही अवधियों में कुल मिला कर अध्यापन और अध्ययन की पद्धतियाँ और अध्ययन के विषय समान रहे हैं। जो कुछ परिवर्तन हुए हैं उनका सम्बन्ध पढ़ाई के विषयों से न हो कर लिपि से है। ५० वर्ष पूर्व गाँव की पाठशाला का संचालन ऐच्छिक आधार पर मन्दिर के प्रधान भिक्षु द्वारा किया जाता था। मन्दिर के सेवकों के रूप में शिष्य बनने के लिए उत्सुक विद्यार्थियों को आरम्भिक शिक्षा दी जाती थी और थाई भाषा पढ़ना-लिखना सिखाया जाता था। आजकल सैद्धान्तिक रूप में कोई लड़का शिष्य तभी बन सकता है जब वह सरकारी प्राइमरी स्कूल में चौथे दर्जे तक की पढ़ाई पूरी कर दे। इस प्रकार आज भी शिष्यत्व ग्रहण करने से पूर्व किसी लड़के की ४-५ साल की आरम्भिक पढ़ाई हो जाती है और वह थोड़ी बहुत थाई भाषा का लिखना-पढ़ना भी सीख जाता है।

अतीत में शिष्यों की शिक्षा तीन भागों में होती थी : प्रथम, उन्हें नान्सी थाम पढ़ना और थाम लिपि लिखना सिखाया जाता था; द्वितीय, उन्हें मन्त्र कंठस्थ करने की पद्धति बतायी जाती थी । इस प्रकार के मन्त्र-समूहों को 'सुआद' कहा जाता था । और तीसरे, प्रवचन या उपदेश देना सिखाया जाता था । प्रवचन को 'तेड़' कहा जाता था ।

नान्सी थाम का अध्ययन

शिष्यों को थाम लिपि लिखना और पढ़ना आवश्यक रूप से सीखना होता था । पढ़ाई सवेरे के जलपान के बाद शुरू होती थी । पहले प्रधान भिक्षु किसी कागज पर वर्णमाला लिखता था और फिर अक्षरों को पढ़ कर सुनाता था । जब शिष्य अक्षर ज्ञान प्राप्त कर लेते थे तो वे लिखने का अभ्यास करते थे । कक्षा के प्रत्येक विद्यार्थी के हाथ में ताड़पत्र की पोथी होती थी और वह जोर-जोर से उच्चरण करके पढ़ा करता था । शिक्षक उसके पीछे खड़े हो कर देखा करते थे कि वह ठीक से पढ़ रहा है या नहीं । जब पढ़ाई का ठीक-ठीक अभ्यास हो जाता था तो कागज पर लिखना सिखाया जाता था ।

प्रत्येक महीने अथवा दो महीने में एक बार शिक्षक अपने विद्यार्थियों की परीक्षा लेता था । अगर कोई गलती निकलती थी तो उसे छड़ी से पीट कर दण्ड दिया जाता था ।

आज (१९६६ में) कुछ परिवर्तन नान्सी थाम के अध्ययन के सम्बन्ध में हो गए हैं । भिक्षु और शिष्य दोनों ही वर्गों के लोगों का नान्सी थाम की पढ़ाई करनी होती है लेकिन यह पढ़ाई अनिवार्य नहीं है । जो लोग इसकी पढ़ाई करना चाहते हैं उन्हें प्रधान भिक्षु या पुजारी पढ़ाता है और पढ़ाने का ढंग वही है जो ५० वर्ष पूर्व था । इस प्रकार सबसे बड़ा परिवर्तन नान्सी थाम का ऐच्छिक अध्ययन है और अधिकांश शिष्य तथा भिक्षु भी थाम ग्रन्थों को नहीं पढ़ सकते । लेकिन जो लोग एक वर्ष से अधिक का समय मन्दिर में बिताना चाहते हैं उन्हें प्रवचन सीखना होता है, जो सभी थाम लिपि में हैं हालांकि अब दिनों दिन उन्हें थाई लिपि में रूपान्तरित किया

जा रहा है। परन्तु नान्सी थाम लिख सकने की योग्यता अब आवश्यक नहीं रह गई है क्योंकि छापेखानों के प्रचलन से अब पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने की आवश्यकता नहीं होती।

मन्त्र कण्ठस्थ करना

बहुत से धर्मों में, विशेषत: उन धर्मों में जिनमें उच्चस्तरीय साक्षरता की आवश्यकता होती है, पुरोहितों अथवा धार्मिक व्यक्तियों की एक विशेषता यह होती है कि वे मन्त्र और पवित्र पुस्तकों के पाठ याद कर लेते हैं और उन्हें सस्वर सुना सकते हैं। यह विशेषता बौद्ध भिक्षुओं में भी पाई जाती है तथा ब्राह्मणों और इस्लाम धर्मावलम्बियों में भी। गाँव के धार्मिक विशेषज्ञों के प्रशिक्षण का अधिकांश भाग धार्मिक ग्रन्थों के अंशों को कण्ठस्थ करना तथा उन्हें विशेष स्वराघातपूर्वक उच्चारित करना है। इसलिए उच्चारण के तरीके पर मैं सक्षेप में प्रकाश डालना चाहूँगा।

अतीत में और आज भी किसी भिक्षु से सम्बद्ध शिष्य का अधिकांश समय मन्त्रों को कंठस्थ करने में बीतता था। मन्दिर में जब भी कोई धार्मिक समारोह होता था अथवा किसी की मृत्यु पर जब कोई विशेष पूजा पाठ होता था अथवा गृह-प्रवेश होता था तो यह आशा की जाती थी कि भिक्षुगण मन्त्रोच्चारण करेंगे। गाँव के भिक्षुओं और शिष्यों से यह आशा की जाती है कि वे विशेष मन्त्रों को, जो ऐसे अवसरों पर पढ़े जायें, कंठस्थ करेंगे। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे बुद्ध भगवान की दैनिक आराधना के लिए प्रयोग में आने वाले मंत्रों तथा कुछ अन्य पवित्र ग्रन्थों जैसे पट्टीमोक्क को कंठस्थ करेंगे।

सामान्यत: दो वर्ष के अध्ययनकाल में जिन प्रमुख मंत्रों और धार्मिक ग्रन्थों के अंशों को कंठस्थ करना होता था उन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो 'सुआद मॉन' हैं, जो विशेष समारोहों आदि पर पढ़े जाने वाले मन्त्र होते हैं और दूसरे 'थाम वत्र' हैं जो भगवान बुद्ध की दैनिक पूजा के समय पढ़े जाने वाले मन्त्र हैं। सुआद मान के कारण ही भिक्षु सामान्य गृहस्थों से संबद्ध होते हैं क्योंकि इन मन्त्रों को भिक्षु सामान्य लोगों के

उत्सवों अथवा सभाओं में तथा गृह-प्रवेश आदि जैसे उत्सवों में पढ़ते हैं। इनके द्वारा वे जहाँ एक ओर ग्रहस्थों को आशीर्वाद देते हैं वहीं संकट-निवारण और सुरक्षा का भी आश्वासन देते हैं। संकट निवारण के लिए विशेष मन्त्र भी होते हैं, जिन्हें परित्त मंत्र भी कहते हैं। कुछ प्रेक्षकों के विचारों के विपरीत इस गाँव में बौद्ध धर्म का सम्बंध एकमात्र परलोक से न हो कर वर्तमान जीवन से भी होता है।

मंत्रों को कंठस्थ करने की पद्धति इस प्रकार है : थाम वत्र मंत्र समूहों को मुद्रित पोथियों से नहीं सीखा जाता। इन मंत्रों का उच्चारण बड़े सवेरे और रात में किया जाता है और इन्हें नवागन्तुक सुन कर ही याद कर लेता है। परन्तु सुआद मॉन मन्त्र समूहों तथा पट्टीमोक्क मन्त्रों को शिष्य स्कूल में एक साथ मिलकर सीखते हैं और अगर वे चाहें तो वे मुद्रित पोथियों से निजी तौर पर भी सीख सकते हैं।

शिक्षक प्रत्येक विद्यार्थी को कुछ मंत्र सीखने के लिए देता है। लगभग पाँच दिन बाद एक सम्मिलित कक्षा में बारी-बारी से प्रत्येक विद्यार्थी से कहा जाता है कि वह मन्त्रोच्चारण करे। इतना ही यथेष्ट नहीं होता कि वह मन्त्रों के अक्षरों और शब्दों को पढ़ सके बल्कि यह भी आवश्यक होता है कि उसका उच्चारण और स्वराघात विशेष प्रकार का ही हो। बड़े सवेरे स्कूल से पहले अथवा तीसरे पहर स्कूल के बाद शिष्य और भिक्षु अपनी-अपनी कुटिया में मन्त्रोच्चारण का अभ्यास अलग-अलग भी करते हैं।

शिष्यों और भिक्षुओं को बहुत बड़ी संख्या में मंत्र कंठस्थ हो जाते हैं और वे उनका सही उच्चारण भी कर सकते हैं, जिसका कारण यह तथ्य है कि बौद्ध धर्म कलात्मक दृष्टि से संगीतात्मक धर्म है और शब्दों को कंठस्थ करना संगीत की लय और ताल से संबद्ध प्रक्रिया है।

मन्त्रोच्चारण के लिए तीन गीतात्मक लयों का प्रयोग किया जाता है। मागध लय द्वारा मन्त्रों को अलग-अलग खण्डों में विभक्त किया जाता है। समयोक शैली द्वारा खण्डित उच्चारण सीखा जाता है। इस पद्धति में विराम प्रायः ऐसे व्यंजनों पर दिया जाता है, भले ही वे व्यंजन शब्द के बीच में आए हों, जैसे क, त, प और द। मंगल

सूत्रों के उच्चारण में लय की ये दोनों शैलियाँ प्रयोग में आती हैं। एक तीसरी शैली सरभन्न है, जिसमें स्वर ऊँचा रखा जाता है और स्वराघात विलम्बित होता है। विलम्बित उच्चारण की एक और पद्धति संघः है। सरभन्न पद्धति मुख्य रूप से अवमंगल मन्त्रों के उच्चारण के लिए प्रयोग में आती है जैसे मरणोपरान्त मन्त्रोच्चारण के लिए, जबकि धीमी और शोकाकुल लय उपयुक्त होती है।

कंटस्थ करने के क्रम में गाथा और सूत्र बहुत सहायक होते हैं। मन्त्रोच्चारण के समय लयात्मक ढंग से मन्त्रों की पुनरावृत्ति की पद्धति अपनाई जाती है। राइस डेविड्स ने लिखा है :

> स्मरण शक्ति की सहायता के लिए भारत में दो तरीके अपनाए जाते थे। एक तरीका व्याकरण पढ़ने वालों का था जिसके अन्तर्गत व्याकरण के प्रत्येक नियम को बहुत सक्षिप्त और गूढ़ सूत्रों में पिरोया जाता था जिससे उन्हें याद करने के लिए विशेष श्रम न करना पड़े। इन सूत्रों के अर्थ करने के बाद यह आवश्यक था कि उन्हें याद करने वाला व्यक्ति उनकी पूरी व्याख्या को समझे। तभी उनका अर्थ निकल पाता था। दूसरा तरीका बौद्धों के सूत्र और विनय पिटकों को याद करने के लिए अपनाया जाता था। इसके अन्तर्गत दो बातें होती थीं। एक तो यह कि कुछ ऐसे वाक्यांश याद किए जाते थे जो पहले से निश्चित होते थे और जिनकी सहायता से सम्पूर्ण विषय सरलता से याद आता जाता था। और दूसरा यह, कि पूरे वाक्यों को और कभी-कभी पैराग्राफों को दुहराया जाता था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋचाओं की तरह आरम्भ में बौद्ध गाथा साहित्य की भी मौखिक परंपरा थी और उसका सम्प्रेषण एक विशेष रूप से होता था जो मौखिक परंपरा का ही रूप था। उन्हें लिपिबद्ध बाद में किया जाने लगा।

गाँव में धर्म के क्षेत्र में बौद्ध मन्त्रोच्चारण से व्याख्या की समस्या उत्पन्न होती है। इन मन्त्रों की भाषा पालि है। परम्परा से उन्हें थाम लिपि में लिखा गया है। परन्तु आज वे मुद्रित रूप में थाई लिपि में उपलब्ध हैं। यही कारण है कि अब थाम लिपि का अध्ययन घट रहा है। परन्तु यह धार्मिक ग्रन्थ चाहे थाम लिपि में लिखे गए

हों या थाई में, उनकी पालि भाषा गाँव के अधिकांश शिष्यों और भिक्षुओं के लिए अपरिचित और विदेशी भाषा है। उनमें से कुछ लोग जो लम्बे समय तक भिक्षु बने रहना चाहते हों कभी-कभी पालि भाषा सीख लेते हैं। लेकिन ऐसा कम ही होता है। गाँव के अधिकांश भिक्षु और शिष्य जो कुछ उच्चारण करते हैं उसे प्रायः समझते ही नहीं या बहुत अपर्याप्त ढंग से समझते हैं। सामान्यजनों की सभाओं में प्रायः सभी स्त्रियाँ और अधिकांश पुरुष भी जो कुछ मन्त्रोच्चारण सुन रहे हैं या कर रहे हैं उनके अर्थ के बारे में वे कुछ भी नहीं जानते। परन्तु केवल ध्वनि के सहारे वे पहचान लेते हैं कि कौन से मौके पर कौन सा मन्त्रोच्चारण होना चाहिए। इस संबंध में कुछ लोगों को, जो पहले शिष्यत्व ग्रहण कर चुके हैं, कुछ अधिक जानकारी रहती है।

वास्तविक स्थिति जब इस प्रकार की हो तो दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह कि पालि में मन्त्रों ओर नान्सी थाम को पढ़ने की योग्यता किस हद तक केवल धार्मिक व्यक्तियों तक सीमित और गोपनीय मानी जाती है। दूसरा प्रश्न यह है कि अगर भिक्षुओं तथा शिष्यों द्वारा अनुष्ठान आदि के समय पालि मन्त्रों का उच्चारण आवश्यक माना जाता है और अगर साथ ही साधारण लोग उन मन्त्रों को बिल्कुल समझ नहीं पाते, तो ऐसे अनुष्ठानों के समय क्या सम्प्रेषित होता है।

पहले प्रश्न का उत्तर मैं बाद में दूँगा क्योंकि वह एक आम समस्या है, जिसका संबध भिक्षुओं को भर्ती करने, उनके पद की अवधि और उनके चीवर-त्याग के बाद उनकी गतिविधियों से है।

दूसरे प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर इस प्रकार है: गाँव के बौद्ध भिक्षुओं पर यह उत्तरदायित्व होता है कि वे सामान्यजनों को सद्‌-गुण प्रदान करें। इस दृष्टि से भिक्षुओं और सामान्यजनों में विशिष्ट सम्बन्ध होता है। अपने त्याग और तपस्या के जीवन से भिक्षु अंशतः इस मृत्युलोक से अलग का प्राणी माना जाता है और वह ऐसा प्राणी है, जो भगवान बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण का मार्ग सिखाता है। निर्वाण की ओर यात्रा करने वालों में सामान्य गृहस्थ निचलो श्रेणी का माना जाता है और वह संसार से लिप्त प्राणी होता है। समुचित

आराधना और अनुष्ठान द्वारा भिक्षु ग्रहस्थ बन कर भगवान बुद्ध द्वारा मानव जीवन के लिए संकटों पर विजय और निर्वाण-प्राप्ति की भावना सामान्यजनों तक पहुँचाता है, जिससे वे भी दुख और पीड़ा से मुक्त होकर शारीरिक और मानसिक दृष्टि से शान्ति और सुख प्राप्त करें। मन्त्रों के शब्दों को सामान्यजन समझ तो नहीं पाते और अधिकांश ग्रामीण भिक्षु भी उन्हें पूरी तरह नहीं समझते परन्तु ये मन्त्र अपने आप में बड़े प्रभावशाली माने जाते हैं क्योंकि वे भगवान बुद्ध के वचन माने जाते हैं, जिनमें भगवान की शक्ति निहित है और उनके उच्चारण से चमत्कार हो सकता है। मन्त्रोच्चारण के अन्त में भिक्षुओं द्वारा दिया गया आशीर्वाद एक अतिरिक्त लाभ है क्योंकि वह एक ऐसे भिक्षु द्वारा दिया जा रहा है, जिसका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन रहा है और जो अपने ज्ञान द्वारा उच्चारित पवित्र मन्त्रों के स ी-सही आशय को समझ सकता है। इन शब्दों का अर्थ समझना ही यथेष्ठ नहीं होता। सम्यक् जीवन और सम्यक् अनुशासन द्वारा भिक्षु को इनके आशय तक पहुँचना होता है और सद्ग्रहस्थ को इसके द्वारा सदाचरण और सद्विवेक प्राप्त होता है।

उपदेश (तेद)

उपदेश भी मन्त्रों के समान उच्चारित किए जाते हैं और इसी लिए उनके लिए अभ्यास की आवश्यकता होती है। उनके श्रोता उपदेशों के लयात्मक उच्चारण से बहुत प्रभावित होते हैं और इसीलिए शब्दों के साथ-साथ उच्चारण का भी महत्व माना जाता है।

गाँवों में प्रवचन शिष्यों अथवा भिक्षुओं द्वारा अपने आप नहीं तैयार किए जाते। उनका एक निश्चित रूप होता है और अलग-अलग अवसरों के लिए उनके अलग-अलग रूप होते हैं जो ताड़पत्र पर भी लिखे हुए रहते हैं। अतीत में प्रवचनों को हाथ द्वारा लिखा जाता था। लेकिन आजकल प्रायः दो तीन मुद्रित ताड़पत्र देखे जाते हैं ; विशेष रूप से ऐसी पांडुलिपियाँ थाई लिपि में होती हैं जो पहले थाम लिपि में लिखि जाती थीं।

उपदेशों के प्रकार और विषय

(१) पहले प्रकार के उपदेश वे होते हैं जिनमें यह बताया जाता

है कि गुणवान होने में क्या सुविधाएँ हैं और गुणवान को किस प्रकार दानी होना चाहिए। इसके अन्तर्गत भिक्षुओं और गाँव के मन्दिर के लिए विभिन्न अवसरों पर उपहार देने पर जोर दिया जाता है।

(२) एक प्रकार के विशिष्ट उपदेश वे होते हैं जो भिक्षुओं के लिए नई कुटिया, उपदेश के लिए नई शाला अथवा उपासना के लिए नया विहार बनने पर उसके उद्घाटन के अवसर पर दिए जाते हैं। यह सब भवन ग्रहस्थों द्वारा बनवाए जाते हैं।

(३) तीसरे प्रकार के उपदेशों को तेद नितार्न कहते हैं। इसका अर्थ है कथाओं को सम्बद्ध करने वाले उपदेश। मैं इन पर विशेष जोर देना चाहूँगा क्योंकि इसका सम्बन्ध न केवल गाँव वालों द्वारा बौद्ध धर्म की नैतिकता और आचारशास्त्र से होता है बल्कि वे इस प्रकार के होते हैं कि श्रोतागण उन्हें भलीभाँति समझ सकते हैं और अपने जीवन में कार्यान्वित कर सकते हैं। इसके साथ ही वे धर्म की संकीर्ण सीमा से बाहर जा कर सांस्कृतिक सम्प्रेषण भी सम्भव बनाते हैं।

परम्परा से तेद नितार्न वस्तुतः नान्सो थाम अथवा ताड़पत्रों पर लिखी गई पवित्र पुस्तकों के अन्तर्गत काफी प्रमुख स्थान प्राप्त करते रहे हैं। इन उपदेशों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है (क) पाठोम सम्पोटे : ये भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध कथाएँ होती हैं—विशेष रूप से, उनके जन्म, सन्यास और निर्वाण प्राप्ति की कथाएँ—और इसके साथ ही उनके पूर्व जन्मों के आख्यान भी होते हैं। जिन्हें चाडोक (जातक) कथाएँ कहा जाता है। सभी उपदेशों में इस प्रकार की कथाओं को समान रूप से पाया जाता है और यह सम्पूर्ण थाइलैंड में सुविदित कथाएँ हैं। परन्तु प्रत्येक अंचल में इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है। इस प्रकार इस निबन्ध में जिन कथाओं का उल्लेख किया जा रहा है वे उत्तर पूर्वी अंचल की कथाएँ हैं जो इस अंचल की विशिष्टताओं के अनुसार परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजर चुकी हैं। (ख) लुम फ्रा वेसनदान : यह उपर्युक्त वर्ग की ही कथा होती है। लेकिन इसका विशेष उल्लेख इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसके कई अध्याय होते हैं और यह भगवान बुद्ध के जन्म के ठीक पहले वाले जन्म की कथा होती है जो बड़ी प्रभावशाली है। इसे वेसदनदान चाडोक (वेशान्तर जातक) कहते हैं। एक बहुत बड़ी

उपदेश कथा होती है जिसके पढ़ने में पूरा दिन निकल जाता है और इसे बुन फ्रा वेस के अवसर पर, जो गांव का सबसे बड़ा धार्मिक और ग्रहस्थों का त्यौहार होता है, सुना जाता है। यह त्यौहार फ़सल कटने के बाद ही आता है। उत्तर पूर्वी भाग की इस कथा को मध्य थाईलैंड में 'महा छंद' अर्थात् महान् कथा के नाम से जाना जाता है। (ग) वे नितार्न अथवा कथाएँ जो मुख्य रूप से स्थानीय और आंचलिक, पौराणिक अथवा दन्त कथाएं हैं और जिन्हें अन्यत्र नहीं पाया जाता। इन्हें श्रोतागण विशेष रूचि से सुनते हैं और इनका उतना नैतिक महत्व नहीं होता जितना नाटकीय प्रभाव होता है।

इन तीनों ही प्रकार की उपदेश-कथाओं को तेद नितार्न कहा जाता है और ये विभिन्न पवित्र अवसरों और त्यौहारों पर सुनाई जाती हैं।

मैं पहले बता चुका हूँ कि साधारण गृहस्थ के लिये पालि मंत्रों के उच्चारण का अधिक महत्व होता है और वह मन्त्र के शब्दों के अर्थ की ओर ध्यान नहीं देता। इन मन्त्रों का उच्चारण विशेष अवसरों पर उसी रूप में किया जाता है, जिस रूप में जादू-टोने के मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। उनकी तुलना में विभिन्न प्रवचन और उपदेश कथाएँ श्रोताओं द्वारा अच्छी तरह समझी जाती हैं। यह भी दिलचस्प बात है कि ऐसे अवसरों पर, जबकि उपदेशों द्वारा लोगों को दानवीर बनने के लिए प्रेरित किया जाता है, गाँव के निवासी स्वयं निश्चय करते हैं कि वे कौन से उपदेश या कथाएँ सुनना चाहते हैं। मुझे गाँव के मुख्य पुजारी ने बताया कि गाँव वाले प्रायः तीसरे अर्थात् (ग) वर्ग की कथाओं को सुनने के लिए उत्सुकता प्रकट करते हैं।

भगवान बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध कथाएँ सम्पूर्ण थाईलैंड में प्रचलित हैं और विभिन्न रूपों में सभी बौद्ध सभाओं में कही और सुनी जाती हैं लेकिन हमने देखा है कि जो कथाएं उत्तर पूर्वी भाग में (और सम्भवतः लाओस में) जन्मो हैं वे थाईलैंड के अन्य सांस्कृतिक अंचलों की अपेक्षा अपना सांस्कृतिक व्यक्तित्व कहीं अधिक बनाएं रखती हैं। उनके सम्प्रेषण के केन्द्रों में केवल मन्दिर ही नहीं होता; लोक नर्तकों की मण्डलियाँ भी एक अन्य माध्यम से इन कहानियों का

प्रचलन करती हैं। इसके अतिरिक्त पढ़े लिखे ग्रामवासी भी इन कथाओं की कृतियाँ प्राय: रखते हैं और मृतक संस्कार के समय उन्हें शोकाकुल व्यक्तियों और अतिथियों को सुनाते हैं।

हाल के वर्षों में प्रथम और द्वितीय कोटि के उपदेशों का रूप समान होने से थाई बौद्ध धर्म में एकरूपता आती गई है क्योंकि उन्हें थाई लिपि में मुद्रित करके प्रचलित किया गया है। अब उत्तर पूर्वी भाग की कथाओं को भी थाई लिपि में मुद्रित किया जा रहा है हालाँकि उनकी भाषा का रूप अभी भी स्थानीय बना हुआ है।

भिक्षुओं की शिक्षा

ज्ञान और साक्षरता की दृष्टि से गाँव के भिक्षु दो प्रकार के हैं:

अल्पसंख्या में वे भिक्षु हैं जो पहले शिष्य रह चुके हैं और बाद में जिन्हें भिक्षु वृत्ति में दीक्षित किया गया क्योंकि वे उस समय तक मन्दिर में रहना चाहते थे। परन्तु बहुसंख्यक वे लोग हैं जो केवल एक सत्र के लिए भिक्षु बने हैं।

पहले वर्ग के भिक्षुओं के लिए भिक्षुवृत्ति उनकी धार्मिक और दार्शनिक शिक्षा का लगातार चलने वाला रूप होता है। आम तौर पर शिष्य को अपनी सेवा के दूसरे वर्ष में नगथम परीक्षाओं के लिए तैयार होना होता है (नगथम का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो धर्म के सिद्धान्तों और आचरण की जानकारी रखता हो)। ये परीक्षाएँ जिले के धार्मिक अधिकारी लेते हैं। इनके लिए काफी जोरदार तैयारी करनी होती है और प्राय: गाँव के मंदिर इस सम्बन्ध में बहुत व्यस्त रहा करते हैं।

नगथम परीक्षाएँ वर्ग-३ से जो सबसे नीचे का वर्ग है, वर्ग-१ तक की होती हैं जो सर्वोच्च वर्ग माना जाता है। सबसे निचले वर्ग के अध्ययन के अन्तर्गत आरम्भिक स्तर की जानकारी दी जाती है और अगले दो वर्गों के अध्ययन के लिए क्रमश: स्तर और ऊंचा होता जाता है। बान फ्रान मुआन गाँव के अधिकांश भिक्षु वर्ग-३ या २ से आगे नहीं बढ़ पाते। गाँव के प्रधान भिक्षु या पुजारी कालान्तर में वर्ग-१ की परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकते हैं लेकिन अतीत में इसे आवश्यक नहीं माना जाता था। उदाहरण के लिए १९६२ में केवल

प्रधान भिक्षु और एक शिष्य ने वर्ग-२ की परीक्षा पास की थी और ५ में से ४ भिक्षुओं ने वर्ग-३ की परीक्षा पास की थी तथा ५ वें भिक्षु ने कोई भी परीक्षा पास नहीं की थी। शिष्यों में से दो शिष्य सबसे निचली श्रेणी में असफल हो गए थे। बाद के वर्षों में प्रधान भिक्षु ने वर्ग-१ की परीक्षा पास की और अब उन्हें सरकारी तौर पर स्कूल चलाने का अधिकार मिल गया है।

उक्त तीनों वर्गों के अन्तर्गत पालि भाषा के अध्ययन का प्रबन्ध नहीं है यद्यपि मंत्रों और बौद्ध धर्म के सिद्धान्त ग्रन्थों की वही भाषा है। पालि भाषा का अध्ययन अलग से किया जाता है और उससे सम्बद्ध परीक्षाओं को प्रयोग कहा जाता है, जिनके सात वर्ग हैं। सिद्धान्त रूप में भिक्षु अगर चाहे तो नगथम परीक्षाओंके लिए अध्ययन करते हुए पालि के लिए भी अध्ययन कर सकता है और अगर वह चाहे तो पहले प्रकार के अध्ययन को समाप्त करने के बाद पालि का अध्ययन शुरू कर सकता है। लेकिन व्यवहारतः पालि का अध्ययन सरल कार्य नहीं है क्योंकि अगर कोई भिक्षु या शिष्य वैसा करना भी चाहे तो उसे सिखाने वाला कोई भिक्षु आसानी से नहीं मिल पाता। गाँव के बहुत कम भिक्षुओं को पालि का ज्ञान होता है और इसलिए इस भाषा का अध्ययन कम हो पाता है। इसलिए मेरा यह विचार है कि गाँव के अधिकांश भिक्षु और शिष्य या तो पालि का ज्ञान नहीं रखते या बहुत अपर्याप्त ज्ञान रखते हैं और इसलिए वे पालि मन्त्रों और सिद्धान्त ग्रन्थों को समझने में असमर्थ हैं। सिद्धान्त ग्रन्थ स्थानीय लिपियों में ही उपलब्ध हैं लेकिन मंत्रों को स्थानीय भाषाओं में रूपान्तरित नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करने पर उनकी पवित्रता और प्रभाव नष्ट हो जाता है।

अगर कोई भिक्षु अपने शिष्यत्वकाल से आगे सेवा कार्य जारी रखता है तो उसे विशेष अध्ययन के रूप में नए मन्त्र सीखने का अवसर मिलता है, जिन्हें नवकोवद कहा जाता है। ये बौद्ध धर्म के २२७ विनयपिटक हैं। वह पट्टीमोक्क को भी सीखता है जो विनयपिटक के अनुसार पालि भाषा में आत्मस्वीकृतियाँ हैं।

जो भिक्षु केवल एक सत्र के लिए वृत्ति ग्रहण करता है उसके लिए यह आशा की जाती है कि वह खामवत्र का प्रशिक्षण लेगा,

जिसका तात्पर्य है भगवान बुद्ध की प्रातः और सायंकालीन आराधना। उसे भिक्षुओं के लिए निर्दिष्ट आचरण के पाँच और आठ नियम भी सीखने होते हैं। उसे सुआद मोंगखोन मन्त्रों को कठस्थ करना होता है और विनयपिटक के नियम भी सिखाए जाते हैं। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जो भिक्षु थोड़े समय के लिए ही वृत्ति धारण करते हैं वे अपने गृहस्थ जीवन में पालि में मन्त्रोच्चारणों की जानकारी ले कर प्रवेश करते हैं, जिसका उपयोग करने का उन्हें कभी अवसर नहीं मिलता। लेकिन अगर वे बराबर भिक्षु बने रहें तो वे मन्दिर और घरों के बहुत से अन्य स्थानों के समारोहों में भाग लेते रहते हैं जिनमें बार-बार मन्त्रोच्चारण करना पड़ता है। जो शिष्य बाद में भिक्षु बन जाता है और मन्दिर में कुछ वर्षों तक रहता है वह एक अलग कोटि में आता है, जिसकी चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ।

मन्दिर का पुस्तकालय

गाँव में पाण्डुलिपियों और ग्रन्थों का प्रमुख आगार गाँव का मन्दिर है। इस प्रकार की पुस्तकें लम्बे समय से एकत्रित होती रही हैं। भिक्षुओं की प्रत्येक पीढ़ी वर्तमान ग्रन्थों में या तो प्रतिलिपियों द्वारा या अन्य उपायों से जैसे अन्य मन्दिरों से माँग कर इन पुस्तकों में वृद्धि करती रही है। दान-दाताओं के लिये भी यह बड़े पुण्य का काम माना जाता है कि वे विशेष अवसरों या अनुष्ठानों पर मन्दिर को पुस्तकें भेंट करें। बहुत सी आधुनिक पुस्तकें प्राचीन परम्परा के अनुसार ताड़पत्र पर लिखी गई हैं। विशेष रूप से उपदेश इसी रूप में ग्रन्थबद्ध किए गए हैं। लेकिन बौद्ध सिद्धान्तों और मन्त्रों के सम्बन्ध में कागज पर थाई लिपि में मुद्रित पुस्तकें भी अब दिनों दिन बढ़ रही हैं। यह तो मुझे नहीं मालूम कि प्राचीन काल में सामान्यजनों को भेंट करने के लिए पुस्तकें कैसे प्राप्त होती थीं लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार करने वाले भिक्षुओं अथवा भूतपूर्व भिक्षुओं से वे प्राप्त की जाती थीं।

१९६६ में गाँव के मन्दिर में लगभग ९० विभिन्न प्रकार की सिद्धान्त पुस्तकें थीं। इन में से बहुत सी पुस्तकों में से उपदेश या

उपदेश कथाएँ पढ़ी जाती थीं। बहुसंख्यक पुस्तकें स्थानीय कथाओं के रूप में थीं। मैं उन सबकी सूची तो नहीं बना पाया हूँ लेकिन लगभग ३५ पुस्तकों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है :

(१) स्थानीय मूल कथाएँ —१५
(२) भगवान बुद्ध के जीवन की कथाएँ—७
(३) बौद्ध धर्म और उपदेशों की पुस्तकें—५
(४) भिक्षुओं के अनुशासन के सम्बद्ध पुस्तकें—३
(५) विशेष अवसरों के लिए उपदेश और मन्त्रोच्चारण—३
(६) अन्य (अर्थात् थाईलैंड में बौद्ध धर्म के प्रवेश की कथा आदि)—२

नगरों के विहारों में, जहाँ बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षु रहते हैं, बौद्ध अध्ययन के बड़े केन्द्र भी पाये जाते हैं और इसीलिए वहाँ पुस्तकालय भी बड़े होते हैं और उनकी व्यवस्था भी अधिक अच्छी होती है। लेकिन गाँव में पुस्तकों को व्यवस्थित ढंग से रखने का प्रबन्ध नहीं होता और भिक्षुओं की संख्या अधिक होने के कारण उनके अधिकार में जो ग्रंथ होते हैं उनकी पूरी जानकारी नहीं मिल पाती और उनका उपयोग केवल विशेष अवसरों पर ही हो पाता है। जैसा कि मैं शिष्यों और भिक्षुओं की शिक्षा के संदर्भ में बता चुका हूँ, अतीत काल में जो लोग काफी लम्बे समय तक भिक्षुवृत्ति ग्रहण करते थे वे अनेक स्थानीय कथाओं को भी पढ़ते थे, जिससे उन कथाओं को उपदेश के लिए काम में ला सकें। लेकिन अब इन कथाओं अथवा नान्सी थाम का उपयोग अधिक नहीं रह गया है तथा मुद्रित पुस्तकों पर निर्भरता बढ़ गई है। इसलिए पुराना पुस्तकालय नए भिक्षुओं के लिए अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह गया है और यह आशंका व्यक्त की जाती है कि पुरानी पुस्तकें अपेक्षित रहेंगी और उन्हें किसी अन्धेरे कोने में डाल दिया जाएगा। यह भी सम्भव है कि पारम्परिक शहरी मन्दिरों के पुस्तकालयों की भी यही दशा हो विशेष रूप से थाम, युवान और कोर्म लिपियों में लिखे गए पुराने ग्रन्थों की।

अनुष्ठानों के भूतपूर्व भिक्षु नेता

इस प्रकार के भिक्षुओं को मैं तीन वर्गों में विभाजित करना चाहूँगा। ये तीनों ही साक्षर विशेषज्ञ वर्ग हैं। इनमें पहला वर्ग है— 'आचर्न वत' भिक्षुओं का, जो बौद्ध सभाओं के गृहस्थ नेता हुआ करते हैं; दूसरा वर्ग है 'माओ या' लोगों का, जो चिकित्सक होते हैं और तीसरा वर्ग 'माओ थान' लोगों का है, जो ख्वान समारोहों के अधिकारी होते हैं। यह कहा जा सकता है कि चिकित्सा सम्बन्धी वर्ग को आनुष्ठानिक विशेषज्ञों के वर्ग में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिए। लेकिन मैंने यह इसलिए किया है कि इस वर्ग के लोगों को भी जिस साक्षरता की आवश्यकता होती है उसे वह मन्दिर में ही सीखता है। एक ही व्यक्ति तीनों ही प्रकार का विशेषज्ञ हो सकता है। चिकित्सा का लोक प्रचलित विज्ञान अपने साथ कुछ ग्रानुष्ठानिक तत्वों को ले कर चलता है और थाईलैंड के देहातों में प्रायः भिक्षु ही चिकित्सक भी बन जाते हैं और अपने विद्यार्थियों को चिकित्सा का भी ज्ञान कराते हैं।

इन तीनों प्रकार के विशेषज्ञों के बारे में मैं गाँव के उन तीनों व्यक्तियों का विवरण प्रस्तुत करके विचार करना चाहूँगा जो इन कामों को वास्तविक रूप में करते हैं और जिनकी साक्षरता तथा शिक्षा सम्बन्धी पृष्ठभूमियों का उल्लेख मैं कर चुका हूँ। इन तीन व्यक्तियों के नाम हैं—आचर्न पुन, पाओ तू थान और पाओ चम्पी।

आचर्न वत

इन तीनों ही प्रकार के काम करने वाले व्यक्तियों का भिक्षु जीवन से परिचय है। वे साक्षर हैं ग्रौर उन्हें मन्त्रों का ज्ञान है। इसलिए ग्रगर वे चाहें तो बौद्ध ग्राराधना के लिए एकत्र जन-समूह का नेतृत्व कर सकते हैं। जब ये तीनों ही एक साथ किसी ऐसी सभा में उपस्थित होते हैं तो प्रायः आचर्न पुन को नेता चुना जाता है क्योंकि वे पहले कभी प्रधान भिक्षु रह चुके हैं।

आचर्न का कार्य यह होता है कि वह एकत्र जन-समूह की ओर से भिक्षुओं को ग्रामन्त्रित करे कि वे उपदेश दें अथवा अथवा

मन्त्रोच्चारण करें। आचर्न का यह भी काम होता है कि वह गृहस्थों द्वारा दिए गए भोजन तथा अन्य उपहारों को ग्रहण करे। इस प्रकार के उपहार देने के लिए प्रेरित करने वाले अवसरों पर भिक्षु पालि भाषा में मन्त्रों का पाठ करने हैं।

आचर्न द्वारा आमन्त्रण के लिए जिन प्रमुख मन्त्रों का पाठ किया जाता है उनके नाम निम्नलिखित हैं :

आरातना सील—भिक्षुओं को पंचशील अथवा अष्टशील का उपदेश देने के लिए आमन्त्रित करना;

आरातना तवै संकतार्न— भिक्षुओं को भोजन के लिए आमंत्रित करना;

आरातना पहुंग—भिक्षुओं को भिक्षा मांगने से पूर्व मन्त्रोच्चारण के लिए आमंत्रित करना;

आरातना थेड़—भिक्षुओं को उपदेश या प्रवचन देने के लिए आमंत्रित करना;

आरातना उपक्रुत—फ्रा उपक्रुत नामक एक पौराणिक आत्मा को, जो किंवदंती के अनुसार गाँव में निकट के दलदल में रहती है, आमन्त्रित करना कि वह ग्रामवासियों के साथ विशेष समारोह में सम्मिलित होने लिए मन्दिर तक जाए।

माओ या और माओ ख्वान (प्राह्म)

गाँव के सबसे प्रमुख 'माओ या' अथवा चिकित्सा-विशेषज्ञ पाव तू फान हैं जिन्हें ५० वर्ष से अधिक हुए चार वर्ष के लिए शिष्यत्व प्रदान किया गया और फिर तीन वर्ष तक वे भिक्षु रहे। वे फान गाँव के सबसे प्रतिष्ठित माओ ख्वान प्राह्म भी हैं, अर्थात् वे अधिकारी, जो ख्वान समारोहों का नेतृत्व करते हैं।

हम देखें कि वे किस प्रकार चिकित्सा विशेषज्ञ बन गए हालांकि उन्होंने २३ वर्ष की आयु में मन्दिर त्याग दिया था और विवाह कर के गृहस्थ जीवन बिताने लगे थे।

३० वर्ष की आयु में फान ने अपने मामा में चिकित्सा की जानकारी प्राप्त करना शुरू किया। उनके मामा समुदाय के चिकित्सक पद पर काम कर रहे थे, जो सरकार द्वारा स्वीकृत पद

था । फान के अनुसार उन्होंने कई वर्षों तक अपने मामा से चिकित्सा-विज्ञान सीखा और मामा की मृत्यु के बाद ही लगभग ४० वर्ष पूर्व माओ या बने ।

ऐसा प्रतीत होता है कि उनके चिकित्सा-शिक्षक उन्हें जंगलों में ले जाते थे और वहाँ जड़ी-बूटियों की पहचान कराते थे तथा उनके उपयोग बताते थे । उन्होंने फान को चिकित्सा के ऐसे ग्रन्थ भी दिए, जिनमें उदर शूल, प्रसव के बाद की स्थिति, मितली, तपेदिक, विषैले खाद्य पदार्थों के रोग, गुप्त रोग आदि को ठीक करने के विषय में बताया गया था । उन्हें निदान की पद्धतियाँ भी सिखाई गईं और नाड़ी देखकर तथा रोगियों के लक्षण सुनकर रोग के विषय में निर्णय करना सिखाया गया ।

पाओ तू फान एक सफल चिकित्सक हैं, जिन्होंने आस पास के गाँवों के लोगों की भी चिकित्सा की है । दो वर्ष पूर्व उन्होंने रोगियों के पास जा कर उन्हें देखना बन्द कर दिया और अब वे ही स्वयं उनके पास आते हैं । चिकित्सा का शुल्क लिया जाता है परन्तु वह कितना हो यह मरीज की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है । उस गरीब गाँव में पाओ तू फान एक सबसे अमीर व्यक्ति हैं और उनकी आय मुख्यतः लोगों की चिकित्सा से होती है । लेकिन इस बात पर भी जोर देना होगा कि रोग-मुक्ति एक बहुत यश और धर्म का काम माना जाता है और अधिकांश मामलों में उनकी फीस नाममात्र की होती है तथा अधिक से अधिक लगभग दो शिलिंग के बराबर । उसके साथ ही आरम्भ में पाँच जोड़ी मोम बत्तियाँ तथा पूजा के लिए फूल लिए जाते हैं । इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साक्षरता का एक पुरस्कार यह है कि अगर कोई चाहे तो प्रतिष्ठित चिकित्सा विशेषज्ञ बन सकता है । ऐसा होने पर पैसा मिलने के साथ-साथ ख्याति भी मिलती है क्योंकि चिकित्सा एक धार्मिक कर्तव्य माना जाता है ।

अब हम देखें कि पाओ तू फान किस प्रकार माओ फान भी बन गए । यहाँ इस अनुष्ठान का व्यापक विवरण देने की गुँजाइश नहीं है । लेकिन यह ध्यान देना संगत होगा कि ख्वान तथा अन्य समारोहों में खास ज़ोर उन शब्दों पर होता है जिनका उच्चारण लाव बोली में

होता है जो थाम लिपि में लिखे हुए होते हैं। ख्वान का तात्पर्य होता है किसी मनुष्य की सारभूत आत्मा जो किन्हीं संकट कालों में (यथा गर्भाधान काल तथा विवाह, धर्म-दीक्षा, कष्ट-संकट तथा यात्रा आदि के समय) शरीर को त्याग कर चली जाती है और इसलिए शरीर में बीमारी आ जाती है। ख्वान अनुष्ठान का प्रमुख प्रभाव यह होता है कि उसकी वह सारभूत आत्मा अथवा ख्वान फिर शरीर में लौट आती है। इसको मूर्त रूप देने की दृष्टि से इस समारोह के समय कलाई में एक धागा बाँध दिया जाता है। इस अनुष्ठान से इसे कराने वाले का मनोबल लौट आता है।

जब फान लगभग ५० वर्ष के थे तो उन्हें उनके वंश के एक व्यक्ति ने निमंत्रित किया कि वह उसके मूल निवास स्थान में जा कर एक समारोह में भाग लें क्योंकि वह स्वयं बहुत व्यस्त होने के कारण उस समारोह के अधिकारी के रूप में वहाँ जाने में असमर्थ था। इस प्रकार फान को ख्वान समारोह का अध्ययन करने का मौक मिला। वे न सिर्फ उस समारोह के लिए वहाँ गए बल्कि लगभग एक वर्ष तक उसी गाँव में रहे और उन्होंने वहाँ अध्ययन भी किया।

लगभग १२ या १३ वर्ष पूर्व पाओ तू फान ने यह निश्चय किया कि उन पर आनुष्ठानिक कर्तव्यों का बोझ इतना अधिक है कि वे अकेले उसे नहीं उठा सकते। इस प्रकार के अनुष्ठान संख्या में बहुत अधिक होते हैं और उन्हें कराने के लिए आर्थिक पुरस्कार बहुत कम होता है। इसलिए उन्होंने अपने उत्तराधिकारी के रूप में अपने एक दूर के रिश्तेदार पाओ चम्पी को चुन लिया।

पाओ चम्पी अब उनसठ वर्ष के हैं और गाँव के सबसे आदरणीय नेता हैं। वे पहले गाँव के मुखिया, भिक्षु और शिष्य रह चुके हैं और मन्दिर समिति के भी नेता हैं। पाओ चम्पी के पिता भी ख्वान समारोह कराया करते थे लेकिन अपने पुत्र को उसकी शिक्षा देने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन उन्होंने चम्पी को कुछ पोथियाँ दीं। २१ वर्ष की आयु में पूर्ण साक्षर होने के बावजूद पाओ चम्पी ने ४६ वर्ष की आयु से पहले आनुष्ठानिक कार्य आरम्भ नहीं किया। लेकिन उनके पिता ने उनकी रुचि जाग्रत कर दी थी और वे अनेक ग्रन्थों को पढ़ चुके थे। वे पाओ तू फान को अनुष्ठानों के समय

सहायता दिया करते थे और उनसे सीख लेने के बाद उन्होंने सरल अनुष्ठानों को स्वयं कराना आरम्भ किया। ये ऐसे अनुष्ठान थे, जिनमें अधिक कठिनाई नहीं पड़ती थी और कम से कम शब्दों का प्रयोग किया जाता था। अब पाओ चम्पी गांव में सभी प्रकार के ख्वान तथा 'सिया क्रो' अनुष्ठानों को कराते हैं जो दुर्भाग्य को दूर करने के लिए होता है।

ऊपर जो तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं उनसे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। चिकित्सा और ख्वान समारोह के लिए मन्दिर में एक विशेष प्रकार की साक्षरता प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। लेकिन अगर कोई व्यक्ति शिष्य और भिक्षु रहा है तो वह अपनेआप में चिकित्सा या अनुष्ठान विशेषज्ञ नहीं बन जाता। इन कलाओं को पारम्परिक रूप में किसी ऐसे व्यक्ति से सीखना होता है जो इनमें दक्ष है और जो अपने किसी संबंधी को अपने उत्तराधिकारी के रूप में मनोनीत करने और प्रशिक्षण देने के लिए तैयार है। प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले को तब तक आम तौर पर प्रतीक्षा करनी होती है जब तक उसका शिक्षक स्वयं इन अनुष्ठान कार्यों को करना बन्द न कर दे। ऐसा लगता है कि इस प्रकार का अनुशासन एक व्यावसायिक आवश्यकता मानी जाती थी और कम से कम इस गांव में तो उपर्युक्त विवरण से सही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

इस प्रकार गुरु-शिष्य के बीच दुहरे सम्बन्ध का आशय यह है कि माओ ख्वान और माओ या जैसी कलाओं को सीखने के लिए लोगों को खुली छूट नहीं थी और इनका सीखना सीधा सादा व्यावसायिक कार्य नहीं था। इन्हें वही सीख सकता था जिसे इनको सिखाने वाला योग्य और उपयुक्त समझे।

उपर्युक्त साक्षर विशेषज्ञों और ऐसे विशेषज्ञों की तुलना करना बड़ा दिलचस्प होगा, जिन्हें साक्षरता की आवश्यकता नहीं होती।

जो असाक्षर विशेषज्ञ भविष्यवक्ता अथवा माओ सोंग होता है उसे भी किसी गुरु की आवश्यकता होती है। इस गाँव के सबसे प्रमुख भविष्यवक्ता ने अपनी कला अपने पिता से सीखी थी। उसने यह कार्य सीखना २५ वर्ष की आयु से आरम्भ किया और उसका शिक्षणकाल सात वर्ष का रहा। लेकिन स्वयं उसके पिता ने यह कला

लाओस में अपने एक मित्र से सीखी थी, जिससे उसका पशुओं का व्यापार चला करता था। उसके लिए साक्षरता की आवश्यकता नहीं है। लेकिन भविष्यवक्ता लगभग उसी प्रकार चुना जाता है और उसे उसी तरह प्रशिक्षण दिया जाता है, जिस तरह साक्षर विशेषज्ञ को दिया जाता है। अन्तर इतना ही है कि वह ऐसा व्यक्ति भी हो सकता है जिसने कभी भी भिक्षु या शिष्य के रूप में आरंभिक प्रशिक्षण न लिया हो। इसके अलावा वह भविष्यवाणी सम्बन्धित अभ्यास के लिए किसी लिखित ग्रन्थ का सहारा नहीं लेता।

माओ फान अथवा ओझा का प्रशिक्षण विभिन्न प्रकार का होता है। थोड़ा सा शुल्क दे कर इसे किसी भी विशेषज्ञ से सीखा जा सकता है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थी यह सिद्ध कर सके कि वह प्रेतात्मा का माध्यम बन सकने की योग्यता रखता है। प्रशिक्षण के अन्तर्गत शक्तिशाली तन्त्रमन्त्र आदि कंठस्थ करने होते हैं। यह जानने की आवश्यकता नहीं होती कि उन तन्त्र-मन्त्रों के अर्थ क्या होते हैं। इस कला को सीखने वाले के लिए यह छूट है कि वह अपने गुरु के साथ ही स्वयं भी इसका प्रदर्शन करता रहे।

इसी प्रकार कुछ अन्य विशेषज्ञ भी होते हैं जैसे जुम, तियाम, फी फा आदि परन्तु ये प्रेतादि के माध्यम होते हैं। इनका चुनाव इनकी व्यक्तिगत विशेषताओं के ही आधार पर किया जाता है। लेकिन इन्हें अन्य विशेषज्ञों से अपना कार्य सीखना होता है, जिसके लिए वे विशेषज्ञों को उपहार तथा शुल्क देते हैं। इनकी सिखलाई के लिए किसी प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं होती। कुछ विशेष प्रकार के सम्भाषणों और प्रेत बाधा की शान्ति के लिए मंत्रों को वे कंठस्थ कर लेते हैं। लेकिन वे मन्त्र शुद्ध ही हों इस पर कोई जोर नहीं दिया जाता।

अनुष्ठान संबन्धी ग्रंथ

माओ ख्वान अनेक समारोहों का अधिकारी होता है। प्रत्येक ऐसे अवसर के लिए उसके पास एक विशेष पुस्तक होती है। इस

पुस्तक की भाषा हमेशा उत्तर-पूर्वी लाव भाषा होती है। बान फ्रान मुआन गाँव में माओ ख्वान हमेशा ताड़पत्र की पोथी से मन्त्रादि पढ़ता है। वह अपनी ओर से मन्त्रादि नहीं बनाता और पूरे के पूरे ग्रन्थों को कंठस्थ करना बहुत ही कष्टसाध्य होता है। इसलिए उसे पढ़ कर सुनाना होता है। इस प्रकार की पुस्तकें दो कारणों से बहुत महत्त्व पूर्ण होती हैं। अनुष्ठान के अधिकारियों के लिए उनमें जानकारी की विशेष सामग्री होती है क्योंकि उनमें अनुष्ठान की विधि का विस्तार से वर्णन होता है। श्रोताओं के लिए भी वे महत्वपूर्ण होती हैं क्योंकि उनमें पढ़े गए अंश से श्रोता परिचित होते हैं और इसीलिए उनका बहुत तीव्र आनुष्ठानिक प्रभाव पड़ता है। माओ या के पास भी विशेष बीमारियों के लिए पुस्तकें हो सकती हैं जो वह रोग के निदान के लिए पढ़ता है। वह यह कार्य अपने खाली समय में भी कर सकता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन विशेषज्ञों के पास पुस्तकों का अपना निजी संग्रह होना चाहिए और अगर आवश्यकता हो तो उन्हें एक-दूसरे से भी पुस्तकें मांगते रहना चाहिए। माँगना इसलिए संभव होता है कि पुस्तकों में गोपनीय ज्ञान नहीं होता। पुस्तकों तक किसी की पहुँच होती है या नहीं यह उन्हें पढ़ सकने की योग्यता द्वारा निर्धारित होता है।

मुझे उस गाँव में कुछ ग्रामवासियों के पास जो पस्तकें देखने को मिलीं उन्हें मैं निम्नलिखित भागों में बाँट सकता हूँ: १. चिकित्सा की पुस्तकें, २. ख्वान समारोह संबन्धी पुस्तकें ३. अशुभ को दूर करने और बीमारियों को दूर हटाने के लिए प्रेत बाधाओं को समाप्त करने से सम्बद्ध पुस्तकें, ४. ज्योतिष की पुस्तकें। यह सम्भव है कि निजी पुस्तक संग्रहों के अन्तर्गत स्थानीय लोक कथाओं और लोक कविता की पुस्तकें भी मिल सकें।

प्राचीनकाल में ये पुस्तकें मन्दिरों में मिला करती थीं, जहां एक प्रकार का पुस्तकालय होता था और पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ भी तैयार होती रहती थी। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अनुष्ठान आदि बौद्ध धर्म की व्यापक परम्पराओं के अन्तर्गत आ जाते थे। इस प्रकार के अनुष्ठानों का नेतृत्व चीवरधारी बौद्ध भिक्षु नहीं कर

सकते थे। लेकिन उनसे संबद्ध पुस्तकों का ज्ञान वे इसलिए प्राप्त कर लेते थे कि आगे चल कर सम्भव है कि उन्हें चीवर त्यागने पड़ें और गृहस्थ के रूप में उन अनुष्ठानों का भार संभालना पड़े। जहां तक चिकित्सा का संबंध है भिक्षु को उसकी अनुमति होती थी और इसी लिए कभी मन्दिर इस प्रकार के ज्ञान का संग्रह स्थान और सम्प्रेषण का केन्द्र हुआ करता था।

मैं इस संबंध में कुछ ठोस उदाहरण देना चाहूँगा। आचर्न पुन ने, जो प्रधान भिक्षु रह चुके थे, मुझ से कहा कि जब उन्होंने भिक्षु-वृत्ति त्यागी तो उनके पास ख्वान समारोहों, ज्योतिष और दैवी विपत्तियों को दूर करने के समारोहों से सम्बद्ध पुस्तकों का संग्रह था। उन्होंने बताया कि जब वे शिष्य और भिक्षु थे तब ये पुस्तकें प्रधान भिक्षु के पास थीं और उन्होंने इनकी प्रतिलिपियाँ तैयार कर लीं। इस प्रकार या तो किसी को पुस्तकें उत्तराधिकार में मिलती थीं अथवा वह उनकी उस समय प्रतिलिपियाँ तैयार कर लेता था जबकि वह भिक्षु या शिष्य के रूप में कार्य करता था। पुस्तकें बिक्री के लिए बिल्कुल नहीं होती थीं। लेकिन अब बहुत से बौद्ध मन्त्रों की पुस्तकें मुद्रित होने के बाद बिक्री के लिए उपलब्ध हैं हालांकि इनमें उन समारोहों की पुस्तकें नहीं हैं, जिनका जिक्र मैंने किया है।

पाओ लारंग ५८ वर्ष के हैं और उन्हें उत्तराधिकार में अपने श्वसुर से बड़ी संख्या में पुस्तकें मिली हैं, जिन्होंने अपने भिक्षुकाल में उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं। पाओ लारंग ने इन पुस्तकों का कोई उपयोग नहीं किया और जब १९६६ में मैं उनसे मिला तो मैंने देखा कि उनके मकान में पड़ी हुई ये पुस्तकें खराब हो रही हैं। और यह स्थिति तब थी जबकि पाओ लारंग स्वयं भिक्षु रह चुके थे और वे नान्सी थाम को पढ़ सकते थे।

पारम्परिक साक्षरता : कुछ संख्यात्मक पक्ष

अब मैं अन्त में यह बताना चाहूँगा कि कितने लोगों ने साक्षरता का पारम्परिक मार्ग अपनाया और इनमें से कितने लोग वस्तुतः साक्षर हुए। इस संबंध में मैं शिष्यों, भिक्षुओं और सामान्य अनुष्ठान

विशेषज्ञों से संबद्ध पारम्परिक साक्षरता पर विचार करूँगा। अगर मैं आधुनिक शैक्षिक शब्दावली में कहूँ तो मैं यह विचार करूँगा कि साक्षरता की दृष्टि से कितना शैक्षिक प्रयत्न बेकार गया और उसके क्या कारण थे।

इससे पहले शिष्यों और भिक्षुओं की संख्या का जिक्र करते हुए मैंने संकेत दिया है कि यद्यपि परिवारों के पुरुष मुखियाओं में से आधे लोग ऐसे थे जिन्होंने मन्दिर में किसी न किसी प्रकार की धार्मिक सेवा की थी, लेकिन इनमें से पाँचवाँ भाग ही ऐसा था जो शिष्य और भिक्षु रह चुका था और इसीलिए यह माना जा सकता है कि इस वर्ग के लोगों को नानसो थाम तथा धर्म निरपेक्ष लाओ और थाई लिपियों में कागज-पत्र पढ़ने की कला सीखने का अवसर मिला होगा। लेकिन यह नहीं माना जा सकता कि जब इन मुठ्ठी भर लोगों ने गृहस्थ जीवन फिर आरम्भ किया होगा तब भी यह सब कुछ पढ़ने की योग्यता उन्होंने बनाए रखी होगी। आज गाँवों में बहुत से ऐसे वयोवृद्ध व्यक्ति हैं, जिन्होंने अपनी युवावस्था में नानसी थाम का अध्ययन किया था। लेकिन अब उनका पढ़ने-लिखने का अभ्यास बिल्कुल छूट गया है।

१९६६ में मोटे तौर पर गृहस्थ लोगों की गिनती की गई थी, जिनकी परम्परागत थाम और लाव लिपियों की जानकारी बनी हुई है। गाँव वालों ने बताया कि ऐसे लोगों की संख्या सात है। इनमें से केवल तीन आनुष्ठानिक नेता थे अथवा उस प्रकार के चिकित्सक थे जिसका वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। शेष चार यद्यपि छुटपुट साहित्य पढ़ने के योग्य थे लेकिन वे अपनी साक्षरता का उपयोग ऐसे ढंग से नहीं कर रहे थे कि उसका गाँव पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव दिखाई दे।

इससे हम कुछ अन्य तथ्यों पर भी पहुँचते हैं जिनकी चर्चा की जा चुकी है। अगर कोई व्यक्ति शिष्य या भिक्षु रह चुका है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह स्वतः आनुष्ठानिक या चिकित्सा सम्बन्धी दक्षता प्राप्त कर लेगा। हो सकता है कि कई वर्ष बीत जाने के बाद वह किसी ऐसे अनुष्ठानकर्ता अथवा चिकित्सक से दक्षता प्राप्त करे जो उसे अपने बाद अपना पद देने के लिए उत्सुक है। इस संबंध में सीखने वाले का अपना व्यक्तिगत प्रयत्न और

उचित लोगों से उसके कौटुम्बिक संबन्ध का भी महत्व होता है।

इस प्रकार गाँवों में शिष्यत्व अथवा भिक्षुवृत्ति सीमित नहीं है और कोई भी पुरुष उन्हें अपना सकता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई चाहे कि उसका लड़का इन वृत्तियों में दीक्षित हो तो इसमें कोई आर्थिक कठिनाई नहीं आती। वस्तुतः इस गाँव में दीक्षा संस्कार एक सामूहिक संस्कार है जिसके लिए पूरा गाँव वित्तीय योगदान देता है। परन्तु मुख्य रूप से कुछ व्यक्तिगत तथा विशेष तत्व और प्रवृत्तियाँ यह निर्धारित करती हैं कि नौजवानों में से कौन लोग मन्दिर में इतने लम्बे समय तक सेवा करेंगे, जिससे वे साक्षरता और धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर सकें। गृहस्थ जीवन फिर शुरू करने पर कितने लोग अनुष्ठान विशेषज्ञ होंगे और गाँव वालों का आदर करेंगे, यह व्यक्तिगत प्रयत्न तथा अन्य प्रतिबन्धित कसौटियों पर निर्भर करता है; जैसे इस बात पर कि कोई ऐसा गुरु मिल जाये जो अपना ज्ञान कभी ऐसे व्यक्ति को देने को तैयार हो, जिसे वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता हो।

हाल के वर्षों में गाँव में बहुत कम ऐसे युवक देखे गये हैं, जो परम्परागत कागज-पत्रों को पढ़ सकते हैं। इसका कारण सरकार की यह शिक्षा नीति है कि बच्चों को केवल थाई भाषा के माध्यम से पढ़ाया जाय। दूसरा कारण यह भी है कि आज शिष्य या भिक्षु यह आवश्यक नहीं समझते कि वे थाम लिपि पर अधिकार प्राप्त करें। तो प्रश्न यह होता है कि इस परिस्थिति का क्या प्रभाव पारम्परिक अनुष्ठान और चिकित्सा पर पड़ता है।

गाँव के बड़े बूढ़े इसे सचमुच एक समस्या मानते हैं क्योंकि अनुष्ठान विशेषज्ञों अथवा चिकित्सकों की संख्या उस अंचल में घटती जा रही है हालांकि जनता द्वारा उनकी सेवाओं की मांग में कोई कमी अभी नहीं आई है। उदाहरण के लिए ख्वान संस्कार आजकल भी व्यापक रूप से मनाया जाता है। अधिकांश गाँव वालों की चिकित्सा गाँव के अपने ही वैद्य करते हैं न कि सरकारी डाक्टर। फिर भी पारम्परिक साक्षरता में ह्रास के कारण भविष्य में विशेषज्ञों की संख्या पर गम्भीर प्रभाव पड़ सकता है। इस समय भी वयोवृद्ध विशेषज्ञों की मृत्यु के कारण कमी महसूस की जा रही है।

लेकिन हाल के वर्षों में एक प्रवृत्ति देखने में आ रही है जिसका आशय मैं ठीक ढंग से नहीं समझ सका हूँ। पूर्वोत्तर भाग में उडोर्न और खोन काएन तथा कुछ अन्य नगरों में खास तौर से उन दुकानों में, जहाँ बौद्ध अनुष्ठान सम्बन्धी सामग्री और साहित्य बिकता है बहुत सस्ते दाम वाली और साधारण रूप से मुद्रित पुस्तिकाएं तथा पुस्तकें बिकती हैं, जो पूर्वोत्तर अंचल की लोक कथाओं, रीति रिवाज और आनुष्ठानिक विषयों से सम्बद्ध हैं। वे थाई वर्णमाला में मुद्रित हैं लेकिन उनकी भाषा स्थानीय बोली है। ऊपरी तौर पर कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो आधुनिक अर्थों में साक्षर हो और थाम लिपि को नहीं जानता हो, इन पुस्तकों को पढ़ सकता है और इस साहित्य का उपयोग उसी रूप में कर सकता है जिस रूप में बौद्ध पुस्तकों की जानकारी रखने वाले लोग किया करते हैं। मैंने स्वयं इस प्रकार की मुद्रित पुस्तकों और कथा संग्रहों की प्रतियाँ खरीदी हैं और उन्हें गाँव वालों को दिखाया है। गाँव वालों में से कुछ ने उनके बारे में सुना था या उन्हें देखा था। लेकिन उनमें से किसी के पास भी वे पुस्तकें नहीं थीं। गाँव के अनुष्ठान विशेषज्ञों की राय थी कि मुद्रित आनुष्ठानिक पुस्तकें अशुद्ध हैं। ये पुस्तकें कई मील दूर स्थिति खोन काएन कस्बे में छापी गई थीं और मुद्रकों ने उस कस्बे में पाई गई स्थानीय पाण्डुलिपियों का प्रयोग किया था जिनमें ब्योरे के मामले में उडोर्न क्षेत्र की पाण्डुलिपियों से कुछ भिन्नता थी। मैं समझता हूँ कि अगर इन मुद्रित पुस्तकों को अशुद्ध माना जाता है तो यह सम्भावना नहीं कि उन्हें गाँव में अपनाया जायेगा।

धर्म-निरपेक्ष साक्षरता
(नौटंकी)

माव लुम का अर्थ है नौटंकी और नौटंकी के कलाकार। वास्तव में पूर्वोत्तर थाइलैंड में नौटंकी मनोरंजन का एक सबसे लोकप्रिय साधन है। इसका एक प्रमाण यह है कि जहाँ कहीं गाँव में रेडियो का कार्यक्रम सुना जाता है सबसे अधिक श्रोता माव लुम के ही होते हैं। उडोर्न के आस पास के गाँवों में इस नौटंकी के दो रूप प्रचलित हैं। एक को 'माव लुम क्लौन' कहते हैं, जिसका अर्थ है पद्यगायन

और दूसरा 'माव लुम याग' है, जिसका अर्थ है गद्य में नाटकीय कथाओं का प्रस्तुतीकरण। पहले रूप को प्रस्तुत करने के लिए केवल एक या दो संगीतज्ञों और एक बांसुरी वादक की आवश्यकता होती है जबकि दूसरे रूप के लिए अभिनेताओं की मण्डली की आवश्यकता होती है। बान फ्रान मुआन गाँव में क्लौन प्रस्तुत करने के लिए एक पुरुष और उसकी स्त्री का जोड़ा है। पुरुष बांसरी बजाता है और स्त्री गाती तथा नृत्य करती है।

माव लुम से होने वाले मनोरंजन की लोकप्रियता का कारण यह है कि इसके अन्तर्गत विषय पूर्वोत्तर की कथाओं और किंवदंतियों से लिया जाता है जिनके विषय में मैं पहले बता चुका हूँ। यद्यपि क्लौन को पद्यात्मक संगीत कहा जाता है लेकिन वास्तविक रूप में यह लचीले ढंग से गाये गए तुकबन्दी वाले गीत होते हैं जिन पर छन्द सम्बन्धी वे ऊँचे प्रतिमान लागू नहीं होते जो साहित्यिक क्षेत्र में लागू किए जाते हैं। ये गीत एक गायक से दूसरे गायक तक मौखिक रूप में भी पहुँचते हैं और लिखित रूप में भी। इसके अतिरिक्त नए-नए गीत भी बना लिए जाते हैं क्योंकि यह आशा की जाती है कि एक अच्छा माव लुम गायक अवसर के अनुकूल गीत बनाएगा और लोगों को खुश रखने के लिए हाजिरजवाबी से काम लेगा।

माव लुम का प्रस्तुतीकरण मुख्यतः प्रत्येक गाँव के रंगमंचों पर उन दिनों होता है जबकि सामूहिक रूप से वार्षिक बौद्ध समारोह मनाए जाते हैं। इन्हें शिष्यों और भिक्षुओं को दीक्षा देने जैसे अवसरों पर भी आयोजित किया जाता है। ऐसे मौकों पर मन्दिर के मैदान में रात के समय मेला जैसा लग जाता है और लोग इस नौटंकी का आनन्द उठाते हैं। माव लुम मण्डलियाँ रात नौ बजे से सवेरे साढ़े पाँच बजे तक अपने कार्यक्रम पेश करती हैं। उन्हें मन्दिर समिति द्वारा संग्रहीत धन में से पारिश्रमिक दिया जाता है। यह धन मन्दिर के उपासकों के योगदान तथा मन्दिर की सीमा की दुकानों के किराए से जमा किया जाता है नाटक मंडलियाँ पूर्वोत्तर भाग में दूर-दूर की यात्रा भी करती हैं। इस गाँव के गायकों ने मुझे बताया कि उन्हें न केवल अन्य गाँवों से निमत्रण मिलता है बल्कि अन्य जिलों से भी, और कभी-कभी निकट के अन्य

प्रान्तों से भी बुलावा आता है। इनका पारिश्रमिक इस बात पर निर्भर करता है कि उन्हें कितनी दूर की यात्रा करनी है।

इन नाटक-नौटंकियों के अन्तर्गत जिन विषयों का समावेश होता है उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

(१) प्रणय और विवाह सम्बन्धी प्रसंग
(२) लाओस की राजधानी वियन त्यान नगर की कहानी
(३) पूर्वोत्तर अंचल अथवा लाओस की लोककथाएँ
(४) थाई लोगों का इतिहास और भौगोलिक वर्णन
(५) मध्य थाईलैंड में प्रचलित और थाई साहित्य में समाविष्ट प्रसिद्ध कहानियाँ
(६) भगवान बुद्ध के अन्तिम पूर्व जन्म की कहानियाँ
(७) भगवान बुद्ध की जीवन कथाएं

उपर्युक्त सूची से हम कई निष्कर्ष निकाल सकते हैं। माव लुम सम्बन्धी अधिकांश गीत बौद्ध और स्थानीय कथाओं पर आधारित होते हैं। ये कथाएं अन्य संदर्भ में भिक्षुओं द्वारा प्रवचनों के रूप में भी सुनाई जाती हैं। माव लुम सम्बन्धी पुस्तकें धर्म-निरपेक्ष लाव लिपि में लिखी होती हैं। लेकिन माव लुम प्रस्तुत करने वालों को मन्दिर में विशिष्ट अवसरों पर आमंत्रित किया जाता है और कभी-कभी घरों में भी पवित्र अवसरों पर उनके कार्यक्रम होते हैं। इसलिए यह विचार शायद सही नहीं होगा कि माव लुम एक धर्म निरपेक्ष मनोरंजन है। दूसरी ओर यद्यपि माव लुम एक मन्दिर के प्रांगण में प्रस्तुत किया जाता है तो भी भिक्षुओं के लिए यह कार्यक्रम देखने को मनाही है जो इस बात का संकेतवाहक है कि यह मनोरंजन भिक्षुओं के त्यागमय जीवन के लिए अनुकूल नहीं है।

वस्तुतः माव लुम का रंग-पटल प्रवचनों से कहीं व्यापक है। इसके अन्तर्गत प्रणय-प्रसंग और प्रेम काव्य, प्रहसन और सांसारिक हास्य-विनोद आदि शामिल रहते हैं। इसमें युवकों और युवतियों को उल्लसित करने वाले रोमानी भाव और प्रसंग भी होते हैं।

माव लुम-गायक न केवल आंचलिक परम्पराओं को सुरक्षित रखते है और उनका प्रसार करते हैं बल्कि वे एक प्रकार के माध्यम बनते हैं, जिनके जरिये से मध्य और उत्तरी थाईलैंड में ज्ञात और

लोकप्रिय कतिपय कथाएं और महाकाव्य पूर्वोत्तर भाग के गाँवों तक तक पहुँचते हैं। माव लुम गायक बुद्ध के जीवन के बारे में उन कथाओं का भी गायन करते हैं जिनको राष्ट्रव्यापी जानकारी होती है और जिन्हें मन्दिरों में विभिन्न रूपों में सुनाया जाता है। हम कह सकते हैं कि आज यह गायक राष्ट्रीय महत्व के विचारों और नारों के प्रचार के माध्यम बन गए हैं।

वस्तुतः माव लुम गायकों का राष्ट्रीय प्रसार सम्बन्धी योगदान लगभग उसी प्रकार का है जैसा कि रेडियो और टेलीविजन जैसे संचार के साधन का होता है। इस गाँव के माव लुम गायक ने मुझे बताया कि उडोर्न में उसने एक ऐसी माव लुम पुस्तक खरीदी जो सरकार द्वारा कुछ अमरीकी एजेंसियों के सहयोग से प्रकाशित की गई थी। इन नयी पुस्तकों में ग्राम विकास, पशु पालन और अन्य सरकारी कार्यक्रमों, कम्युनिस्ट विरोधी प्रचार, परमाणु राकेटों, मनोवैज्ञानिक युद्ध (सोंग्राम चित्त वित्या) और पूर्वोत्तर भाग के प्रान्तीय पुनर्गठन जैसे विषयों का समावेश होता है। इन को विशेष रूप से लिखाया गया है और जिस हद तक इन्हें गायक अपनाते हैं उस हद तक सरकार द्वारा निर्धारित राजनीतिक और सामाजिक-आर्थिक नीतियों का गहराई के साथ प्रचार होता चलता है।

इस दृष्टि से माव लुम गायक साक्षरता की तकनीकी समस्या से सम्बद्ध हो जाता है। उसके श्रोताओं के लिए आवश्यक नहीं है कि वे साक्षर हों लेकिन गायक को लाव और थाई लिपियों का ज्ञान होना आवश्यक है, जिससे कि वह इन लिपियों में उपलब्ध उस साहित्य को पढ़ सके, जो उसके व्यवसाय के लिए आवश्यक है। निःसंदेह कुछ गीत मौखिक रूप से भी एक गायक से दूसरे गायक तक पहुँचते हैं और कुछ गीतों का निर्माण गायक समय और परिस्थितियों के अनुसार स्वयं भी कर लेते हैं। परन्तु मौखिक और लिखित परम्पराएँ एक दूसरे से पृथक न हो कर एक दूसरे की पूरक हैं और परम्परा गायक को जो छूट देती है उसके कारण हमें इस तथ्य को महत्वहीन नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक माव लुम गायक को पहले पहल गायन का प्रशिक्षण लेना पड़ता है और बाद में उसे अपने गीत भण्डार का विस्तार करना होता है, जिसके लिए

उसे लिखित रूप में गीत संग्रहों की आवश्यकता होती है। जब एक गायक दूसरे गायक को प्रशिक्षण देता है तो वह ऐसे गीतों को भी अपने शिष्यों की कापियों में लिखा देता है, जिन्हें वह मूल रूप से बनाता है और इस प्रकार से गीत संग्रह बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार की वृद्धि का जहाँ एक ओर यह परिणाम होता है कि अनेक रूपों के गीत मिल जाते हैं वहाँ यह भी कि गीत अपने शास्त्रीय अथवा अभिजात रूप में बने नहीं रह पाते और उनमें कुछ न कुछ परिवर्तन या विकृति आती रहती है।

गाँव की एक गायिका ने प्रशिक्षण पद्धति के विषय में मुझे बताया कि जब वह बारह वर्ष की थी तब उसने कक्षा चार तक की आरम्भिक पढ़ाई पूरी कर ली थी और उसे थोड़ी बहुत साक्षरता उपलब्ध हो चुकी थी। इसके बाद उसके माता-पिता ने उसे माव लुम के अध्ययन के लिए खोन काएन कस्बे में भेजा। वहाँ वह अपने गुरु के ही घर में रही और उसने सात महीने तक अध्ययन किया।

दिन के समय में वह पद्यों की नकल उतारती थी और उन्हें जबानी याद करती थी। शाम को और रात के समय वह अपने गुरु के मार्ग-दर्शन के अनुसार गायन और नृत्य का अभ्यास करती थी। अपना अध्ययन पूरा कर लेने के बाद उसने अपने गुरु से कुछ तंत्र मंत्रात्मक पद्यों को भी सीखा क्योंकि व्यावसायिक गायिका के रूप मैं गायन आरम्भ करने के लिए यह आवश्यक था कि वह इन तंत्र-मंत्रों का उच्चारण करे और इनसे सम्बद्ध अनुष्ठान करे तभी वह आगे का कार्यक्रम शुरू कर सकती थी। इन तंत्र-मंत्रों का एक यह भी उद्देश्य था कि उनसे बाद के गीतों को स्मरण रखने की क्षमता प्राप्त हो और श्रोता उसके गायन को सुन कर आनन्दित हो सकें और उसकी आवाज सुरीली बनी रहे। उसने अपना अध्ययन पूरा होने पर अपने गुरु के प्रति आदर भी प्रकट किया और उन्हें पारम्परिक उपहार भी दिया। और उसके बाद उन तंत्र-मंत्रों उच्चारण किया जो उसकी व्यावसायिक कुशलता को बनाए रखें।

अध्ययन के अंत में गुरु को उनके परिश्रम के लिए ८ सौ वाट (थाई सिक्के) और गीतों तथा कथाओं की पुस्तकों के लिए चार सौ वाट दिए गए। वास्तव में माव लुम का प्रशिक्षण एक व्यवसाय है

जिसके लिए शुल्क देना पड़ता है। इसे सीखने वाला गायक अपने गायन से पारिश्रमिक प्राप्त करता है। इस प्रकार यह गायन उस गायन के बिल्कुल भिन्न है, जो निःशुल्क मन्दिरों में प्रस्तुत किया जाता है और जिसके लिए बहुत मामूली मूल्य के कुछ उपहार गायकों को दिए जाते हैं।

विद्वान भिक्षु की साक्षरता

मैं इस अध्याय में गाँव के बौद्ध धर्म की सीमा से बाहर व्यापक बौद्ध धर्म की चर्चा करना चाहूँगा, जिसका उद्देश्य पाठकों को यह बताना है कि गाँव की साक्षरता की सीमाएँ क्या हैं और एक अलग-थलग गांव से शुरू हो कर शिक्षा सम्बन्धी जटिल प्रसार का क्या स्वरूप रहा है।

थाईलैंड में आंचलिक स्तर पर धार्मिक शैक्षणिक संस्थाओं का जाल बिछा हुआ है जिनका केन्द्र बिन्दु शहरी और ऐतिहासिक देहाती केन्द्र हैं। ये सब केन्द्र राष्ट्रीय राजधानी बैंकाक से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। अनेक धार्मिक पाठशालाओं के अतिरिक्त बैंकाक में भिक्षुओं के लिए दो विश्वविद्यालय हैं जिनमें वे विषय पढ़ाये जाते हैं जो सामान्यतया किसी भी धर्म-निरपेक्ष विश्वविद्यालय में पढ़ाये जाते हैं।

गाँव के जो युवक और शिष्य होनहार और कुशाग्र बुद्धि होते हैं वे अक्सर गाँव के मन्दिर को छोड़ जिले के धार्मिक केन्द्रों में जाते हैं। वहाँ उन्हें विद्या के ऐतिहासिक प्रान्तीय केन्द्रों में भेजा जा सकता है और अंत में वे बैंकाक पहुँचते हैं। साक्षरता की दिशा में यह यात्रा भिक्षु-वृत्ति की कुछ विशेषताओं के कारण सम्भव होती है। पहली विशेषता तो यह है कि किसी भी शिष्य या नौजवान भिक्षु को अपने मार्ग-दर्शक के रूप में किसी वयोवृद्ध भिक्षु को स्वीकार करना होता है, जो उसे शिक्षा देता है और ऊँचे केन्द्रों में भेजता है तथा उसकी सहायता करता है। गुरु-शिष्य सम्बन्ध बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसके कारण सम्पूर्ण धर्म शिक्षा की व्यवस्था शिष्य को सुलभ हो जाती है। दूसरी बात यह है कि किसी गाँव के मंदिर के प्रधान भिक्षु का सम्पर्क अपने जिले के

अन्य प्रधान भिक्षुओं से बना रहता है जिस से वह अपने प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिए उच्च शिक्षा देने वाले किसी भी केन्द्र में स्थान बना सकता है। एक और बात यह है कि कोई भी शिष्य या भिक्षु सिद्धान्त रूप में अनासक्त माना जाता है, जिससे उसके एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने में मार्ग में कोई भी बाधा नहीं होती और इसीलिए जब उसका मार्ग-दर्शक उसके अध्ययन के लिए कोई नया स्थान निर्धारित कर लेता है तो वह आसानी से वहाँ पहुँच जाता है। इसकी अपेक्षा धर्म-निरपेक्ष संसार में कौटुम्बिक सम्बन्ध के आधार पर लोगों का एक स्थान से दूसरे स्थान को जाना उतना आसान नहीं होता है।

इस प्रकार एक धार्मिक व्यवस्था के अंतर्गत युवक शिष्यों और भिक्षुओं का स्थानांतरण लगातार होता चलता है और गाँव के युवकों को यह अवसर रहता है कि वे साक्षरता की सीढ़ी में अधिक से अधिक ऊँचाई तक चढ़ सकें। मुझे एक ऐसे भिक्षु के बारे में मालूम हुआ है, जो इस गाँव का तो नहीं है परन्तु इसी अंचल का है और थाईलैंड में धार्मिक शिक्षा के शिखर पहुँच चुका है तथा इन दिनों कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन कर रहा है।

लेकिन बान फ्रान मुआन गाँव साक्षरता सम्बन्धी इस प्रकार की सुविधा का अधिक लाभ नहीं उठा पाया है और कोई योजना बना कर अपने यहाँ के प्रतिभाशाली युवकों को उच्च शिक्षा नहीं दिला सका है। यह गाँव पूर्वोत्तर थाईलैंड का एक ऐसा गाँव है, जिसका स्थान परम्परागत शिक्षा के अंतर्गत सबसे नीचा है और इस प्रकार के और भी बहुसंख्यक गाँव उस अंचल में पाये जाते हैं।

धार्मिक शिक्षण-व्यवस्था और शिष्यों तथा भिक्षुओं द्वारा उच्चतर अध्ययन ग्रहण करने के अवसरों से लाभ उठाने के सम्बन्ध में कुछ अन्य संगत तथ्य इस प्रकार हैं : गाँवों में भिक्षुओं या शिष्यों को उच्च शिक्षा केन्द्रों में भेजने के लिए भर्ती करने की कोई पूर्व-नियोजित पद्धति नहीं है। जैसा कि बताया जा चुका है, अगर कोई विद्यार्थी प्रतिभा का प्रदर्शन करता है और किसी अच्छे मार्ग-दर्शक की सहायता और समर्थन उसे प्राप्त होता है तो वह अवश्य उच्चतर शिक्षा केन्द्रों तक पहुँच जाता है। परन्तु प्रचलित पद्धति राष्ट्रीय

शिक्षा पद्धतियों के समान नहीं है जिसके अंतर्गत विद्यार्थी प्राथमिक कक्षाओं से माध्यमिक और विश्वविद्यालय की कक्षाओं तक स्वतः पहुँचता जाता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गाँव के अधिकांश शिष्यों और भिक्षुओं में उच्चतर अथवा पालि भाषा के अध्ययन की इच्छा जाग्रत ही नहीं हो पाती। यह केवल इसीलिए नहीं है कि वे लोग धार्मिक सेवा में थोड़े समय के लिए रहते हैं। जो लोग काफी लम्बे समय तक भिक्षु वृत्ति धारण किए रहते हैं वे भी मुख्य रूप से पालि भाषा के विद्वान बनने की इच्छा नहीं करते।

इसके कई कारण हैं। गाँव में भिक्षु का कार्य मुख्य रूप से संस्कार और अनुष्ठान से सम्बद्ध होता है। हम देख चुके हैं कि उसे अपने इन संस्कारों और धार्मिक कार्यों को कराने के लिए केवल इतना ही आवश्यक होता है कि वे कुछ हद तक पवित्र थाम लिपि और धर्मनिरपेक्ष लिपियों की जानकारी प्राप्त करें और कुछ ऐसे मंत्रों को याद कर लें जिनकी संस्कारों आदि के समय आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए पालि भाषा के अध्ययन की कोई जरूरत नहीं होती।

इसके अलावा अगर कोई भिक्षु पालि भाषा में अध्ययन करता है तो यह भी अधिकाधिक आवश्यक होता जाता है कि वह बौद्ध धर्म के उस रूप को भी स्वीकार करे जो पालि अध्ययन के अंतर्गत आता है। अगर ऐसा गम्भीरतापूर्वक किया जाए तो उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति संसार से निरस्त होने लगता है, और इस प्रकार के ध्यान और आत्म नियंत्रण का अभ्यास बढ़ाने लगता है जिसके फलस्वरूप वह ऐसे रहस्यात्मक क्षेत्र में प्रवेश करता है जो उसे निर्वाण का आश्वासन देता है। दूसरे शब्दों में, वह एक प्रकार से संन्यासी बन जाता है और इस प्रकार के संन्यास को सही रूप में निभाने वाले लोग कुछ थोड़े से ही हो सकते हैं।

साक्षरता की दृष्टि से एक संगत विचार यह है कि इस्लाम के अंतर्गत अरबी अध्ययन इसलिए जरूरी है क्योंकि उसके जरिए न्याय सम्बन्धी और अन्य संहिताएँ सीखी जा सकती हैं जिनका प्रत्यक्ष सांसारिक महत्व है। इस्लाम के अंतर्गत एक विद्वान व्यक्ति कानून का व्याख्याता और न्यायाधीश भी होता है तथा वह नित्य प्रति के मामलों में लोगों का सलाहकार भी होता है।

लेकिन बौद्ध धर्म सम्बन्धी पालि भाषा के ग्रंथों में सामान्य लोगों के प्रतिदिन के जीवन का नियमन करने वाले कोई नियम नहीं होते। उधर हमने देखा है कि गाँव के भिक्षु के लिए जीवकोपार्जन का मुख्य साधन वह अनुष्ठान और संस्कार हैं, जिन्हें वह गाँव में कराता है और जिनके लिए उसे पालि के ज्ञान की आवश्यकता न हो कर कुछ अन्य लिपियों की जानकारी की आवश्यकता होती है।

यही कारण है कि बहुत कम भिक्षु गम्भीरतापूर्वक उच्च अध्ययन का मार्ग अपनाते हैं। अगर कुछ लोग ऐसा करते भी हैं तो इस विचार से कि उनकी प्रतिष्ठा बढ़ेगी और वे धार्मिक स्कूलों का संचालन करने के योग्य हो जायेंगे। इस प्रकार जिन केन्द्रों से गांव के युवक उच्च शिक्षा अथवा पालि भाषा अथवा साहित्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं उनसे वे फिर गाँव की ओर वापस आ जाते हैं। निस्संदेह वे लोग पालि के अध्ययन की पहले को कुछ मंजिलों तक ही जा पाते हैं। गाँव की धर्म सभाओं के लिए यह बात बहुत महत्वपूर्ण नहीं होती कि उनके बीच में कोई पालि का विद्वान मौजूद हो। उनके लिए इतना ही यथेष्ट है कि पास-पड़ोस में कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए।

लेकिन कभी कोई ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो धार्मिक व्यवस्था के अंतर्गत ऊँचे से ऊँचे स्थान तक पहुँचने की इच्छा करे। सम्भव है कि वह गाँव के मंदिर का प्रधान भिक्षु होना चाहता हो और उसके बाद अपने जिले का प्रधान भिक्षु। ऐसे भिक्षु के लिए आवश्यक हो जाता है कि ऊँचे पैमाने की बौद्धिक शिक्षा वह प्राप्त करे और अन्य मन्दिरों में सेवा करे। फ्रान मुआन गाँव में कोई विद्वान भिक्षु कभी नहीं हुआ है। लेकिन हाल में एक भिक्षु अवश्य ऐसा हुआ है जो धार्मिक व्यवस्था के अन्तर्गत काफी ऊँचे पद तक पहुँच पाया है। उनका नाम है फ्रा ख्रू अनुराक पुन्नकेत। उनकी आयु ४८ वर्ष की है और वे इन दिनों पेन जिले के धार्मिक प्रधान हैं। वे एक सामान्य किसान के पुत्र हैं। उन्होंने उडोर्न की प्रान्तीय राजधानी के मन्दिर में १५ वर्ष बिताये हैं और वह बैंकाक में भी कई वर्ष रहे। इसके बाद वे फ्रान मुआन गाँव में प्रधान भिक्षु के रूप में लौटे, जहाँ से उन्हें पदवृद्धि मिलती गई। उन्हें पालि का

कुछ ज्ञान है लेकिन वे अपने को उस भाषा का विद्वान नहीं मानते। उनके पद के कारण उनका स्थानीय प्रभाव बहुत अधिक है और वे बड़े अनुभवी माने जाते हैं तथा उनके धार्मिक और धर्म निरपेक्ष दोनों ही क्षेत्रों में व्यापक सम्पर्क है।

निष्कर्ष

मैंने इन पृष्ठों में थाईलैंड के एक दुर्गम गाँव के बारे में, जो पूर्वोत्तर भाग में बसा हुआ है, परम्परागत साक्षरता की प्रकृति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। अगर अन्य नगरों, ऐतिहासिक धार्मिक केन्द्रों तथा मध्य और उत्तरी थाईलैंड के उपजाऊ मैदानों के समृद्ध गाँवों से तुलना की जाए तो यह गाँव बहुत अलग-थलग, गरीब और अपढ़ दिखाई देगा। लेकिन पिछड़े हुए प्रदेश में स्थित इस गाँव पर भी बौद्ध धर्म के आगमन और प्रसार का प्रभाव पड़ा और उससे सम्बद्ध महान् सभ्यता की धारा उस तक पहुँची। दक्षिण पूर्व एशिया के इस भाग में जो बड़े-बड़े राजनीतिक साम्राज्य उठे और गिरे उनके दायरे में भी यह गाँव रहा। इस प्रकार इसे अपने आप में सीमित गाँव अथवा प्राचीन सभ्यता का जड़ अंश नहीं कहा जा सकता। यह एक सजीव सत्ता है, जिस पर आंचलिक धर्म, कला और बौद्धिक संस्कृति का प्रभाव है और जहाँ ऐसे लोग मिलते हैं जो व्यापकतर परम्पराओं के संवाहक और सम्प्रेषक हैं।

फ्रान मुआन गाँव को देख कर उस ढंग के समुदाय के सम्बन्ध में दो प्रचलित धारणाओं का भ्रमजाल टूटता है। एक तो यह कि इस प्रकार के गाँव परम्परा से निरक्षर होते हैं और इसीलिए वहाँ पहले पहल साक्षरता-शिक्षण आरम्भ करने की जरूरत होती है। और दूसरी धारणा यह कि अगर इस प्रकार के गाँवों में साक्षरता या शिक्षा पाई भी जाती है तो वह विशुद्ध रूप से धार्मिक होती है और भिक्षुओं तक ही सीमित होती है।

इस गाँव की पारम्परिक साक्षरता के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह है कि यद्यपि वहाँ सार्वजनिक साक्षरता तो नहीं थी लेकिन ऐसे साक्षर विशेषज्ञों का अवश्य अस्तित्व रहा जो बौद्ध धर्म के उच्चतर ज्ञान के सम्पर्क में रहते थे और हाल में जिन्होंने सरकार

से भी सम्बन्ध बनाए रखा था।

इन विशेषज्ञ साक्षरों के लिए सम्प्रेषण का मुख्य केन्द्र गाँव का मन्दिर रहा है। गाँव का अधिकांश साहित्य आनुष्ठानिक रहा है और उसे पवित्र थाम लिपि में लिखा गया। लेकिन कुछ साहित्य धर्म निरपेक्ष लाव और मिश्रित थाम लाव रूपों में भी लिखा गया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सभी साहित्य विशुद्ध रूप में धार्मिक साहित्य नहीं था। उसके अन्तर्गत चिकित्सा सम्बन्धी पुस्तकें, स्थानीय पौराणिक आख्यान, लोक काव्य और लोकगीत भी सम्मिलित हैं। परन्तु कानून सम्बन्धी संहिताएँ नहीं पाई जातीं। काम-धन्धे सम्बन्धी दक्षता रीति-रिवाज की तरह मौखिक रूप में और उदाहरण के द्वारा सम्प्रेषित होती थी। लेखन का जो भी स्वरूप रहा हो साक्षरता मुख्य रूप से मन्दिर में सेवा के ज़रिए प्राप्त की जाती थी और मन्दिर में ही पारम्परिक साहित्य और विशेष रूप से उत्सव त्योहार के समय किए जाने वाले प्रवचनों की जानकारो दी जाती थी। मन्दिर, लोक नाटकों के रूप में मनोरंजन भी प्रदान करते थे।

साक्षरता को विभिन्न सीढ़ियों के अन्तर्गत सब से पहले मन्दिर की प्राथमिक पाठशाला में पढ़ने वाला मन्दिर का सेवक बालक होता था, उसके बाद शिष्य और अंत में भिक्षु। जब कोई व्यक्ति फिर गृहस्थ बन जाता था तो महत्वपूर्ण ख्वान संस्कारों के लिए विशेष योग्यता अपेक्षित होती थी जिसके लिए साक्षरता जरूरी शर्त थी। चिकित्सा और मनोरंजन की कलाओं के लिए भी साक्षरता की अनिवार्य आवश्यकता होती थी। मनोरंजन की कलाओं के लिए आवश्यक साक्षरता मन्दिर की शिक्षा पद्धति से सम्बन्धित होती भी थो और नहीं भी होती थो।

गाँव में नेतृत्व और प्रतिष्ठा के लिए साक्षरता पर बहुत जोर दिया जाता था। यहाँ मेरा तात्पर्य केवल भिक्षुओं से नहीं है जो आदरणीय माने जाते थे बल्कि उन लोगों से भी है जो सामान्य सांसारिक जीवन बिताते थे और संस्कार तथा चिकित्सा के विशेषज्ञ होते थे। उनकी साक्षरता अविछिन्न रूप में युवावस्था में उनके द्वारा प्राप्त नैतिक और धार्मिक शिक्षा से सम्बद्ध होती थी।

वे जो सांसारिक अनुष्ठान आदि या उत्सव का नेतृत्व करते थे वे बौद्ध धर्म से प्रभावित हो जाते थे। इस प्रकार वे असाक्षर आनुष्ठानिक विशेषज्ञों से पृथक भी हैं और उनसे श्रेष्ठ भी माने जाते हैं।

विशेषज्ञों के लिए जिस साक्षरता की आवश्यकता थी और जो उन्हें मंदिर से प्राप्त होती थी वह कुछ हद तक प्रतिबंधित होती थी। इसका अंशतः कारण पारम्परिक साक्षरता के स्वरूप और उसके उपयोग में खोजा जा सकता है। शिष्यों और भिक्षुओं को मुख्य रूप से लिपियों का पढ़ना सिखाया जाता था और केवल गौण रूप से लिखना सिखाया जाता था। यह माना जाता था कि लिखना उतना रचनात्मक कार्य नहीं है जितना नकल उतारना। जिस साहित्य को पढ़ा जाता था या जिसकी प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती थीं, उसके अंतर्गत धार्मिक पुस्तकें या पारम्परिक कथाएँ होती थीं, जो सिद्धान्त रूप में बदली नहीं जा सकती थीं बल्कि केवल सम्प्रेषित हो सकती थीं। इस प्रकार यह पारम्परिक ज्ञान एक निश्चित साहित्यिक रूप और मौखिक सम्प्रेषण का परिणाम था। शिष्यों और भिक्षुओं तथा गृहस्थ विशेषज्ञों के प्रशिक्षण में मुख्य जोर कण्ठाग्र करने और प्रभावशाली ढंग से उच्चारण करने अथवा भाषण देने पर दिया जाता था। लेकिन मौखिक परम्पराओं के अंतर्गत साक्षरता के कुछ रूपों में रचनात्मक प्रवृत्ति की ओर से हम उपेक्षा नहीं रख सकते। वास्तव में अनेक लोक कथाएँ कई-कई रूपों में प्रचलित हैं जो निस्संदेह मौखिक और लिखित सम्प्रेषण में परिवर्तनों के के परिणामस्वरूप हैं। लोक काव्यों में अनेक रचनात्मक अभिवृद्धियाँ हुई हैं। माव लुम गीतों के अंतर्गत समय और अवसर के अनुसार प्रतिभाशाली कलाकारों ने नए गीत जोड़े हैं। लेखन कला के अस्तित्व के कारण यह सब परिवर्तन किसी न किसी समय लिखित रूप में आए हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर बौद्ध धर्म के पालि मंत्र और सिद्धान्त ग्रंथ हैं जो अपरिवर्तित रहे हैं, वहीं वह सब साहित्य है, जिसमें परिवर्तन होते रहे हैं। बौद्ध सिद्धान्त ग्रंथों में तो कोई परिवर्तन नहीं हुआ है लेकिन उनकी व्याख्या के क्षेत्र में भिक्षुओं को स्वतंत्रता रही है कि वे अपने ढंग से उनका निरूपण करें।

गाँव के अनुष्ठानों के क्षेत्र में भाषा का महत्व रहा है। अनुष्ठानों के अंतर्गत शब्दों का इस ढंग से प्रयोग होता है जिससे उपासकों पर अभीष्ट प्रभाव डाला जा सके अथवा रोगियों के मन पर सही असर पड़े। विशेष रूप से जब साक्षर विशेषज्ञ कोई अनुष्ठान करते हैं तो शब्दों का बहुत प्रमुख महत्व हो जाता है और पवित्र धर्म ग्रंथों के अंशों का पाठ उनके अनुष्ठानों का मुख्य अंग होता है। लेकिन धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध भिक्षु प्रायः जिन पालि मंत्रों का उच्चारण करता है उन्हें सभा के अधिकांश सदस्य नहीं समझ पाते और न अनेक वर्तमान भिक्षु ही समझ पाते हैं। फिर भी यह माना जाता है कि उनका उच्चारण रक्षा और आशीर्वाद प्रदान करेगा। शब्दों को पवित्र और प्रभावशाली इसलिए माना जाता है क्योंकि वे भगवान बुद्ध के शब्द हैं। भिक्षुओं द्वारा जो उपदेश दिए जाते हैं उनमें प्रयुक्त शब्द श्रोताओं द्वारा अच्छी तरह समझे जाते हैं क्योंकि इन उपदेशों का उद्देश्य लोगों को नैतिक शिक्षा देना और प्रसन्न रखना है। इसी प्रकार 'माओ ख्वान' समारोह के अंतर्गत जो कुछ कहा और पढ़ा जाता है वह भी समझ में आता है क्योंकि उसका उद्देश्य श्रोताओं में विश्वास और मनोबल उत्पन्न करना होता है। परन्तु कुछ ऐसे अनुष्ठानकर्ता भी होते हैं, जैसे 'माओ धर्म', जो मंत्रों का इस प्रकार उच्चारण करते हैं कि वे स्वयं उसे नहीं समझ पाते। और इसकी आवश्यकता भी नहीं महसूस की जाती क्योंकि ये लोग भूत आदि की बाधाएँ दूर करने से सम्बद्ध खतरनाक अनुष्ठान करने वाले माने जाते हैं और मंत्रोच्चारण की रहस्यात्मकता से उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता मिलने की आशा रहती है। इस प्रकार माओ धर्म तथा भिक्षु दोनों ही न समझ में आने वाले मंत्रों का उच्चारण करते हैं परंतु उनके नैतिक प्रभाव सर्वथा परस्पर विरोधी होते हैं, जिस प्रकार कि उनके जीवन का क्रम होता है। मनोरंजन के क्षेत्र में संगीत-नाटक के पात्र अपने श्रोताओं के प्रति इस प्रकार शब्दोच्चार करते हैं जिससे उनका कार्यक्रम सफल रहे। इसके लिए भी शब्दों की समझ आवश्यक होती है।

अल्पकालिक भिक्षुवृत्ति की व्यवस्था, प्रति वर्ष गाँव के बालकों

की दीक्षा तथा गाँव द्वारा संयुक्त रूप में मंदिर और उसके कर्मचारियों की व्यवस्था का अर्थ यह है कि शिष्यत्व और भिक्षवृत्ति अपनाने वालों के लिए कोई बाधा नहीं है। केवल किसी एक या दो वर्ग के लोग ही भिक्षु नहीं होते और किसी भी वर्ग के लोगों के लिए साक्षरता के द्वार खुले हुए हैं। परंतु एक और रूप में चयन भी प्रचलित है। केवल वही नवयुवक साक्षरता के एक विशेष पर्याप्त स्तर को प्राप्त कर सकता है, जो कुछ वर्ष तक शिष्यत्व और भिक्षु वृत्ति ग्रहण करने के लिए तैयार हो और उसी पर्याप्त साक्षरता को प्राप्त करने के बाद वह आगे के जीवन में गृहस्थ विशेषज्ञ बन सकता है। लेकिन इस प्रकार की विशेषज्ञता अपने आप नहीं मिल जाती। व्यक्ति की रुचि और प्रवृत्ति भी देखी जाती है। कौटुम्बिक संबंध जैसा कुछ विशेषताएँ भी सहायक होती हैं। लेकिन इनके कारण कोई विशेष बाधा नहीं उत्पन्न होती।

गाँव की प्राचीन साक्षरता का कोई खास प्रभाव गांव के प्रशासन और राजनीति पर तथा हस्तकलाओं के सम्प्रेषण पर नहीं पड़ा है। हमें बताया गया है कि थाईलैंड में गाँव का मुखिया परम्परागत होता है। लेकिन १९४७ में ही गाँव का प्रशासन दृढ़तापूर्वक जिले के प्रशासन से सम्बद्ध हुआ और फिर केन्द्र सरकार के अभिकरणों से जुड़ा। गाँव के झगड़ों का निपटान, गाँव संबंधी आँकड़ों का संग्रह करना और सरकारी आदेशों को ग्रामीणों तक पहुँचाना आदि ऐसे काम हैं, जिनके लिए साक्षरता की आवश्यकता होती है। नई साक्षरता के मुख्य प्रतिनिधि हैं गाँव के स्कूलों के अध्यापक जो १९३० के बाद से अधिकाधिक रूप में थाईलैंड के ग्रामीण भागों में सरकार के प्रतिनिधियों और नई जानकारी तथा नए ज्ञान के संवाहकों के रूप में अपना स्थान बनाते रहे हैं।

जब हम गाँव से बाहर की दुनिया की ओर देखते हैं तो पाते हैं कि गाँव के मंदिर और जिले के उच्च धार्मिक शिक्षा केन्द्र तथा इन केंद्रों और राष्ट्रीय केंद्रों के बीच सम्पर्क बराबर रहा है। इन सब केंद्रों में गाँव के भिक्षु या शिष्य के लिए आगे पढ़ने के अवसर मिले हैं और इन अवसरों का लाभ उठा कर वे धार्मिक व्यवस्था के अंतर्गत प्रमुख विद्वान अथवा प्रमुख पदों को प्राप्त करने वाले

बन सके हैं। इन में से कुछ लोग गांव के मंदिरों में लौट आते हैं। इस सम्पूर्ण व्यवस्था को ध्यान में रख कर ही थाईलैंड में पारम्परिक साक्षरता की प्रकृति को आँका जा सकता है। यह समझना तो गलत होगा कि फ्रान मुआन गाँव से जा कर लोग पूरे देश में फैल गए लेकिन साथ ही यह भी समझ लेना संगत होगा कि क्यों बहुत कम भिक्षुओं ने धार्मिक केंद्रों की व्यवस्था का लाभ उठाया और पालि भाषा नहीं सीखी। सम्भवतः इसका कारण पारम्परिक ग्राम साक्षरता की प्रकृति और गाँव के अपने हितों में उसकी गहरी जड़ें हैं।

केरल में साक्षरता

केरल संबंधी अपने निबंध में डा० गफ़ ने स्थान और काल की दृष्टि से गाँव की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक कैन्वस लिया है। उन्होंने दक्षिण भारत के राज्य केरल के इतिहास को विचार का विषय बनाया है जिसके अंतर्गत कालीकट और कोचीन के सर्वदेशीय बंदरगाह भी आते हैं जो मध्यपूर्व के व्यापारियों के लिए वरदान-स्वरूप थे। पुर्तगालियों के वहाँ पहुँचने से काफी पहले ही यहूदी, ईसाई और मुस्लिम—सभी सम्प्रदायों के लोग केरल तट पर जा बसे थे और आज केरल की आबादी में ४० प्रतिशत ऐसे ही लोग हैं। उनकी अधिकांश लिखित सामग्री धार्मिक-ऐन्द्रजालिक थी।

हिंदुओं में यह धार्मिक रुझान और भी स्पष्ट थी, क्योंकि परंपरागत पाण्डित्य पर अभिजात ब्राह्मणों का अधिकार था जो जनसंख्या का कुल दो प्रतिशत थे (डि फ्रांसिस ने चीन की साक्षर जनसंख्या का भी यही अनुपात बताया है) और इस पाण्डित्य का स्वरूप प्रधानतः रूढ़िवादी और पारम्परिक था।

लेकिन लेखन पवित्र भाषा संस्कृत तक ही सीमित नहीं था। लोक-भाषाएँ भी उसकी परिधि में आ चुकी थीं। पश्चिम अफ्रीका में १९वीं शताब्दी से पूर्व ऐसा नहीं हो सका था। केरल में काफी ऊँची कोटि की साक्षरता उच्च कुलोत्पन्न लोगों से लेकर मातृसत्ताक नायरों तक में पाई जाती थी जिनका अनुपात आबादी में १९ प्रतिशत था। उनमें से कुछ स्थानीय भाषा मलयालम के अलावा संस्कृत से भी परिचित होते थे। १६वीं शताब्दी से इस समूह ने साहित्य में भी उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण योगदान किया। नायरों में साक्षरता का उपयोग, ब्राह्मणों की तुलना में मुख्य रूप से सरकारी कामकाज, व्यापार तथा गाँवों और जागीरों के सामंती प्रशासन के लिए होता था।

ब्राह्मणों और नायरों के अलावा निम्न जातियों के भी बहुत से लोगों को अपना काम चलाने के लिए लेखन-कला सीखनी पड़ती थी, जैसे ज्योतिषियों और वैद्यों को। अनेक निम्न जातीय किसानों और कारीगरों को भी साधारण अक्षर-ज्ञान की आवश्यकता होती थी। कुल मिलाकर शेष भारत की अपेक्षा केरल में साक्षरों का अनुपात असाधारण रूप ने ऊँचा था।

परंतु इसके बावजूद व्यापक साक्षरता के जिन संभावित परिणामों को वाट ने और मैंने देखा वे केरल में नहीं दिखाई दिए और न वहाँ जाति प्रथा में कोई कमी आई, न इतिहास या विज्ञान के प्रति रुचि में वृद्धि हुई।

फिर भी साक्षरता का महत्व वहाँ कुछ कम नहीं रहा। इसके कारण बड़े साम्राज्यों को अपना अस्तित्व बनाये रखने में सहायता मिली, क्योंकि जहाँ वे केन्द्र और दूरवर्ती प्रदेशों के बीच सम्पर्क बनाए रख सके वहीं करों की वसूली और उससे सम्बद्ध खाते रख सके। साक्षरता से विभिन्न प्रकार के विशेषज्ञ वर्गों का भी उदय हुआ और गफ़ के कथनानुसार "धर्मगुरुओं और शासकों के बीच मौलिक द्विधात्व भी साक्षरता के कारण हो सकता है।" कम से कम इतना तो हुआ ही कि इसके कारण व्यय संबंधी जटिलतापूर्ण नियमादि और सामाजिक हैसियत जताने वाले अन्य तरीके संभव हुए।

यद्यपि लेखन द्वारा सामान्य अर्थों में इतिहास-लेखन नहीं शुरू हुआ, तथापि अभिजात वर्ग के वंश-वृत्त तथा नगरों और गाँवों के विवरण तो लिपिबद्ध हुए ही। केरल के अर्ध-पौराणिक 'इतिहास' भी लिखे गए जिनसे वास्तविक इतिहास के लिए कुछ आधारभूत सामग्री मिली। लेकिन 'पारम्परिक' साक्षरता को 'आधुनिक' साक्षरता से पृथक करने वाली जो बात सबसे प्रमुख है, वह है उसकी पवित्रोन्मुख प्रकृति; इसी के कारण एक लोक-लिपि की संभावनाएँ मूर्त रूप नहीं ले पायीं।

केरल में साक्षरता

कैथेलीन गफ़

भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट पर स्थित केरल या चेर का उदय इतिहास में ई० पू० तीसरी शताब्दी में एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में हुआ। वहाँ के निवासियों की बोली प्राचीन तमिल थी। यही द्रविड़ भाषा आधुनिक तमिल और मलयालम की जननी है। दक्षिण पूर्वीय भारत के राज्यों—चोल और पांड्य सहित केरल का मध्यपूर्व और रोम से व्यापार होता था। धीरे-धीरे केरल एक लघु 'साम्राज्य' के रूप में विकसित हुआ जिसमें पहली से चौथी शताब्दी के बीच आरम्भिक तमिल के श्रेष्ठ साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ। लगभग नौवीं शताब्दी के बाद दक्षिण-पश्चिमी साम्राज्य चार राज्यों में विखण्डित हो गया : कालट्टुनाड, कोझीकोड, कोचीन और ट्रावन्कोर। इनमें से प्रत्येक किसी न किसी बड़े बन्दरगाह के इर्द-गिर्द पनपा। भीतरी भागों में पश्चिमी घाट पर्वत शृंखला की तलहटी में छोटे-छोटे कमोबेश स्वतन्त्र राज्य थे। इन सबका सामंती राजनीतिक ढाँचा ११वीं शताब्दी के अन्त में पश्चिमी यूरोप के राजनैतिक ढाँचे से काफी मिलता-जुलता था। राजाओं की मुख्य आय विदेश-व्यापार प्रबन्ध से होती थी। यह व्यापार १६वीं शताब्दी तक चीन और अरब देशों के साथ चला, फिर पुर्तगाल के साथ और बाद में १७वीं तथा १८वीं शताब्दियों में, हालैण्ड, फ्रान्स, तथा ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनियों के साथ।

कुछ संशोधनों के साथ सामंती ढाँचा १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक बना रहा जबकि ट्रावन्कोर और कोचीन ने जागीर-प्रथा समाप्त कर दी और स्थायी सेना तथा राज्याधिकारी वर्ग की शुरूआत की। १९६० में कोलट्टुनाड और कोझीकोड पर मैसूर से

मुस्लिम सेना ने आक्रमण किया और उन पर अधिकार कर लिया तथा अंशतः वहाँ नौकरशाही व्यवस्था स्थापित की। १७६० के आसपास पूरा क्षेत्र ब्रिटिश शासन के अंतर्गत आ गया। जब हम 'परम्परागत' की बात करेंगे तो हमारा आशय होगा उन समांती राज्यों से जो १५वीं शताब्दी के मध्य से १८वीं शताब्दी के मध्य तक स्थापित थे।

चेर साम्राज्य के पतन के बाद केरल में तमिल साहित्य का ह्रास होने लगा। मध्ययग में सामंती राज्यों के उदय के साथ संस्कृत, साहित्य के माध्यम की मुख्य भाषा बन गयी और उसको प्रश्रय देने वालों में सबसे आगे नम्बूतिरी ब्राह्मण रहे जो सर्वोच्च कुल के माने जाते थे। मध्य युग में केरल की तमिल, संस्कृत के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण पूर्वी भागों की तमिल से अधिकाधिक अलग होती गई। १६वीं शताब्दी तक इन दोनों बोलियों ने प्रायः अपने-अपने वर्तमान रूप ग्रहण कर लिए थे। इनमें पश्चिमी तट कीं भाषा ने मलयालम नाम ग्रहण किया।

मलयालम की पहली प्राप्य कृति 'उन्नुनीलि सन्देशम्' नामक वर्णनात्मक काव्य है जो १४वीं शताब्दी की रचना है। यह एक प्रकार की कृत्रिम साहित्यिक भाषा में लिखा गया है जिसे 'मणिप्रवालम्' कहा जाता था और जिसमें संस्कृत शब्दों का मिश्रण होता था। १५वीं और १६वीं शताब्दी में मलयालम साहित्य की अत्यन्त लोकप्रिय भाषा बन गई; इसके लिखने-पढ़ने वालों की संख्या बढ़ती रही और मलयालम को अपनी विशिष्ट काव्य शैली 'किलिपाट्टु' का विकास हुआ। तुँजथ एजुत्तच्चन ने, जो मलयालम के सबसे प्रसिद्ध लेखक हो गए हैं, प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों का मलयालम में रूपान्तरण किया और मलयालम की मौलिक कविता तथा दार्शनिक साहित्य को उसका वर्तमान रूप दिया। एजुत्तच्चन सन्बन्धी तिथियों के बारे में विवाद है, लेकिन वे संभवतः १६वीं शताब्दी के अन्त अथवा १७वीं शताब्दी के आरम्भ में हुए। यह उल्लेखनीय है कि एजुत्तच्चन नायर थे न कि ब्राह्मण : नायर अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के स्कूल शिक्षकों की जाति मानी जाती है। उनकी कृतियाँ इस तथ्य की साक्षी हैं कि १६वीं शताब्दी समाप्त होते-होते वेदों को

छोड़, शेष संस्कृत साहित्य नायरों को, जो अब्राह्मणों के अन्तर्गत सबसे ऊँची जाति के शासन-वर्ग तथा जमींदार सैनिक-वर्ग के लोग थे, सुलभ था। कुछ नायरों ने तो इस काल में स्वयं भी संस्कृत में मूल रचनाएँ लिखीं। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह बात थी कि वे तमिल और संस्कृत साहित्य-रूपों के समन्वय में सहायक हो रहे थे जिसके परिणामस्वरूप मलयालम का लोकप्रिय राष्ट्रीय साहित्य अपने विशिष्ट रूप में सामने आया। इसी प्रकार की गतिविधियाँ संगीत नाटक और चित्रकला के क्षेत्र में भी जारी थीं। इनमें कथकलि के विकास का विशेष महत्व है। यह मलाबार का सुप्रसिद्ध नृत्य-नाट्य है। समन्वय और रचना के इस क्रम को आगे बढ़ाने में राज-दरबारों और जागीरदारों ने निस्संदेह बहुत महत्वपूर्ण योग दिया। इसके साथ ही संभवतः यह तथ्य भी सहायक बना कि मध्य युग में किसी समय यह प्रथा प्रचलित हुई कि पितृ-सत्ताक नम्बूतिरी ब्राह्मण परिवारों के युवा-जन मातृ-सत्ताक नायर परिवारों में विवाह करने लगे। ऐसे विवाहों के फलस्वरूप उत्पन्न संतान मातृ-वंश के नायर होते थे और उनका नम्बूतिरी पिता अपने बच्चों तथा नायर पत्नी के परिवार वालों के प्रति अस्पृश्यता तथा सामाजिक भेद-भाव के सभी निर्धारित पारंपरिक नियमों का पालन करता था तथा पत्नी से मिलने के लिए उसके परिवार में केवल रात भर के लिए ही जाता था। फिर भी इस व्यवस्था द्वारा काफी हद तक संस्कृत भाषा और संस्कृति ब्राह्मणों से नायरों तक, विशेषतः मातृ-सत्ताक राजकीय परिवारों तक, पहुँची जिनके अन्तर्गत प्रायः सभी परिवारों की राजकुमारियों के नम्बूतिरी पति होते थे। नम्बूतिरी ब्राह्मणों के अलावा उस युग के अधिकांश विख्यात संस्कृत लेखक, शासक परिवारों के राजकुमार और कुछ राजकुमारियाँ थीं।

प्राचीन तमिल की लिपि 'वत्तेझुत्तु' थी। वह मूलतः उत्तर भारत की ब्राह्मी लिपि से निकली थी जिसका ई० पू० तीसरी शताब्दी तक दक्षिण भारतीय रूपान्तरण हो चुका था। 'वत्तेझुत्तु' लिपि के संशोधित रूपों का प्रयोग सम्पूर्ण मध्य युग में केरल के राजभवनों में अभिलेखों के लिए किया जाता रहा और ट्रावन्कोर

में १८६० तक उसका प्रयोग जारी रहा। इज़ावा और अन्य निम्न जातीय हिन्दू 'बत्तेझुत्तु' लिपि का प्रयोग १८वीं शताब्दी के अन्त तक करते रहे। मापिल्ल (मुस्लिम) व्यापारी बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक इस लिपि को काम में लाते रहे। पारंपरिक काल में 'बत्तेझुत्तु' का एक अन्य पृथक रूप 'कोलेझुत्तु' के नाम से राजदरबारों में विकसित हुआ।

नौवीं शताब्दी से दक्षिण भारत में ब्राह्मणों ने 'ग्रन्धा' नामक एक लिपि का प्रयोग आरंभ किया जिसका मूल देवनागरी लिपि थी जो संस्कृत के लिए प्रयुक्त होती थी। केरल में नम्बूतिरी ब्राह्मणों ने संस्कृत की अपनी साहित्यिक कृतियों के लिए इसका प्रचुरता से प्रयोग किया। जैसे-जैसे केरल की लोक-भाषा में संस्कृत शब्दों का अधिकाधिक समावेश होता गया, उच्चकुलीन अब्राह्मणों ने अपनी 'बत्तेझुत्तु' लिपि में 'ग्रन्धा' के अक्षरों को शामिल किया जिससे विभिन्न ध्वनियों, विशेषत: महाप्राण का प्रतिनिधित्व हो सके जिसका तमिल में अभाव था। तंजुथ एझुत्तच्चन और उसके समकालीनों ने वर्तमान मलयालम लिपि का विकास किया जो अधिकांशत: 'ग्रन्धा' पर आधारित थी पर 'बत्तेझुत्तु' के भी अनेक अक्षर उसमें शामिल थे। वह कुलीन हिन्दुओं के लिए मलयालम साहित्य की संवाहिका बन गई और १९वीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश काल में विशेषत: छापाखानों के आगमन के साथ धीरे-धीरे निम्न जातियों तथा अ-हिन्दुओं में भी प्रचलित हो गयी। ब्रिटिश काल में सरकार की प्रेरणा से खोले गए ग्राम स्कूलों के कारण भी मलयालम लिपि के प्रसार में सहायता मिली।

मलयालम में ५३ अक्षर हैं जब कि तमिल में अक्षरों की संख्या २८ है। यह अन्तर मुख्यत: संस्कृत के महाप्राण स्वरों के प्रयोग के कारण है जिन्हें मलयालम में शामिल किया गया है। मलयालम लिपि गोलाकार और प्रवाही है तथा वह तेज़ी से लिखी जाती है। वह बायें से दायें लिखी जाती है। परंपरागत लेखन-उपकरण लोहे की सलाई और ताड़-पत्र होते थे जो आयताकार कटे हुए होते थे। इनकी चौड़ाई लगभग २ इंच और लम्बाई १८ इंच होती थी। ताड़-पत्रों को लेखन से पहले सिझाकर कड़ा बना लिया जाता था।

पोथियों के रूप में बनाने के लिए उनके एक सिरे पर छेद करके सींकनुमा लकड़ी, लोहे अथवा धागे से पिरो दिया जाता था। इन पन्नों के ही आकार के लकड़ी के पतले पट्टे जिल्द का काम देते थे। प्राचीन मलयालम और संस्कृत की पुस्तकें काफी संख्या में सरकारी रिकार्ड-दफ्तरों में, लोगों के घरों में और भूतपूर्व नरेशों, ब्राह्मणों आदि के पास पाई जाती है। ताड़-पत्र का प्रयोग सरकारी लिखा-पढ़ी के लिए गांवों में १९३० के आस-पास तक होता रहा।

महत्वपूर्ण दस्तावेज़, जैसे भूमि अनुदान, या राजाओं की ओर से सरदारों, ब्राह्मणों अथवा व्यापारियों को भेजे जाने वाले खरीते ताम्र-पत्रों पर खुदे हुए होते थे। ऐसे सबसे प्राचीन ताम्र-पत्र उन यहूदी और सीरियाई क्रिश्चियन समुदायों के हैं जिन्हें केरल के राजाओं ने आठवीं शताब्दी के अन्तिम और नौवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में भूमि-अनुदान के सम्बन्ध में दिया था। इसके अन्तर्गत उन्हें उस भूमि के स्वायत्त प्रबन्ध, व्यापार तथा कुछ अन्य अधिकार मिले हुए थे। धातु-पत्रों का प्रयोग जादू-टोने को उत्कीर्ण करने के लिए भी किया जाता था—और कुछ दुर्गम भागों में शायद अब भी किया जाता है। उन्हें किसी घर या व्यक्ति के निकट ज़मीन में गाड़ दिया जाता था। उद्देश्य या तो रक्षा प्रदान करना होता था या हानि पहुँचाना। ज्योतिषी ग्रामवासियों को सोने, चांदी या पीतल के गोलाकार ताबीज़ दिया करते थे जिनमें मंत्र-युक्त ताड़-पत्रों के टुकड़े बंद होते थे। उन्हें बीमारियाँ दूर रखने के उद्देश्य से एक धागे में पिरो कर कमर में या बाँह में पहना जाता था और आज भी पहना जाता है।

पारंपरिक युग में केरल में संस्कृत के अलाना चार और 'पवित्र' भाषाएँ थीं। ये थीं—सीरियाई, अरबी, हेब्रू और लैटिन। कारण यह है कि आबादी में हिन्दुओं का अनुपात ७० प्रतिशत ही था। कोचीन और ट्रावन्कोर का सीरियाई ईसाई समुदाय चौथी या सम्भवत: पहली शताब्दी में वहाँ पहुँचा। उनमें व्यापारी, जमींदार, कृषक और सैनिक सभी वर्गों के लोग थे जो उच्च पदासीन होते थे। वे अपनी पवित्र पुस्तकों और ताबीज़ों में सीरियाई भाषा और लिपि का प्रयोग करते थे। पुर्तगालियों ने उनकी अधिकांश प्राचीन

पवित्र पुस्तकों को १९वीं शताब्दी में नष्ट कर दिया, लेकिन उनके नये संस्करण तैयार किए गए।

प्राचीन सीरियाई ईसाइयों ने समुद्र तटवर्ती क्षेत्रों के निम्न जाति के लोगों, विशेषतः मछुओं को ईसाई-धर्म में दीक्षित किया और उन्हें पृथक बिशपों के अधीन रखा। १७वीं शताब्दी में पुर्तगाली व्यापारियों के प्रस्थान के बाद भी कुछ तटवर्ती नगरों में कैथोलिक दस्तकारों और भारतीय अथवा यूरेशियाई मूल के नौकरों के साथ यूरोपीय कैथोलिक बिशप, पादरी और भिक्षु शेष रह गए। अपने मठों, स्कूलों और कालेजों में वे अपने अनुयायियों को लैटिन तथा अन्य आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में धर्म-शिक्षा देते थे। फ्रांसीसी, डच और अंग्रेज़ कारखानेदारों, सैनिकों तथा मिशनरियों ने भी, अपने यहाँ की व्यापारिक कम्पनियों के तटवर्ती क्षेत्रों के प्रसार के बाद अपने-अपने लघु समुदाय बना लिए और स्कूलों की स्थापना की जिनमें ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले स्थानीय निवासियों तथा यूरोशियाइयों को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। लेकिन उक्त सभी स्थानीय समुदायों की मुख्य भाषा और लिपि मलयालम ही बनी रही।

तटवर्ती क्षेत्र के मध्य भाग में स्थित कोचीन से एक-दो हजार यहूदियों के एक छोटे से समूह ने अपने उपासनास्थलों में हेब्रू बाइ-बिल और अपने अन्य प्राचीन पवित्र ग्रंथों को बनाए रखा। सीरियाइयों की तरह १६वीं शताब्दी के अंत में पुर्तगालियों द्वारा यहूदियों के धार्मिक केन्द्रों की भी लूट-पाट की गयी और उनकी पुस्तकें जला दी गयीं। लेकिन उनके मट्टानशेरि-स्थित पूजा-घर में १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चर्म-पत्रों पर उत्कीर्ण उनके एक पवित्र ग्रंथ 'पेन्टाट्यूश' की प्रति आज भी उपलब्ध है। पुर्तगाल, स्पेन, एम्सटर्डम और मिस्र से वहाँ पहुँचने वाले छुट-पुट यहूदियों ने भी १६वीं से अठारहवीं शताब्दी के बीच यहूदियों के पवित्र साहित्य में वृद्धि की होगी।

केरल के उत्तरी भागों में मुस्लिम (मापिल्ल) निवासियों के अपने तटीय और नदी के थालों में बसे समुदाय थे। वे अरब व्यापारियों या नौवीं से दसवीं शताब्दी के बीच धर्म-परिवर्तन करने

वाली निम्न जातियों के वंशज थे। जब पुर्तगालियों ने अधिकांश अरबों को तटवर्ती क्षेत्रों में खदेड़ दिया तो उन्होंने खेती-बाड़ी और मछली मारने का धंधा अपनाया या भीतरी भागों में जलमार्गों द्वारा व्यापार करने लगे। कुछ लोगों के पास राजाओं द्वारा दी गई जागीरें भी थीं; कुछ तटीय समुदायों का शासन चलाते थे और कुछ अन्य समुद्रपार व्यापार के लिए जहाज़ रखते थे। १८वीं शताब्दी के मध्य तक आबादी में मापिल्लाओं का अनुपात १० प्रतिशत तक होने का अनुमान है। यह सम्भव है कि उनमें से अधिकांश को मलयालम का ज्ञान रहा हो। कुछ को अरबी भाषा की जानकारी भी थी और उनमें से कुछ धार्मिक नेता तो अरबी के पंडित माने जाते थे। १७६० से १७८० के बीच मैसूर के आक्रमणकर्ताओं ने बहुतों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया। १९वीं शताब्दी में निम्न हिन्दू समुदायों के सदस्यों द्वारा, जिनमें से अधिकांश असाक्षर थे, धर्म-परिवर्तन के कारण मापिल्ल और लातीनी कैथोलिक समुदायों की संख्या में और भी वृद्धि हुई। आज केरल की जनसंख्या में मुस्लिम और ईसाई लोगों का भाग लगभग ४० प्रतिशत है। अब अधिकांश पुरुष और किशोरियाँ साक्षर हैं लेकिन जहाँ तक सामान्य शिक्षा का क्षेत्र है, मुस्लिम आबादी ईसाइयों और हिन्दुओं—दोनों ही से पिछड़ी हैं।

परम्परागत केरल में साक्षरता-प्रसार का स्वरूप

मुस्लिम, ईसाई और यहूदी

मैंने बताया है कि पारम्परिक काल में अधिकांश ईसाई, यहूदी और मुस्लिम सम्भवतः साक्षर थे। यह बात पुरुषों को लक्ष्य करके कही गयी है। इनमें से प्रत्येक समुदाय में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम संख्या में विधिवत शिक्षा मिलती थी। लेकिन फिर भी प्रत्येक सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुछ विद्वान महिलाएं भी होती थीं और स्त्रियों को पढ़ाई-लिखाई सीखने की मनाही नहीं थी। ईसाई और यहूदी लड़कियों को स्कूलों में नियमित शिक्षा कम उपलब्ध होती थी। और अगर वे स्कूलों में पढ़ने जाती भी तो वैवाहिक आयु तक

पहुँचते ही उनको स्कूल में भेजना बन्द कर दिया जाता था। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि इन व्यापारी वर्गों के अन्तर्गत लगभग सभी पुरुषों और काफी अधिक अनुपात में स्त्रियों को, सुगम मलयालम, गणित और धार्मिक विषयों की शिक्षा मिलती थी। मापिल्ल कम से कम अपने व्यापारिक खातों के लिए प्राचीन तमिल लिपि काम में लाते थे और प्रति-दिन की बातचीत के दौरान काफी संख्या में तमिल शब्दों का प्रयोग करते थे।

हिन्दुओं की भाँति इन समुदायों के भी बच्चे ग्राम पाठशालाओं में पढ़ने जाते थे जो या तो घरों में या छप्पर के शैडों में लगती थीं। इनका संचालन धार्मिक समूहों के सदस्य शिक्षक किया करते थे। मापिल्ल स्कूलों में, जिन्हें 'पायल' अथवा 'उत्तुपल्लि' कहा जाता था, स्थानीय मुल्ला, बच्चों को अरबी अक्षरों का ज्ञान कराता था जो लकड़ी की तख्ती पर खुदे होते थे। वह मलयालम व्याकरण और वाक्य-रचना भी सिखाता था। अन्य विषय थे—तर्क-शास्त्र, रसूल पैगम्बर की परम्पराएं और कुरान का पाठ। कुरान तथा अन्य पवित्र ग्रन्थों का मलयालम में अनुवाद हो चुका था लेकिन यह भी सम्भव हो सकता है कि आज की तरह उस समय भी अधिकांश मापिल्ल बच्चे अरबी की आयतों को उनका अर्थ समझे बिना दुहराया करते थे। धनी व्यापारी तथा जमीदार अपने बच्चों को घर पर पढ़ाने के लिए शिक्षकों को रखते थे। ऐसे कुछ बच्चे अरबी धड़ल्ले से लिख-पढ़ सकते थे।

लेकिन समुदाय के रूप में मापिल्ल लोगों ने अरबी या मलयालम में किसी प्रकार के उल्लेखनीय साहित्य का सृजन नहीं किया। उनकी साक्षरता सम्भवतः धार्मिक, कानूनी, जादू-टोना सम्बन्धी तथा लोक साहित्य एवं कला के ज्ञान को फिर से उपलब्ध करने और सुरक्षित रखने तक सीमित थी। राजस्व, कर और व्यापार के उद्देश्यों से भी उन्होंने साक्षरता को अपनाया।

मापिल्लों के अन्तर्गत कुछ ऐसे अधिकारी होते थे, जिन्हें अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए साक्षरता की आवश्यकता होती थी। मैंने मुल्लाओं का जिक्र किया है जो जुमे की नमाज़ अदा करते थे और बच्चों को पढ़ाया करते थे। उनकी नियुक्ति काज़ी किया

करते थे जो मापिल्ल समुदाय के परम्परागत मखिया होते थे। यह अधिकारी भी अरबी और मलयालम का जानकार होता था। वह जुमे की नमाज़ में उपदेश दिया या पढ़ा करता था, शादियों की रजिस्ट्री करता था, और शरियत की अपनी या अन्य बड़ों की व्याख्या के अनुसार धार्मिक या दीवानी मामलों का फैसला किया करता था। जिन गाँवों में कई सम्प्रदायों के लोग रहते थे वहाँ काज़ी व्यवसाय, कर तथा अधिक गम्भीर झगड़ों और अपराधों के मामलों में गाँव के नायर मुखिया या स्थानीय तालुकेदार के प्रति उत्तरदायी होता था। कालीकट और शायद कुछ अन्य बड़े बन्दरगाहों पर एक वंश परम्परागत अधिकारी, जिसे 'कुतवाल' कहा जाता था, व्यापार और गृह-कर वसूल करता था और शरियत के अनुसार मापिल्लों का शासन प्रबन्ध चलाता था। लेकिन वह नायर नगराधिपति या तलछन्नवर के अधीन होता था। कुछ भागों में मुस्लिमों के पास जहाज होते थे। युद्ध के समय वे सामंती प्रथा के अनुसार राजाओं की सहायता किया करते थे। कन्नानोर में अलीराजाओं के सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार के पास काफी अधिक भूमि का स्वामित्व था और उसके सदस्य कोलटटुनाड के राजाओं के यहां मंत्रियों या खजांचियों के पद पर प्रतिष्ठित होते थे। इन सब पदों पर प्रतिष्ठित लोगों को हिसाब-किताब रखने, न्याय प्रशासन चलाने, दफ्तरी लिखा-पढ़ी करने या कानूनी दस्तावेजों को लिखने या उनकी रजिस्ट्री करने के लिए साक्षरता की अनिवार्य आवश्यकता थी।

मापिल्लों की भाँति, यहूदी और ईसाई भी मुख्यत: व्यवसायी थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके लिए भी साक्षरता का समान महत्व था। कार्मेलाइट पादरी क्रैंगानोर के निकट लातीनी, तथा सीरियाई ईसाइयों के लिए भी स्कूल चलाते थे। इन स्कूलों में उक्त भाषाओं के अतिरिक्त धर्म-शास्त्र, गणित और भूगोल की भी शिक्षा दी जाती थी। गैर-कैथोलिक सीरियाइयों या जैकोबाइट सम्प्रदाय के लोगों के अध्ययन-केन्द्र कोट्टयम में या गाँवों में स्थापित थे जहाँ वंश-परम्परा से चले रहे पादरी का प्रमुख योगदान होता था। सीरियाई लोगों के पास उनके पवित्र ग्रन्थों के अलावा तीन प्रसिद्ध मलयालम ग्रन्थ भी

होते थे : परिसमन, वापुस्तकम् तथा पलपुस्तकम्। परिसमन में ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी और अशुभ दिनों की सूची होती थी, क्योंकि पूर्वज हिन्दुओं की भाँति ईसाई भी कुण्डली बनाते थे और शुभाशुभ शकुन विचार करते थे। वापुस्तम् और पलपुस्तकम् में संक्षिप्त कथन और भविष्यवाणियाँ संग्रहीत होती थीं जिनमें से पाठक चुनाव करके अपने काम-काज के दौरान दैवी आदेश प्राप्त करता था। यद्यपि ठीक विवरण तो प्राप्त नही है, लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि मापिल्ल लोगों के पास भी ऐसी ही पुस्तकें होती थीं क्योकि वे भी शुभाशुभ विचार तथा ज्योतिष को मानते थे। मुस्लिम और ईसाई दोनों ही सम्प्रदायों के लोग शिशु जन्म पर उसकी कुण्डली स्थानीय हिन्दू ज्योतिषी से बनवाया करते थे। दोनों ही समुदायों के पास, हिन्दुओं की भाँति, कहावतों के संग्रह होते थे जो या तो लिख लिए जाते थे या अन्य पुस्तकों से उतार लिए जाते थे अथवा ग्राम-पाठशाला में कंठस्थ कर लिए जाते थे।

इस लोक ज्ञान-विज्ञान के अतिरिक्त दोनों ही सम्प्रदायों के पादरी या अन्य धार्मिक व्यक्ति कालेजों और पुस्तकालयों में पवित्र साहित्य का अध्ययन करते थे और तीर्थयात्रियों तथा धर्म-प्रचारकों के माध्यम से मध्यपूर्व के धार्मिक केन्द्रों से सम्पर्क बनाए रखते थे। लेकिन केरल में मुस्लिम और ईसाई सम्प्रदायों का साहित्य प्रायः व्यवसायी वर्गों तथा कृषकों तक सीमित था। वे अपनी साक्षरता के माध्यम से विदेश की 'महान परम्परा' से सम्बद्ध थे लेकिन उसे ज्ञान का ऐसा पूर्ण तथा कुछ हद तक रहस्यात्मक कोष मानते थे जिससे अपने दैनिक जीवन में मार्ग-दर्शन के लिए वे जब चाहें, कहावतें, दैवी-कथन तथा कानूनी और नैतिक आदेश प्राप्त कर सकते थे।

ब्राह्मण समुदाय

हिन्दू सम्प्रदाय चार वर्गों में बंटा था। प्रथम तो स्थानीय नम्बूतिरी ब्राह्मण थे तथा बाहर से आ बसने वाले तमिल और कन्नड ब्राह्मण थे जो कुछ कम श्रेष्ठ समझे जाते थे। इनका अनुपात कुल आबादी में २ प्रतिशत या उससे कुछ अधिक था। नम्बूतिरी

लोगों का स्थान केरल में बहुत ऊँचा माना जाता था। वे भूस्वामी होते थे और मंदिरों तथा विद्यालयों का प्रबन्ध सम्भालते थे। वे राज्य की ओर से सार्वजनिक समारोह करते थे, मातृसत्ताक शासकों तथा सरदारों को सलाह देते थे तथा उनके जन्मदाता बनते थे और संस्कृत तथा मलयालम साहित्य को समृद्ध बनाते थे। कन्नड़ ब्राह्मण प्रायः सभी गाँवों के मंदिरों में पुजारी होते थे और सामाजिक दृष्टि से उनका स्थान कुछ नीचा माना जाता था। वे यद्यपि कन्नड, मलयालम तथा संस्कृत में साक्षर होते थे, ऐसा लगता है कि पारम्परिक काल में उन्होंने केरल के साहित्य में कोई योगदान नहीं किया। तमिल ब्राह्मण उन अनेक धन्धों में लगे होते थे जिनके लिए साक्षरता आवश्यक है, जैसे अन्तर्देशीय व्यापार तथा अमीर नम्बूतिरी परिवारों, शाही घरानों और नायरों के यहाँ शिक्षकों, लेखाकारों, सन्देशवाहकों, कारिन्दों और पंडितों के रूप में सेवा। कुछ तमिल ब्राह्मण केरल के प्रसिद्ध कवि और नाटककार हो गए हैं। इनमें १५ वीं शताब्दी के उद्दण्ड और १७ वीं शताब्दी के चिदम्बर कवि का नाम उल्लेखनीय है।

नम्बूतिरी ब्राह्मण उच्चकुल के माने जाते थे जिनके पास राजनैतिक शक्ति, धन, बड़े-बड़े धन्धे और धार्मिक अधिकार होते थे। सर्वोच्च कुल वाले आध्यन कहे जाते थे। उनमें धार्मिक मुखियाओं के दो विरोधी परिवार होते थे : अझुवनशेरि और कल्पनशेरि तम्बुरुक्कल। नम्बूतिरी समुदाय में ये सबसे ऊपर माने जाते थे। उनके अधीन अनेक बड़े जमीदार होते थे। इनमें से कुछ धार्मिक मुखिया थे जो वेदों में पारंगत होते थे। अन्य धर्मनिरपेक्ष होते थे जिनके अधीन उसी प्रकार जागीरें और सेनाएं होती थीं जैसे नायरों के अधीन।

आध्यन लोगों के बाद आस्यन लोगों में अग्निहोत्री होते थे जो वेद-पाठी ब्राह्मण तथा शास्त्रज्ञ होते थे और राज्य की ओर से वैदिक यज्ञ कराया करते थे। अग्निहोत्रियों के ही समकक्ष भट्टतिरी ब्राह्मण होते थे जिन्हें वैदिगण और स्मार्त कहा जाता था; वे राज्यान्तर्गत जातियों के नियमों का प्रशासन चलाते थे, प्रायश्चित के बारे में निर्णय करते थे, और गम्भीर अपराधों में जाति-बहिष्कार

सम्बन्धी फैसले करते थे ।

इन सभी ब्राह्मण वर्गों के पास बड़ी-बड़ी जागीरें थीं और वे ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित थे । इनमें से कुछ लोग मंत्रियों के रूप में काम करते थे और कुछ राजदूतों के रूप में । वे सभी राजवंशी थे अथवा छोटे-छोटे ठिकानों के शासकों से सम्बद्ध थे या उन्हें उनसे संरक्षण प्राप्त था । अधिकांश पारम्परिक काल में राजा एक दूसरे के साथ युद्ध किया करते थे लेकिन ब्राह्मणों को एक राज्य से दूसरे राज्य में शान्तिपूर्वक आने-जाने और तीर्थ-यात्रा करने का अधिकार प्राप्त था । यद्यपि वे राजाओं के कानूनी सलाहकारों के रूप में काम करते थे, तथापि उनकी अपनी ही कानूनी व्यवस्था थी । उनमें से अनेक पृथक जागीरों में रहते थे जिन्हें 'संकेदम' कहा जाता था । इनके दायरे में बड़े-बड़े मन्दिर होते थे । मंदिरों का प्रबन्ध ब्राह्मणों की समितियाँ करती थीं । ये समितियाँ जाति-बन्धुओं का प्रबन्ध करती थीं और निम्न जाति के हिन्दू सेवकों पर भी शासन करती थीं ।

सम्पूर्ण केरल में ब्राह्मण विद्वानों को कोचिन राज्य में स्थित त्रिचूर के वैदिक विद्यालय में प्रवेश की अनुमति थी । प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान और कवि आम तौर से किसी एक राजा के दरबार से सम्बद्ध होते थे । लेकिन वे अन्य राज्यों में भी सांस्कृतिक समारोहों या शास्त्रार्थ में भाग लेते थे तथा अपने संरक्षकों को भी बदलते रहते थे ।

आस्यन नम्बूतिरी लोगों में से अधिकांश अपेक्षाकृत छोटी जागीरों के स्वामी होते थे, जो प्रायः एक गाँव होता था । वे वैदिक अध्ययन की बजाय अन्य प्रकार के अध्ययन की ओर ध्यान देते थे । उनमें से कुछ मंदिरों में दैनिक समारोहों का आयोजन करते थे और देवताओं से सम्बद्ध उत्सवों का संचालन करते थे । कुछ अन्य, जादू-टोने के विशेषज्ञ होते थे या खगोल विद्या अथवा ज्योतिष के ज्ञाता होते थे । कुछ लोग पुराणों अथवा कथा-काव्यों का सार्वजनिक पाठ किया करते थे ।

इससे भी निचली श्रेणी के लोगों में अनेक विशेषज्ञ होते थे जो अपने काम के कारण सामान्य ब्राह्मणों से हीनतर माने जाते थे । ये लोग दवा-दारू करने वाले या शल्य-चिकित्सक होते थे, नायरों की ओर से वंश परम्परागत समारोहों को करने वाले पुरोहित होते थे,

अथवा ऐसे साधारण पुजारी होते थे जो गाजे-बाजे के साथ मंदिर में मूर्ति को ले जाते थे, भोग के लिए भात तैयार करते थे और मंदिर के भीतरी भाग को साफ-सुथरा रखते थे।

केरल के परम्परागत विद्वानों के काम-धंधों की इस सूची से प्रकट होता है कि साक्षरता का मुख्य उद्देश्य वैज्ञानिक पद्धति से प्राकृतिक विश्व की खोज करना अथवा ऐतिहासिक घटनाओं को लिखित रूप देना या सामाजिक परिवर्तनों में रूचि लेना नहीं था। उसका मुख्य उद्देश्य रीति-रिवाज को बनाये रखना, सामन्ती राज्यों का संगठन करना और उनको स्वीकृति देना तथा शासक वर्ग के लिए कलापूर्ण मनोरंजन और धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना था। वहाँ की ब्राह्मण-विद्या का कार्य समाज के अन्दर ऊंच-नीच को बनाए रखना, पारलौकिक अनुभूतियों के प्रति लोगों के मन में आदर भाव उत्पन्न करना, जो लोग समाज के भाग्य का दिशा-दर्शन कर रहे हों उनके चारों ओर रहस्य, गुह्य ज्ञान और विशेष शक्तियों का वातावरण उत्पन्न करना तथा राजाओं के अधिकारों का विकास करना था।

यह एक दिलचस्प बात है कि जो ब्राह्मण परिवार चिकित्सा का काम करते थे उन्हें इतनी अधिक निचली श्रेणी में रखा जाता था कि वे नाम मात्र के ही ब्राह्मण माने जाते थे। फिर भी, खगोल-विद्या के अतिरिक्त वैद्यक अथवा चिकित्सा शास्त्र ही ऐसा विषय था जो प्राकृतिक विज्ञान से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध था। गाँवों में जोंक लगाकर चिकित्सा करने वालों या ग्रामीण चिकित्सकों को इसी प्रकार निचली श्रेणी का माना जाता था। वे किसानों से भी निम्न स्तर के माने जाते थे और अपने धंधे के साथ या तो कपड़ा धोने का काम भी किया करते थे या ज्योतिषी होते थे। लेकिन इन सीमाओं के बावजूद परम्परागत केरल में चिकित्सा की प्रगति हुई और अट्ठारहवीं शताब्दी तक वह इतनी विकसित हो चुकी थी जितनी भारत के किसी अन्य भाग में थी।

इस वर्णन से हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि केरल में समाज गतिशील नहीं था। पारम्परिक काल में समुद्रपार व्यापार में वृद्धि हुई, शकरकन्द और काजू जैसी नकदी फसलों को उगाने की

शुरूआत हुई, निर्यात के लिए नारियल, काली मिर्च, दाल-चीनी और अन्य वस्तुओं का बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन आरम्भ हुआ, राजाओं ने नये शस्त्रास्त्रों और बारूद का प्रयोग आरम्भ किया तथा बन्दरगाहों में दस्तकारों के नये वर्गो का उदय हुआ। इसके बावजूद १७३० ईस्वी तक केरल में शासन प्रणाली परम्परागत बनी रही। विशेष रूप से नम्बूतिरी लोगों ने अधिकांश भूमि को अपने एकाधिकार में रखा। अदालतों, शिक्षा केन्द्रों और सार्वजनिक प्रचार के साधनों पर भी उनका पूरी तरह नियन्त्रण था। कर्मकाण्ड और विधि-निषेध के प्रति अत्यन्त सावधान होने के कारण और व्यापार, प्रायोगिक विज्ञान तथा किसी भी रूप में सामाजिक नवीनता के विरोधी होने की वजह से उनका रूढ़िवादी धार्मिक प्रभाव उसी प्रकार पड़ता रहा जैसे हिन्दू शासन में भारत के अन्य भागों में ब्राह्मणों का पड़ता था।

१७३० ईस्वी के बाद केरल में नये वर्गों का उदय हुआ और सामन्ती व्यवस्था तथा नम्बूतिरी लोगों का प्रभुत्व समाप्त हुआ। यह सब इसलिए हुआ कि नये युद्धों के कारण सामाजिक उथल-पुथल हुई, व्यापारिक वर्गों में वृद्धि हुई, नये बाजारों के लिए होड़ शुरू हुई और यूरोपीय कम्पनियों द्वारा राजनैतिक केन्द्रीकरण के लिए दबाव पड़ा। दक्षिणी भाग में ट्रावन्कोर और कोचीन के महा-राजाओं ने अपने राज्यों को केन्द्रीयकृत किया, अधिकांश सरदारों से सत्ता छीन ली और सामान्य स्तर के नायरों तथा तमिलों को नये राज्याधिकारी वर्ग का दर्जा दिया। राजाओं ने विदेशी व्यापार पर भी अपना एकाधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और यूरोपीय कम्पनियों के विरुद्ध खड़े होने की कोशिश की। पुराने दिनों की भाँति नम्बूतिरी लोगों को धन और सम्मान भी मिला लेकिन वे नीति सम्बन्धी निर्देशन का नियन्त्रण करने वाले नहीं रहे। कोलट्टुनाडु और कोज़ीकोड में मैसूर राज्य की सेनाएँ पहाड़ों को पार करके तटवर्ती प्रदेशों में पहुँचीं। इनमें अधिकांश मुस्लिम सैनिक थे। उन्होंने तटवर्ती राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न कर दी, स्थानीय मापिल्ल लोगों को नेतृत्व के पद प्रदान किये, समुद्र-पार व्यापार को अपने हाथ में ले लिया और ब्राह्मणों, राजवंश के

लोगों तथा अधिकांश नायर सरदारों को या मौत के घाट उतार दिया, या उनका धर्म-परिवर्तन किया अथवा उन्हें देश-निकाला दे दिया। लेकिन इनमें से कोई भी ब्रिटिश दबाव का सामना नहीं कर सका और ब्रिटेन के लोग एक के बाद एक भारतीय प्रदेशों पर विजय प्राप्त करते रहे तथा भारतीय बाजारों और कच्चे माल पर अधिकार जमाते रहे। १७९० ईस्वी तक सम्पूर्ण केरल प्रदेश उनके अधीन हो गया यद्यपि ट्रावन्कोर और कोचीन के महाराजाओं का अस्तित्व बना रहा और वे ब्रिटेन की प्रभुसत्ता के अधीन देशी राज्य बन गए।

ब्रिटिश शासकों ने ब्राह्मणों तथा अन्य धर्म-निरपेक्ष सरदारों को उनकी ज़मीनें लौटा दीं और उनकी शान-शौकत तथा धार्मिक स्थिति फिर से स्थापित हो गयी। बाद में ब्रिटिश शासकों ने उनका इस्तेमाल मलयाली उच्च मध्य-वर्ग, गरीब किसान और भूमिहीन मजदूरों द्वारा क्रांतिकारी परिवर्तन के प्रयत्नों को कुचलने के लिए किया। इस प्रकार लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक नम्बूतिरी लोगों और उनके रहस्यवादी धर्म को नया जीवन मिला। लेकिन बाद में उपनिवेशवादी शासकों, ईसाई धर्म-प्रचारकों, पूजीपतियों और इंग्लिश स्कूलों और कालेजों में पढ़ने वाले लोगों के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण नम्बूतिरी लोगों का प्रभाव घटता गया और वे उस प्रकार का कानूनी और नैतिक प्रभुत्व फिर नहीं प्राप्त कर सके जैसा उन्हें सामन्ती युग में प्राप्त था।

केरल के अधिकांश साहित्य की रचना नम्बूतिरी ब्राह्मणों द्वारा १६वीं शताब्दी से पूर्व हुई और काफी साहित्य उसके बाद में लिखा गया। इसके अन्तर्गत संस्कृत गद्य में कर्मकान्ड, व्याकरण, न्याय, ज्योतिष, दर्शन और तर्क, संस्कृत तथा मलयालम में कथा-काव्य, संस्कृत के प्राचीन महाकाव्यों तथा पौराणिक कथाओं के छंदोबद्ध रूपान्तरण और इष्टदेवताओं के प्रति भक्ति भावना के काव्य थे। मलयालम में बड़ी संख्या में एकालाप, आख्यायिकाएँ और नाटक भी लिखे गए। इन सबका उपयोग उच्चकुल के हिन्दुओं के मन्दिरों में उत्सवों के समय होता था और इनके पाठ या अभिनय मंदिर के अब्राह्मण सेवक किया करते थे। ये पौराणिक कथाओं पर आधारित

होते हैं लेकिन इनके अन्तर्गत उच्च समाज की गतिविधियों के संबंध में व्यंग्य-विनोद को भी स्थान मिलता था। ब्राह्मणों के मन्दिरों में ऐसे कार्यक्रम केवल ब्राह्मण-वर्ग, राज-परिवार, मंदिरों के सेवकों और उच्च कुल के नायरों के लिए होते थे। एक काफी लोकप्रिय नृत्य-नाट्य 'कथकलि' था जिसे नायरों, मन्दिरों के सेवकों तथा राज दरबारों आदि के गायकों की मण्डली प्रस्तुत किया करती थी। इन नाटकों में भी पुराणों या प्राचीन आख्यायिकाओं के प्रसंग हुआ करते थे और इन्हें जोड़ने वाले विवरण नम्बूतिरी लोगों द्वारा लिखे जाते थे।

१७वीं शताब्दी तक केरल में इतिहास स्थानीय और पारिवारिक वंशवृत्तों तक सीमित था। वे या तो राज दरबार अथवा मन्दिर से सम्बद्ध विद्वानों या उच्च पद वाले मातृसत्ताक वंश के नायर मुखिया द्वारा लिखे जाते थे। लेकिन १७ वीं शताब्दी में केरल के दो 'सामान्यीकृत' इतिहास लिखे गए: संस्कृत में 'केरल माहात्म्यम्' और मलयालम में 'केरलोल पट्टि'। इनमें दंतकथाओं, ऐतिहासिक तथ्यों और कल्पना का सम्मिश्रण है और कालक्रम की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। संभवतः ये दोनों ही नम्बूतिरी लोगों द्वारा लिखे गए थे क्योंकि इनमें उस जाति की बहुत प्रशंसा की गई है। वे यद्यपि अवैज्ञानिक और अर्ध-पौराणिक थे, तथापि उनसे यह संकेत मिलता है कि केरल में 'राष्ट्रीय' या प्रादेशिक मलयाली संस्कृति और चेतना का उदय हो रहा था। यह विचार व्यक्त किया गया है कि प्रादेशिक चेतना का यह प्रसार संभवतः यूरोपीय व्यापार के एकीकृत करने वाले प्रभाव तथा प्रादेशिक बाज़ार के विकास का परिणाम था। इन इतिहासकारों पर शायद पुर्तगाली और डच इतिहासकारों का भी प्रभाव पड़ा होगा। केरल के अनेक राजकुमारों और उच्च कुलीन व्यक्तियों ने उन यूरोपीय देशों की भाषाएँ सीख ली थीं जिनकी कंपनियों के साथ उन्होंने संधियाँ की थीं। कुछ ने तो यूरोपीय साहित्य का व्यापक अध्ययन किया। राजवंशीय संरक्षकों के प्रभाव से भी ब्राह्मण विद्वानों ने अपनी कृतियों की रचना की होगी यद्यपि ब्राह्मणों को उनका धर्म अ-भारतीय भाषाएँ सीखने की अनुमति नहीं देता था।

नम्बूतिरी लोगों में कुछ उप-जातियों ने वेदों के उच्च अध्ययन को अपने ही तक सीमित रखा। वेद संस्कृत के प्रथम चार ग्रन्थ हैं जिनमें श्लोक और ऋचाएँ संग्रहीत हैं जिनकी रचना संभवता ई० पू० १५०० से १००० वर्ष के बीच हुई थी। भारत में सर्वत्र केवल ब्राह्मणों को वेदाध्ययन का अधिकार था यद्यपि क्षत्रिय और वैश्य भी वेद-पाठ सुनने के अधिकारी होते थे और घरेलू उत्सवों तथा समारोहों में वे ब्राह्मणों को बुला कर वेद-पाठ करवाते थे। केरल में राजवंश के कुछ लोगों को काफी आरम्भ से क्षत्रिय पद प्रदान कर दिया गया था। ऐसे राजवंश के बालकों का ब्राह्मणों की ही तरह उपनयन संस्कार होता था, वे यज्ञोपवीत पहनते थे और उन्हें वेद-पाठ सुनने का अधिकार होता था। निम्न श्रेणी के राजपुरुषों और सामान्य स्तर के नायरों की शुद्रों में गणना की जाती थी और इसीलिए उन्हें वेद-पाठ का अधिकार नहीं था यद्यपि परवर्ती संस्कृत महाकाव्य, नाटक, कर्मकाण्ड सम्बन्धी तथा दार्शनिक कृतियाँ आदि उन्हें सहज उपलब्ध थीं। केरल में वैश्य नहीं होते थे और नायरों से नीचे की सभी जातियों को 'अवर्ण', अतः हिन्दुत्व की सीमा से बाहर माना जाता था।

वैदिक अध्ययन के इच्छुक नम्बूतिरी या तो त्रिचूर स्थित वैदिक विद्यालय में या तिरुनावाय स्थित विद्यालय में जाते थे। ये संकेदम् क्रमशः कोचीन और कोज़ीकोड राज्यों में थे। भारत के अन्य भागों की भाँति यहाँ भी वेद मौखिक ढंग से सम्प्रेषित होते थे और पूर्णतः कंठस्थ किए जाते थे। लेखन का कोई उपयोग नहीं था और सारा जोर शुद्ध उच्चारण पर होता था।

सामान्यतः गुरु द्वारा अनेक शिष्यों को ज्ञान देने की प्रथा अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण वर्ग में अधिक प्रचलित थी। ब्राह्मणों के बच्चों को अन्य जातियों के बालकों की भाँति, पाँच वर्ष की अवस्था में उसके पिता या किसी अध्यापक द्वारा अक्षर-बोध कराया जाता था। इस 'विद्यारंभम्' समारोह के अन्तर्गत अध्यापक बच्चे की जिह्वा पर सोने की अँगूठी से या स्वर्ण-निर्मित वस्तु से वर्णमाला के अक्षर लिखता था। इसके बाद बच्चे से ज़मीन पर बिछे अक्षत पर अक्षरों को बनवाया जाता था। सभी जातियों में प्रथमाक्षर वे

लिखाए जाते थे जो विष्णु, लक्ष्मी और गणपति के नामों या स्तुति के सूचक हों। इन देवताओं का आशीर्वाद ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक माना जाता था। इसके बाद ब्राह्मण बालक को दो वर्ष तक अपने ही घर में पिता या गुरु द्वारा लिखने तथा अन्य विषयों की शिक्षा मिलती थी। सात वर्ष की आयु में उसे दूसरी तथा अधिक महत्वपूर्ण दीक्षा दी जाती थी: यह था उपनयन संस्कार। इस संस्कार द्वारा वह गुरु या धर्म-गुरु से सैद्धान्तिक रूप में, और प्रायः व्यवहारतः भी, नौ वर्ष की अवधि के लिए सम्बद्ध हो जाता था। 'ब्रह्मचर्य' की इस अवधि में बालक सादा जीवन बिताता था, और प्रायः वह गुरु के ही घर में रहता था। उसे प्रति दिन अपनी उपजाति के वेद का पाठ सिखाया जाता था। वैदिक अध्ययन के पूर्ण हो जाने पर 'समावर्तन' समारोह होता था जिसके बाद बालक को ब्राह्मण के रूप में नैत्यिक तथा गृह-कार्य करने का अधिकार मिल जाता था। समावर्तन समारोह के बाद युवक को विवाह करने की छूट रहती थी।

जिन ब्राह्मणों को और लम्बे समय के लिए वैदिक विद्यालयों में पढ़ने का अवसर मिलता था वे वेद-पाठ में विशेष दक्षता प्राप्त कर लेते थे और बड़े-बड़े मन्दिरों में आयोजित पाठ-प्रतियोगिताओं में भाग लिया करते थे। अन्य ब्राह्मण, जो वेदान्त दर्शन, काव्य और एकालाप में दक्ष होते थे, राजदरबारों में शास्त्रार्थ में भाग लेते थे या अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन करते थे ताकि उन्हें पुरस्कार मिल सके। इस प्रकार यद्यपि अन्य जातियों की अपेक्षा केरल में ब्राह्मणों का स्थायी साहित्य के लिए अधिक योगदान रहा, तथापि सीखने की पद्धति के रूप में कथित शब्द और वार्तालाप के उच्चतर मूल्य को उन्होंने बनाए रखा। ऐसा प्रतीत होता है कि नायरों में अधिक जोर लेखन-कुशलता पर दिया जाता था। यह संभव है कि केरल की साहित्यिक कृतियों को लिपिबद्ध करने का कार्य नायरों ने ही किया हो जो राजमहलों में व्यावसायिक लिपिक हुआ करते थे।

ब्राह्मण स्त्रियों की सामाजिक और वैधानिक स्थिति इस पितृ सत्ताक जाति के अन्तर्गत काफी नीची थी और उनका कार्यक्षेत्र उनके घरों की चार दीवारी तक सीमित था। उनकी शिक्षा श्लोकों और

सुभाषितों को कण्ठस्थ करने तक की थी और उनमें से बहुत कम ही साक्षर होती थीं।

नायर समूह

केरल में जातियों की दूसरी श्रेणी के अन्तर्गत राजवंश के व्यक्ति, धर्म निरपेक्ष सामन्त और उनके परिचर लोग थे। ये सभी मातृसत्ताक व्यवस्था का पालन करते थे। राजवंशीय मातृसत्ताक वर्ग को ब्राह्मणों के बाद ही वरीयता प्राप्त थी। वे मुख्यतः उच्च श्रेणी के उन नम्बूतिरी लोगों की संतान होते थे, जो राजकुमारियों से विवाह करते थे। मन्दिरों के सेवकों का छोटी जाति का पृथक् वर्ग था जिसमें संगीतज्ञ, नाटककार, माली और वे कारिन्दे होते थे जो शिव-पार्वती या लक्ष्मी विष्णु के बड़े-बड़े मन्दिरों से सम्बद्ध होते थे। इन मन्दिरों के स्वामी ब्राह्मण या राजवंश के व्यक्ति होते थे। नायरों के अन्तर्गत छोटे सामन्त, गाँवों के मुखिया, सैनिक और मुनीम आदि होते थे जो ब्राह्मणों, सामन्तों या राजाओं की सेवा में रहा करते थे। नायरों के बाद और भी छोटी जाति के लोग होते थे। वे मन्दिरों और राज महलों के लिए कला-कौशल की वस्तुएं तैयार करते थे और नायरों तथा उनके स्वामियों की अन्य प्रकार से सेवा करते थे।

इन राज्यों में 'ब्राह्मण' और 'नायर' ऊँची, 'अच्छी' और 'स्वच्छ' जाति के माने जाते थे। उनके और दो अन्य निचली श्रेणियों के बीच काफी खाई होती थी। इन श्रेणियों के लोगों के साथ ब्राह्मणों का खान-पान या विवाह का कतई सम्बन्ध नहीं होता था। ऊँची जाति के लोग, जो आपस में भी ऊँच-नीच का स्तर बनाए रखते थे, नगरों के बाहर रहते थे और गाँवों में अलग क्षेत्रों में निवास करते थे। सामाजिक दृष्टि से वे विदेशी धर्मावलम्बी व्यापारी समूहों से और नीची जाति वालों से भी अलग-थलग रहते थे।

केरल की जनसंख्या में आज नायरों का अनुपात १९ प्रतिशत है और शायद परम्परागत काल से ही यही अनुपात रहा है। यह भी संभव है कि प्रायः सभी नायर पुरुष और अधिकांश स्त्रियाँ साक्षर रही हों। इनमें से अनेक, विशेषतः राज परिवार के और सामन्ती

लोग, संस्कृत भी जानते थे : कुछ राजकुमारियाँ और राजकुमार प्रसिद्ध वैयाकरणी, दार्शनिक और कवि हो गए हैं।

१६वीं शताब्दी से नायरों ने साहित्य-रचना में अधिकाधिक योग दिया; विशेषत: मलयालम नाटक और कथा तथा गीत काव्यों में उनका योगदान उल्लेखनीय रहा। १६वीं सदी में किसी समय मध्य ट्रावन्कोर में नीरनम् के नायर कवियों और कुछ समय बाद तुँजथ एजुत्तच्चन ने, जो कोज़ीकोड राज्य के थे, मलयालम में रामायण, महाभारत, भारत पुराण और अन्य संस्कृत ग्रन्थों का रूपान्तरण किया। इन ग्रन्थों का व्यापक प्रसार हुआ और आज इन्हें अधिकांश नायरों के घरों में पाया जा सकता है। उस काल के बाद नायरों ने, जिनमें अपेक्षाकृत निचली श्रेणी के लोग भी थे, मलयालम में समृद्ध काव्य और नाट्य साहित्य की रचना की। यद्यपि राज परिवार के सदस्यों को राज महलों में शिक्षा दी जाती थी, नायर लोगों को गाँव की पाठशालाओं में शिक्षा मिलती थी। उनके बालकों और बालिकाओं को पाँच वर्ष की आयु में समारोह पूर्वक अक्षर ज्ञान कराया जाता था। परम्परागत अध्यापक, जिन्हें 'एजुत्तच्चन' या 'आसन' कहा जाता था, अपने शिष्यों को फूस के छप्परों की पाठ-शालाओं में या बड़े-बड़े मकानों के बरामदों में पढ़ाया करते थे। वे मलयालम और संस्कृत वर्णमाला, व्याकरण, अंकगणित और महा-काव्य तथा भजन आदि की शिक्षा दिया करते थे। दूसरी जातियों की तरह नीति सम्बन्धी कहावतों को कण्ठस्थ करने पर काफी जोर दिया जाता था और यह भी सिखाया जाता था कि उन्हें नित्य प्रति के जीवन में किस प्रकार सावधानीपूर्वक आचरण करना चाहिए। लड़कियाँ ६ से बारह वर्ष के बीच विवाह के बाद पढ़ाई छोड़ देती थीं। लड़के सात वर्ष की आयु से अपने पाठ याद करने और गाँव की व्यायामशाला में सैनिक शिक्षा प्राप्त करने में समय लगाते थे। जो विद्यार्थी ज्योतिष, दर्शनशास्त्र या चिकित्सा का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे, वे विशेष गुरुओं के घरों में जाकर शिक्षा प्राप्त करते थे। सभी नायरों को सैनिक शिक्षा मिलती थी और वे जिस राजा या सामन्त के साथ सम्बद्ध होते थे, उसकी ओर से उन्हें लड़ने के लिए तैयार रहना पड़ता था। लेकिन बहुत से सामान्य नायर लोग

राज महलों में या छोटे-छोटे राजाओं के घरों में लिपिक का काम करते थे। पुर्तगाल के एक राजदूत दुआर्ते बारबोसा ने १६वीं शताब्दी के आरम्भ में उनके कार्यों का विवरण इस प्रकार दिया है :—

"कालीकट के राजा के पास राजमहल में बहुत से लिपिक हैं, जो राजा से काफी दूर एक किनारे पर बैठते हैं। वे राजा के हिसाब-किताब के बारे में सभी कुछ लिखते रहते हैं। राज्य में न्याय और प्रशासन के सम्बन्ध में भी सभी बातों को वे लिपिबद्ध करते हैं। वे कुरकुरे ताड़-पत्र पर लोहे की सलाई से स्याही का प्रयोग किए बिना लिखते हैं। ७ या ८ और भी लिपिक हैं जो राजा के निजी लिपिक माने जाते हैं। उनका बड़ा आदर है। वे राजा के निकट, अपने हाथ में सलाई लिए और बगल में ताड़पत्र दबाए, तैयार खड़े रहते हैं। इन सभी ताड़-पत्रों पर एक सिरे पर राजा की मुहर होती है। जब राजा को कुछ कहना होता है या लिखाना होता है तो उसकी इच्छा के अनुसार उस मुहर के नीचे वाले खाली हिस्से में वे उसे लिख देते हैं और इस प्रकार राजा का आदेश सम्बद्ध लोगों तक पहुँचा दिया जाता है।"

कालीकट के अभिलेखागार के सम्बद्ध में पाइरार्ड डी लावेल ने लिखा है :—

"राजमहल के पास कुछ भवन बने हुए हैं, जिन्हें सभी तरह के रजिस्टर रखने के लिए राजा के सचिव और लिपिक को दिया गया है। सभी काम बहुत सुन्दर और व्यवस्थित ढंग से होता है। मुझे अक्सर यह देख कर आश्चर्य हुआ है कि बड़ी संख्या में लोगों के पास लिखने और रजिस्टर तैयार करने के सिवाय और कोई काम नहीं है। जो लोग यह काम करते हैं, उनको बहुत सम्मान से देखा जाता है। उन्हें राजमहल में रहने के लिए स्थान दिया जाता है यद्यपि यह स्थान एक अलग खण्ड में होता है। लिपिकों में से कुछ लोग राजा के लिए आने वाली वस्तुओं को दर्ज करते हैं; कुछ अन्य लोग टैक्सों और अन्य आय का लेखा-जोखा रखते हैं; कुछ लोग राजमहल के खर्च का हिसाब रखते हैं; कुछ लोग यह दर्ज करते हैं कि दिन भर राजदरबार में और राज्य में दूसरी जगह क्या कुछ हुआ है। इस प्रकार राज्य में जो कुछ भी घटित होता है, वह सब रजिस्टरों पर

दर्ज हो जाता है। प्रत्येक लिपिक को अलग कमरा मिला हुआ है। एक रजिस्टर पर यह लिखा जाता है कि कौन-सा अजनबी आया है, उसका नाम क्या है, और वह किस देश से आया है, वह किस समय पहुँचा है और उसका काम क्या है। मेरे साथ भी उन्होंने ऐसा ही किया। उनकी संख्या को देखकर और यह देखकर कि वे कितने सुचारु ढंग से काम करते हैं तथा कितनी तेज़ी से ताड़-पत्रों पर लिखते हैं, बड़ा आश्चर्य होता है।''

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि सामान्य नायरों में साक्षरता मुख्य रूप से राजकाज, व्यापार और जागीरों तथा गाँवों के सामन्ती प्रबन्ध से सम्बद्ध थी। राजा के बड़े-बड़े सामन्तों के पास, छोटे-छोटे स्वाधीन राजकुमारों की भाँति, नायर लेखक होते थे जैसा 'संकेदम्' में होता था। गाँवों में मुखिया के पास उसी की जाति के एक या एक से अधिक नौजवान लिपिक होते थे जिनका काम यह दर्ज करना था कि गाँव वालों से कितना टैक्स वसूल किया गया है या ऊपर के अधिकारी को कितना शुल्क दिया गया है। किराए-भाड़े तथा गिरवी रखने से सम्बद्ध जानकारी लिपिबद्ध करने, कानूनी विवादों के विवरण रखने और गाँव के मंदिरों का जमा-खर्च दर्ज करने का काम भी ये लिपिक किया करते थे। प्रत्येक गाँव के मुखिया को और उसके ऊपर के सामन्त को यह जानकारी भी लिखित रूप में रखनी पड़ती थी कि लड़ाई होने पर गाँव से कितने ऐसे नायरों को जुटाया जा सकता है जो सैनिक का कार्य कर सकें। राजाओं और राजकुमारों को अपने अधीन लोगों से २८ किस्म के विशेष शुल्क और टैक्स आदि वसूल करने का अधिकार था। इन सबकी वसूली को रजिस्टर में दर्ज किया जाता था और वसूल किया गया पैसा या सामान खजाने में या राजमहल में जमा करा दिया जाता था। जिन चीजों की वसूली की जाती थी उनके अंतर्गत हिरण और शेर की खालें और पूँछ, तीन या पाँच थनों वालि गायें, कई तरह की चुंगियाँ, व्यापार-कर, जुर्माने, द्वन्द्व-युद्ध का शुल्क, व्यापारियों तथा अन्य यात्रियों को सैनिक संरक्षण देने का शुल्क आदि था। राजा की बड़ी-बड़ी निजी जागीरों में नायर मुनीम सभी आमदनी, खर्च और खजाने को भेजी गयी रकमों का हिसाब

रखते थे। पत्र और शाही फ़रमान लगातार सन्देशवाहकों के द्वारा केन्द्रीय और अधीनस्थ राजमहलों से राजा की तात्कालिक आज्ञा के अन्तर्गत सामन्तों के घरों में पहुँचाया करते थे और वहाँ से गाँव के मुखिया तक पहुँचते थे। लावेल ने लिखा है कि बन्दरगाहों पर तैनात नायर अधिकारी चुँगी-घर में आने-जाने वाले माल को दर्ज किया करते थे और उसे भण्डार घरों में रखवाया करते थे। प्रत्येक राज्य की राजधानी में कुछ अन्य लिपिक कर्मचारी टकसाल और खजाने पर नियुक्त थे।

निम्न जातियाँ

गाँव में नायरों के बाद जातियों की दो श्रेणियाँ थीं। आंतरिक प्रशासन के लिए प्रत्येक जाति का अपना मुखिया और अपनी ग्राम-सभा हुआ करती थी, लेकिन नीची जाति के लोगों को राज्य-शासन से अलग रखा जाता था। इन जातियों का प्रत्येक परिवार गाँव के किसी नायर या ब्राह्मण परिवार से सेवक के रूप में सम्बद्ध होता था अथवा वह गाँव के नायरों की शासन-सभा के अधीन हुआ करता था। नीची जातियाँ गाँव में अधिकतर खेती-बाड़ी और सेवा-कार्य किया करती थीं।

इन दोनों श्रेणियों में से जो अधिक नीची श्रेणी थी, उसके अन्तर्गत खेतिहर दासों की कई जातियाँ थीं। उन पर नायर और ब्राह्मण परिवारों का सम्पत्ति के साथ ही पुश्तैनी अधिकार होता था और परम्परागत काल के अन्त में तो उन्हें नक़द पैसा लेकर बेच दिया जाता था या पट्टे पर दे दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये जातियाँ और कुछ अन्य खानाबदोश भिखारी, डलिया बुनने वाले, संपेरे और ओझा आदि बिल्कुल अपढ़ होते थे। आज वे सभी केरल की हरिजन या परिगणित जातियाँ मानी जाती हैं जो कुल आबादी का ९ प्रतिशत हैं। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में उनकी संख्या अवश्य ही और अधिक रही होगी, क्योंकि उनमें से कुछ लोग बाद में मुसलमान या ईसाई बन गए। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, जबकि उन्हें दासता से मुक्ति मिल गयी थी, और भी तेज़ी से

धर्म परिवर्तन हुए । ऐसा प्रतीत होता है कि मलयाली लोगों में दासों की ही आबादी ऐसी थी जिसके लिए पढ़ने-लिखने की बिलकुल मनाही थी ।

लेकिन नायरों और उनके दासों के बीच की एक श्रेणी ऐसे अर्द्ध-सेवक किसानों, कारीगरों और विशेष धन्धे करने वाली जातियों की थी, जो काफी साक्षर थी । इनमें से बहुसंख्यक जाति 'इज़ावा' या 'तियर' कहलाती थी । ये लोग बगीचों में काम किया करते थे, धान के खेतों को पट्टे पर उठाते थे, नारियल के वृक्षों की देखभाल करते थे और वंश-परम्परा से नायरों से सम्बद्ध थे । इजावा लोगों के समान संस्कृति वाली कुछ छोटी जातियाँ गाँव के सेवकों की थीं जो नायरों की ग्राम-सभा के अधीन होती थीं । इनमें प्रमुखतः लुहार, बढ़ई, सुनार, ठठेरे, राज-मजदूर, ज्योतिषी, पटेबाज, तीर-धनुष बनाने वाले, धोबी और नाई होते थे ।

इन सभी जातियों के लड़के और लड़कियाँ उन स्कूलों में पढ़ने जाती थीं, जो गाँव में उनकी बस्ती में खुले हुए थे और जो नायर स्कूलों के समान चलाये जाते थे । नीच जाति के स्कूलों के लिए शिक्षक, परम्परा से कोझीकोड की कुँडपट्टन जाति से और कोच्चिन की कलरी पनिक्कर जाति से आते थे । इन दोनों जातियों के लोग ज्योतिषी, वैद्य और ओझा भी होते थे । दोनों ही जातियों का कहना था कि वे तमिल ब्राह्मणों की हीन शाखाओं के वंशधर हैं । वे कहते थे कि इसी नाते उन्हें संस्कृत, ज्योतिष और वैद्यक का ज्ञान है ।

वास्तव में ज्योतिषियों और शिक्षकों की इन जातियों के लोग कई प्रकार से अन्य नीची जातियों के साथ वैसा ही व्यवहार करते थे, जैसा कि ब्राह्मण किया करते थे । उदाहरण के लिए वे जन्मकुण्डली बनाते थे या उन पर विचार करते थे, रोगियों की चिकित्सा करते थे और कष्ट-निवारण के लिए अथवा घर में यश और धन लाने के लिए संस्कृत मंत्रों का पाठ किया करते थे । वे भूत-प्रेतों की झाड़-फूँक करते थे, सम्मोहन मंत्र दिया करते थे, रक्षा के लिए तावीज़ बाँधते थे और गाँव के ऐसे छोटे-छोटे देवताओं का पूजा-पाठ कराते थे जो शुभाशुभ फल देने वाले हों । उनकी विद्या ब्राह्मणों की विद्या की तुलना में काफी सरल होती थी, लेकिन उनके

द्वारा संस्कृत के धार्मिक विश्वासों और आचरण की कुछ बातें निम्न जातियों के लोगों तक पहुँचीं जो कुलीनों के मंदिरों में नहीं जा सकते थे अथवा ब्राह्मणों की सेवाएं नहीं प्राप्त कर सकते थे। इन बातों के अन्तर्गत देवताओं के लिए चढ़ावा और प्रार्थनाएं, पुर्नजन्म और कर्म-सिद्धान्त में विश्वास, ज्योतिष और भविष्यवाणी के अन्य रूपों में विश्वास तथा हिन्दू महाकाव्यों की कथाओं और नीति-वाक्यों का ज्ञान आदि था। इस प्रकार ज्योतिषियों और शिक्षकों की जातियों ने निम्न जातियों के संस्कृतीकरण में सहायता दी। यह काम पूरे पारम्परिक काल में साक्षरता में वृद्धि के साथ-साथ चलता रहा।

संस्कृत के ज्ञान के साथ-साथ स्थानीय विश्वासों अर व्यवहार का भी प्रसार होता रहा। उक्त जातियाँ नायरों तथा अन्य निम्न जातियों की ओर से भूत-प्रेतों को खुश रखने का भी काम करती रहीं। नीची जाति के शिक्षकों को प्रशिक्षण के अन्तर्गत ब्राह्मणों के मुकाबले जादू-टोने की शिक्षा कहीं अधिक दी जाती थी और तर्क-शास्त्र, गणित, दर्शन तथा विज्ञान आदि का अभाव रहता था। उदाहरण के लिए नीची जाति के शिक्षक सम्पूर्ण वेद का पाठ करने अथवा पुस्तकें लिखने के बजाय छोटे-छोटे गुप्त मन्त्र दोहराते थे जिनके बारे में कहा जाता था कि उनमें बड़ी शक्ति है अथवा संकट दूर करने के लिए ताम्र-पत्रों या तावीज़ों पर मन्त्र अथवा यन्त्र लिखा करते थे।

यह उल्लेखनीय है कि और अधिक नीची जाति—अस्पृश्यों—में जो लोग ओझा या बाजीगर आदि होते थे, वे निम्न जातीय शिक्षकों की परम्परा का कुछ अंश में और अधिक मोटे तौर पर अनुकरण करते थे। इनमें से मध्य केरल की पानन और कोलट्टुनाड की मलयन जातियाँ सर्वविदित हैं। इस स्तर पर विद्या के नाम पर जादू-टोने की प्रधानता होती थी और साक्षरता टोने-टोटके की सूचक संख्याओं के रूप में ही प्रचलित थी। ये जातियाँ उन भूत-प्रेतों पर नियंत्रण रखने का दावा करती थीं जो और भी निचले स्तर के थे और जिनका प्रभाव और भी निकृष्ट माना जाता था। ये लोग अभिचार, वृकोन्माद तथा ओझागिरी के विशेषज्ञ माने

जाते थे। इस प्रकार कुछ हद तक ऊँची और निम्न जाति को उनकी आवश्यकता हुआ करती थी क्योंकि ये जातियाँ अपने शत्रुओं के विरुद्ध मारण आदि का प्रयोग करने अथवा दुर्भाग्य या बीमारी दूर रखने के लिए उनसे काम लेती थी।

इज़ावा जाति के लोगों तथा गाँव के सेवकों में साक्षरता का उपयोग संस्कृत और मलयालम साहित्य सुलभ बनाने की बजाय उनके विशेष काम-धंधों के सुभीते के लिए या सामाजिक उद्देश्य से होता था। तीसरी श्रेणी के अधिकांश लोग सम्भवत: छोटे-छोटे वाक्य लिख और पढ़ सकते थे लेकिन उनमें से बहुत कम लोगों के पास किताबें होती थीं और उनमें से कम ही लोग मूल साहित्य की रचना करते थे। उनके अधिकांश बच्चे ६ या १० वर्ष की आयु से स्कूल में जाने के साथ-साथ मेहनत-मजदूरी के काम करते थे। स्कूलों में अंकगणित, पौराणिक कहानियां, कहावतें और खेती-बाड़ी तथा नीति-सम्बन्धी कथन सिखाये जाते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रौढ़ लोगों में साक्षरता मुख्य रूप से भूमि के हस्तान्तरण, मिल्कियत या रेहन के कागज़ात पढ़ने तक सीमित थी। कुछ लोग बहीखाता भी रखना जानते थे। कुछ दूसरे लोग भवन-निर्माण, धातु के काम, ज्योतिष-विद्या और उत्सव-समारोहों के सम्बन्ध में पुस्तकें पढ़ते थे या दूसरों को पढ़कर सुनाते थे। कुछ लोकगीत, स्थानीय नायको की वीरता की कथायें, फसल के गीत या स्त्रियों के त्यौहारों के गीत भी लिखित रूप में मौजूद थे। कुछ ऐसे देवताओं के बारे में भी लम्बे वर्णनात्मक गीत गाये जाते थे, जो वैदिक देवता नहीं थे। इन गीतों के साथ-साथ निम्न जातियों के नाटक और नृत्य भी हुआ करते थे जो कथकलि के लोक-प्रचलित रूप के समान थे। ये सब रचनायें एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप में अथवा लिखित रूप में मिलती थीं और आज भी ये सब मलयालम की समृद्ध लोक-कला का अंग है।

हिन्दू जातियों की तीसरी श्रेणी के अधिकांश लोगों के लिए यद्यपि साक्षरता शायद बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी, फिर भी इस समूह के कुछ लोग यूरोपियनों के प्रभाव से अच्छे विद्वान हो गये हैं। समुद्र तटवर्ती नगरों में बहुत से इज़ावा और अन्य कारीगर

डच, फ्रांसिसी और अंग्रेज़ व्यापारियों की सेवा में लग गये थे जिन्होंने उनसे कुलीन हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी तरह व्यवहार किया। कोलट्टुनाड में बसे अंग्रेज़ों और तीयर जाति की स्त्रियों के बीच विवाह के कारण काफी संख्या में यूरोपियन पाये जाते थे। इन लोगों ने हिन्दू धर्म को बनाये रखा, लेकिन उन्होंने अंग्रेज़ी सीख ली और उनमें कुछ लोग ब्रिटिश शासन-काल से पहले ही धनी सेना नायक, किसान आदि बन गये। कुछ अन्य इज़ावा लोग डच या फ्रांसीसियों के सम्पर्क में आकर आधुनिक ज्ञान प्राप्त कर सके। इसी प्रकार के इज़ावा इत्तो अच्युतन ने केरल में एक उच्च विद्वान द्वारा लिखे गये वनस्पति विज्ञान सम्बन्धी पहले वैज्ञानिक ग्रन्थ की तैयारी में सहायता दी थी।

परम्परागत केरल में साक्षरता का प्रभाव

परम्परागत काल में भारत के अधिकांश अन्य भागों की तुलना में केरल में साक्षर लोगों का अनुपात बहुत अधिक था। इसके कई कारण हो सकते हैं। वहाँ वर्षा अच्छी होती है और इसीलिए खेती की पैदावार भी काफी अच्छी होती है। इस कारण केरल की एक चौथाई आबादी अन्य कामों से छुट्टी पाकर साक्षर विशेषज्ञ बनने की ओर प्रवृत्त हो जाती थी। समुद्र-पार व्यापार में वृद्धि और भूमि की बिक्री, किराया वसूली तथा रहन-सहन सम्बन्धी प्रबन्ध, सैनिकों और कारीगरों को नकद देने की व्यवस्था आदि के कारण लोगों को हिसाब-किताब रखने और कानूनी दस्तावेज़ पढ़ने के लिए सामान्य साक्षरता की जरूरत होती थी। नायर तथा अन्य जातियाँ, जो मातृसत्ताक होती थीं, स्त्रियों को भारत की उन अन्य जातियों के मुकाबले अधिक सम्मान देती थी, जो पितृसत्ताक थीं। इन स्त्रियों में अधिकांश पढ़-लिख सकती थीं। जो यूरोपियन वहां बस गए थे उन्होंने नीची जाति के अन्य लोगों को पढ़ना-लिखना सिखाया। १८वीं शताब्दी के आरम्भ में अनुमानतः केरल के निवासियों में आधे पुरुष और एक चौथाई स्त्रियाँ मलयालम में साक्षर थीं। यह सम्भवतः व्यापक साक्षरता का वह रूप तो नहीं है जिसकी

चर्चा गूडी और वाट ने की है। लेकिन यह समाज की वह विकसित मध्यवर्ती स्थिति अवश्य है जिसका उल्लेख पारसन्स ने किया है। लेकिन गूडी और वाट ने व्यापक साक्षरता के परिणामस्वरूप जिन विशेषताओं की चर्चा की है, उनमें से केरल में कुछ ही पाई जाती थीं। तर्कशास्त्र का वैज्ञानिक विकास वहाँ कुछ हद तक हुआ और विभिन्न विषयों का वर्गीकरण भी किया गया जैसे व्याकरण और निरुक्त, तर्क, इतिहास, भूगोल, अंकगणित, चिकित्सा, शरीर-विज्ञान और खगोल-विज्ञान। परन्तु इनके साथ ही कर्मकाण्ड, ज्योतिष, जादू-टोना और ओझा-गिरी के विषय भी थे। १७वीं शताब्दी से वंशवृत्त के स्थान पर सामान्य इतिहास का विकास आरम्भ हुआ। लेकिन उस समय तक भी इतिहास को पुराण से और धर्म को विज्ञान से पृथक करने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। परम्परा के बारे में सन्देह उठाने में किसी को भी रुचि नहीं थी। यह भी प्रयत्न कोई नहीं कर रहा था कि पौराणिक सत्य के स्थान पर वैज्ञानिक सत्य की खोज की जाय। जिस ढंग से लोकतन्त्र की कल्पना पश्चिम में की जाती थी, वह भी नही विकसित हो पाया था। फिर भी, प्रत्येक जाति की स्थानीय ग्राम-सभाओं की व्यवस्था के अन्तर्गत काफी लोकतन्त्रात्मक तत्व मिलते थे।

नम्बूतिरी लोगों के प्रयत्नों से केरल में ज्ञान की अनेक शाखाओं का इतना अधिक विकास हुआ कि वह छोटे सामन्ती राज्यों तक सीमित न रहकर पूरे भारत में फैल गया। वहां के ईसाई, मुसलमान और यहूदी विद्वानों ने मध्य-पूर्व और यूरोप की अपनी संस्कृतियों से सम्पर्क बनाये रखा। केरल में सामाजिक ऊँच-नीच बहुत अधिक पाया जाता था जो इस बात पर निर्भर होता था कि विभिन्न जातियों में लोग किस हद तक साक्षर या पढ़े-लिखे हैं। ब्राह्मण और राजवंश के लोग संस्कृत के विद्वान होने के नाते केवल मलयालम जानने वाले नायरों और मन्दिरों के सेवकों से अधिक श्रेष्ठ समझे जाते थे। इसी प्रकार मलयालम की जानकारी रखने वाले नायर, इज़ावा लोगों से अधिक श्रेष्ठ माने जाते थे, क्योंकि अधिकांश इज़ावा लोगों का ज्ञान लोक साहित्य तक सीमित था। अछूत लोगों से घृणा इसलिए की जाती थी, क्योंकि वे पढ़-लिख नहीं

सकते थे और संस्कृत तो बिल्कुल ही नहीं जानते थे। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि जो जन्म से कुलीन या श्रेष्ठ माने जाते थे, वे केवल इसलिए औरों से गिरे मानें जायें कि वे साक्षर नहीं थे।

केरल की समाज-व्यवस्था में अभिलेखों के प्रति गहरी दिलचस्पी होती थी। बहीखाते और दरबार तथा मन्दिर आदि के विवरण, राजाओं के वंश-वृत्त और गाँवों का इतिहास—ये सभी कुछ रखा जाता था। इसकी आवश्यकता सामन्ती राज्यों का शासन चलाने और धार्मिक संस्थाओं का प्रबन्ध करने के लिए होती थी। कुछ क्षेत्रों में विवरण रखने के सम्बन्ध में काल-क्रम का भी पूरा ध्यान रखा जाता था यद्यपि सभी क्षेत्रों में ऐसा नहीं किया जाता था। इस प्रकार सौर और चान्द्र पंचागों के प्रयोग के रूप में समय-सारणी और काल-क्रम का प्रयोग आरम्भ हो गया था और मलयालम सम्वत् के अनुसार कालक्रम का निर्धारण होता था। यह सम्वत् ८२५ ईस्वी से आरम्भ हुआ था। उधर काल-चक्र सम्बन्धी धारणायें गांवों में ऋतु-चक्र सम्बन्धी गणना के रूप में अथवा युगों या जन्म-मरण के चक्र के रूप में प्रचलित थीं।

अन्तिम उल्लेखनीय बात यह है कि साक्षरता के प्रयोग का यह परिणाम नहीं हुआ कि किसी प्रकार की वैयक्तिकता या अपने-पराये की भावना विकसित हुई हो। न तो उस काल में कोई उपन्यास लिखे गए और न वैयक्तिक चरित्रों को लेकर किसी प्रकार के साहित्यिक तर्क-वितर्क का उल्लेख मिलता है। साधु-संन्यासी तक मुख्यतः सामूहिक मंडलियों में रहा करते थे।

इस प्रकार केरल में साक्षरता के सम्बन्ध में मेरी ये धारणाएँ मेरे ही उन निष्कर्षों की पुष्टि करती हैं जो चीन और भारत में आम स्थिति पर विचार के फलस्वरूप पहले व्यक्त किए जा चुके हैं। साक्षरता अधिकांशतः कारणात्मक तत्व न होकर सहायक ही अधिक होती है : उसके फलस्वरूप जटिल राजनैतिक व्यवस्थाओं, तार्किक पद्धतियों, वैज्ञानिक जिज्ञासाओं, यथार्थ की रेखायित धारणाओं, पांडित्यपूर्ण विशेषज्ञताओं, कलापूर्ण विवृतियों और संभवतः कुछ प्रकार की वैयक्तिकता और परदेसीपन की भावना का विकास होता है। ये सब प्रवृत्तियाँ विकसित होंगी भी या नहीं,

ग्रौर अगर होंगी तो किस सीमा तक, यह सम्बद्ध परिस्थितिकी, अंतर्सामाजिक सम्बन्धों और इनके प्रति आन्तरिक वैचारिक तथा समाज-व्यवस्थात्मक प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करता है। पारम्परिक केरल में साक्षरता का काफी संख्यात्मक विकास हुआ। लेकिन उसका उपयोग मुख्यत: व्यापार, राजनैतिक सम्बन्धों, राजदरबार की कलाओं और धार्मिक सम्प्रदायों की गोपनीय विद्याओं के लिए ही हुआ।

इस बात पर भी विचार करना दिलचस्प होगा कि केरल में समाज के कौन-से पक्षों का विकास साक्षरता के बिना सम्भव नहीं हो पाता। प्रथम तो यद्यपि केरल में सामन्ती और केन्द्रीकृत राजनैतिक ढाँचा था, फिर भी केरल के राज्य काफी बड़े आकार के थे और कम से कम अफ्रीका में पाए जाने वाले राज्यों मे तो काफी बड़े थे। अनुमान है कि सोलहवीं शताब्दी में ज़मोरिन के राज्य में निवासियों की संख्या दस लाख थी। कुछ अन्य राज्यों में ढाई लाख से लेकर दस लाख तक लोग रहते थे। इसमें सन्देह है कि बिना साक्षरता के इतनी बड़ी मात्रा में समुद्र पार व्यापार का प्रबन्ध हो पाता; अन्तर्राष्ट्रीय संधियों, मूल्य-निर्धारण और चुँगी के भुगतान के लिए लिखा-पढ़ी की आवश्यकता होती थी। साक्षरता से निस्सन्देह बहीखाता रखने, टैक्स आदि वसूल करने, कानूनी पद्धति का विकास करने और केन्द्रीकृत राजनैतिक व्यवस्था की अन्य बातों के लिए सहायता मिलती थी।

साक्षरता और ऊँची उत्पादकता तथा ऐसे वर्ग के कारण जिसके पास अवकाश की कमी नहीं थी, एक ऐसे शिक्षित विशेषज्ञ समुदाय का उदय सम्भव हुआ जिसका संबन्ध कर्मकाण्ड, दर्शन, विज्ञान, कला और शासन से था। इसका यह भी परिणाम हुआ कि समाज के ऊँचे वर्गों में बहुत-सी जातियाँ और उपजातियाँ पैदा हो गयीं।

यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर साक्षरता न होती तो क्या धर्म-गुरुओं और शासकों का द्वि-विभाजन, तथा उसके फलस्वरूप कर्मकाण्ड और प्रशासन सम्बन्धी विवृतियाँ सम्भव हो सकतीं? केरल में साक्षरता-जन्य विशिष्ट दक्षताएँ अभिजात वर्ग तक सीमित थीं जिससे मानसिक और शारीरिक श्रम करने वाले वर्गों

के बीच गहरी खायीं पैदा हो गई। इसका परिणाम 'कुलीन' और 'अस्पृश्य' जातियों के रूप में प्रकट हुआ। वहाँ पहले ही से ऐसी पारम्परिक समाज व्यवस्था मौजूद थी जो जन्मना कुलीनता वाले समूहों पर आधारित थी। साक्षरता के कारण सामाजिक श्रेणी-विभाजन और विशेषाधिकारों को और भी बल मिला। इस प्रकार लेखन के फलस्वरूप आय-व्यय सम्बन्धी नियम निर्धारित हुए, संपत्ति तथा उत्सव त्यौहारों से सम्बद्ध विशेषाधिकार निश्चित किए गए तथा सामान्य कानूनी दस्तावेज़ तैयार किए गए।

लेखन के कारण राजवंश के लोगों और अभिजात वर्ग वालों को अपने वंश-वृत्त और राजनीतिक इतिहास लिखने की भी सुविधा मिली। इसके परिणामस्वरूप वंश-वृत्तात्मक इतिहास को लगभग बिल्कुल सही रूप में पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी तक पुर्निर्धारित किया जा सकता है। लेकिन एक दिलचस्प बात यह है कि विवाद-ग्रस्त मामलों को छोड़, वंश-वृत्त सम्बन्धी तथा अन्य सूचनाओं के कारण अभिजात वर्ग द्वारा आनुवंशिक समूहों और राजनैतिक या भूमि विषयक अधिकारों के बीच सम्बन्धों पर कोई आपत्ति नहीं उठाई गई। लेकिन वंश-वृत्त-लेखन के बावजूद आनुवंशिक समूहों द्वारा एक दूसरे के क्षेत्र पर अधिकार करने या राजनैतिक पदों पर हावी हो जाने का क्रम चलता रहा तथा तात्कालिक घटनाओं का औचित्य सिद्ध करने के उद्देश्य से वंश-वृत्तों का 'चयनात्मक' उल्लेख तथा मिथकों का विकास और इतिहास को पुनर्व्याख्या भी होती रही। इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि समीक्षात्मक और 'वस्तुनिष्ठ' इतिहास का विकास केवल साक्षरता पर न निर्भर न होकर अन्य परिस्थितियों पर निर्भर होता है, विशेषत: ऐसे समाजों में पेशेवर इतिहासकारों के उदय पर, जिनको कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना होता। फिर भी यह संदिग्ध है कि क्या किसी भी स्थान या काल का इतिहास कभी भी विशुद्ध रूप में वस्तुनिष्ठ और पूर्वाग्रह-मुक्त हो सकता है।

अन्त में हम इस बात पर भी विचार कर लें कि पारम्परिक केरल में लेखन और आधुनिक साक्षरता में क्या अन्तर है। हिन्दू राज्य स्वयं धर्मतांत्रिक थे और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन किसी न किसी अर्थ में

पवित्रतापूर्ण था, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं लेखन भी पवित्र कार्य माना जाता था। अतः वह आधिदैविक शक्तियों की चर्चा और रहस्यात्मक आशंकाओं से भी मुक्त होता था। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, अक्षर-बोध का आरम्भ विष्णु, लक्ष्मी और गणपति के आवाहन से होता था। हिन्दुओं में जब तक इन देवताओं के पवित्र नामों को पृष्ठ के ऊपर न लिखा जाय तब तक कोई भी दस्तावेज़ या सन्देश लिखने की मनाही थी। अन्य धार्मिक सम्प्रदायों में भी ऐसी ही प्रथा प्रचलित थी। विद्या और लेखन तथा कथन की पवित्रता के अलग-अलग स्तर भी थे जो जाति-व्यवस्था की धार्मिक पवित्रता के समान थे। केवल ब्राह्मण को वेद-पाठ और केवल द्विजों को ही उनके श्रवण का अधिकार था। संस्कृत का ज्ञान केवल कुलीनों और निम्न जातियों में ज्योतिषियों तक सीमित था। अस्पृश्य लोगों के लिए लेखन-कला सीखने की मनाही थी। ऊँची जातियों की गोपनीय लिखित प्रार्थनाओं या तंत्र-मंत्र-यंत्रादि को निम्नतर जातियों द्वारा विशेष शक्ति-सम्पन्न या खतरे से पूर्ण माना जाता था।

धार्मिक दृष्टि से अशुद्ध समयावधि में, जैसे किसी कुटुम्बी के जन्म या मृत्यु के बाद, लेखन का निषेध था। ऐसा क्यों होता था, वह तो मुझे नहीं स्पष्ट किया गया, लेखन अन्य ऐसे निषेधों से तुलना करने पर कारण का संकेत मिलता है। आम तौर पर जन्म या मृत्यु के बाद की अशुद्धता से सम्बद्ध निषेधों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। प्रथम श्रेणी में उपवास, ब्रह्मचर्य आदि आते हैं जिनके द्वारा दैवी विपत्तियों से रक्षा के लिए शक्ति प्राप्त की जाती थी। दूसरी श्रेणी में वे निषेध आते हैं जिनका उद्देश्य यह था कि कोई व्यक्ति अपनी अशुद्धता की स्थिति में अन्य लोगों, वस्तुओं या स्थानों को स्पर्श द्वारा अशुद्ध न कर दे क्योंकि तब वह दैवी प्रकोप का शिकार हो जाएगा। उदाहरण के लिए ऐसे व्यक्ति के मन्दिर में या स्नान-सरोवर में प्रवेश की मनाही होती थी। इस द्वितीय श्रेणी में लेखन का निषेध भी आता है।

आधुनिक केरल में साक्षरता

आधुनिक केरल में साक्षरता के प्रभाव के बारे में पूरी तरह विवरण देना तो यहाँ सम्भव नहीं है लेकिन मैं वर्तमान परिवर्तन की कुछ दिशाओं का संकेत करने का प्रयत्न करूँगी।

ए० एस० मेनन ने कहा है कि ब्रिटिश शासन-काल के आरम्भ में निरक्षरता में चिन्ताजनक वृद्धि हुई। यह प्रायः बिल्कुल सत्य है। १८वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में लड़ाइयों के कारण स्कूल और कालेजों में पढ़ाई ठप हो गयी और ब्रिटिश शासकों ने आधुनिक शिक्षा के लिए अंग्रेजी को माध्यम बनाया जिसके कारण लोगों की रुचि संस्कृत पढ़ने में नहीं रही और गाँव के उन स्कूलों के प्रति उत्साह समाप्त होने लगा जिनमें देशी भाषाओं के माध्यम से पढ़ाई होती थी। ब्रिटिश मलाबार में और कोच्चिन तथा ट्रावन्कोर के देशी राज्यों में नियमित पढ़ाई की व्यवस्था १९वीं शताब्दी के अन्त में ही फिर से मज़बूती के साथ शुरू हुई। १८६० ई० के आसपास देशी भाषाओं में शिक्षा देने वाले सरकारी सहायता प्राप्त प्राइमरी स्कूल अधिकांश ग्रामसमूह में लड़कों और लड़कियों के लिए भी खोले गए। जिन प्राइवेट हाई स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी, उन्हें भी सरकार से सहायता मिलने लगी।

लेकिन १९११ तक कोच्चिन राज्य केरल के शेष भागों की तुलना में शिक्षा के क्षेत्र में सबसे आगे था : वहाँ २० प्रतिशत पुरुष और ४ प्रतिशत स्त्रियाँ साक्षर थीं। परन्तु यह संख्या वास्तविक साक्षरों की संख्या से कम है क्योंकि साक्षर उन लोगों को माना गया जो किसी सरकारी सहायता-प्राप्त प्राथमिक स्कूल से चौथा दर्जा पास थे। क्योंकि अधिकांश वयोवृद्ध लोगों ने किसी आधुनिक स्कूल में पढ़ाई नहीं की थी और गाँव के अधिकांश लड़कों तथा लड़कियों ने तीसरे दर्जे के बाद पढ़ाई छोड़ दी थी, इसलिए उन लोगों की संख्या सरकारी अनुमान से कहीं अधिक रही होगी जो सामान्य पढ़ना-लिखना जानते थे। इसके अतिरिक्त कोच्चिन में १९११ में १५ से २० वर्ष तक की आयु के ३१.८ प्रतिशत पुरुष और ९.७ प्रतिशत स्त्रियाँ, सरकारी सूचनाओं के अनुसार साक्षर थीं। १९३१ के बाद जनसंख्या

सम्बन्धी जानकारी एकत्र करने वालों से कहा गया कि वे साक्षरता के लिए चौथे दर्जे वाली शर्त की बजाय वास्तविक रूप में साक्षर लोगों की संख्या मालूम करें। १९४१ में इस परिवर्तन के कारण तथा अन्य कारणों से १५ से २० वर्ष की आयु-सीमा के ७९.३ प्रतिशत पुरुषों और ५७.६ प्रतिशत स्त्रियों को कोच्चिन में साक्षर पाया गया।

स्वाधीनता के चार वर्ष बाद १९५१ में कोच्चिन की कुल आबादी में से ४३ प्रतिशत से भी अधिक लोगों को साक्षर पाया गया। स्वतंत्रता के बाद जो प्रगति हुई उसके कारण दक्षिण कोच्चिन में १९६१ में साक्षरता की दर ५०.५ प्रतिशत पाई गई। इसमें ५७.७ प्रतिशत पुरुष थे और ४३.३ प्रतिशत स्त्रियाँ। १९६१ में पूरे केरल में साक्षरता की दर ४६.९ प्रतिशत थी जबकि पूरे भारत में वह केवल २४ प्रतिशत थी। उसी वर्ष कोच्चिन के दक्षिणी भाग में चार वर्ष से अधिक आयु के लोगों में प्रभावी साक्षरता की दर ५९.९ प्रतिशत थी। पूरे केरल के लिए यह दर कुछ कम थी। पिछले समय की भाँति अछूतों और मुसलमानों में सबसे कम साक्षरता पाई जाती है और सीरियाई किसानों तथा कुलीन हिन्दुओं में सबसे अधिक। जब कि १९४९ में बहुत कम अछूत पढ़-लिख सकते थे, १९६४ में मैंने दुबारा केरल जाने पर देखा कि ८ से १० वर्ष तक की आयु के बहुत से अछूत बच्चे साक्षर हैं। अब वहाँ बारह वर्ष की आयु तक के लगभग सभी जातियों के बच्चे गाँव के स्कूल में पूरे समय या आधे समय के लिए पढ़ने जाते हैं।

आधुनिक केरल में साक्षरता के प्रभाव पर विचार करते समय हमें यह भी देखना होगा कि सांस्कृतिक और सामाजिक विकास में उसका क्या योगदान है। एक बात तो यह हुई है कि १९३० तक हाई स्कूलों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रही और कालेजों में वह अब भी है। इसका परिणाम यह हुआ कि आंग्ल कला-रूपों, आधुनिक विज्ञान और सामान्य पाश्चात्य ज्ञान का प्रसार हुआ है। यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि केरल में यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में सरकारी स्कूल-कालेज स्थापित किए गए, फिर भी वहाँ के अधिकांश हाई स्कूलों और कालेजों का वित्तीय तथा अन्य प्रबन्ध ईसाई गिरजा-

घरों, जातीय तथा साम्प्रदायिक संस्थाओं अथवा निजी व्यक्तियों के हाथ में है।

साक्षरता से सम्बद्ध एक बुनियादी तकनीकी परिवर्तन निस्संदेह छापाखानों की बड़े पैमाने पर स्थापना था। इसका महत्व १८८० के आसपास तब अनुभव किया गया जब दैनिक और साप्ताहिक पत्रों का प्रचलन आरम्भ हुआ। स्वाधीनता-प्राप्ति के वर्ष १९४७ में प्राय: प्रत्येक गाँव में अपना ही वाचनालय, समाचार-पत्र, उपन्यास और पवित्र ग्रन्थों तथा मलयालम साहित्य की प्रतियाँ होती थीं। उस समय तक कुलीन हिन्दुओं और ईसाइयों ने यह प्रयत्न किया कि वाचनालयों के संरक्षण और प्रयोग पर उनका एकाधिकार रहे और वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक संख्या में पुस्तकों के स्वामी बनें। इस बीच अपने आधुनिक जातीय सम्बन्धों के सहारे इज़ावा और मुसलमान भी योजना-बद्ध रूप से शिक्षा का विकास कर रहे थे। १९६४ में जब मैं केरल लौटी तो मुझे ऐसा लगा कि सम्पूर्ण केरल अख़बारों, उपन्यासों, राजनैतिक पुस्तिकाओं, विज्ञापनों, दीवारों पर लिखे नारों, दुकानों के बोर्डों, पोस्टरों, चिट्ठियों, मुद्रित निमन्त्रण-पत्रों और घोषणाओं आदि से पटा पड़ा है। एक उल्लेखनीय परिवर्तन यह देखा गया कि स्वाधीनता के बाद निम्नतम जातियों और सम्पत्ति-विहीन वर्गों में लेखन के उक्त रूपों के प्रति बहुत गहरी दिलचस्पी पैदा हो गयी है। उदाहरणार्थ अछूतों में बहुत कम लोग थे, जिन्हें उन अनेक पत्र-पत्रिकाओं में रुचि न रहती हो जो बसों द्वारा दूर-दराज़ के चायघरों तक पहुँचाये जाते थे। वे न केवल इन्हें पढ़ते थे, बल्कि मित्रमण्डली में उनमें दिए गए समाचारों आदि की आलोचना-प्रत्यालोचना भी करते थे। आज केरल में समाज पर साक्षरता से अधिक उस प्रचुर लिखित और मुद्रित सामग्री का प्रभाव है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में, विश्व भर की सूचनाएं और जानकारी नागरिकों तक पहुँचती रहती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा प्रेरित वृत्त-चित्रों और सामुदायिक रेडियो सैटों तथा बड़े-बड़े राजनैतिक दलों द्वारा आयोजित विशाल सार्वजनिक सभाओं के कारण सूचनाओं का सम्प्रेषण और भी बढ़ा है।

बड़ी मात्रा में मुद्रण की व्यवस्था से सामाजिक ढाँचे में ऐसे अनेक परिवर्तन हुए हैं जो अन्यथा शायद कठिनाई से होते या सम्भव ही न होते। इस शताब्दी के आरम्भ में पत्र-पत्रिकाओं और साप्ताहिकों के कारण कुलीन हिन्दू जातियों के अन्तर्गत उच्च मध्य वर्ग में राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ। इन्ही माध्यमों के कारण नये मध्यवर्गीय व्यक्तियों ने ऐसे संगठनों की स्थापना की जिनमें सभी जातियों और मूल के लोग सम्मिलित थे। इन संगठनों के उद्देश्यों में भूतपूर्व राज्यों और उप-जातियों के बीच धार्मिक और जातीय बन्धनों को दृढ़ करना, शिक्षा और 'समाजोद्धार' को प्रोत्साहन देना और सरकारी नौकरियों, स्कूलों और पदों के लिए होड़ में सफल होना था। इन संगठनों में मलाबार में मुस्लिम लीग और सम्पूर्ण केरल प्रदेश में 'इजावा श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्', 'नायर सर्विस सोसाइटी' और 'नम्बूतिरी योग-क्षेमम्' सबसे प्रमुख थे। कैथोलिक गिरजाघर इसी प्रकार का कार्य ईसाइयों के बीच करता रहा है। नये मध्यवर्ग के बीच जातियों को एकजूट करने वाली अन्य संस्थाएं भी स्थापित हुईं। इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना के साथ-साथ ऐसे विज्ञापन भी 'आधुनिक' परिवारों द्वारा अखबारों में दिए जाने लगे जैसे, "आवश्यकता है, हमारे लड़के-लड़कियों के लिए वर-वधू की, जो केरल के किसी भी भाग के निवासी हो सकते हैं।" इस प्रकार परम्परागत विवाह-प्रणालो और स्थानीय बिचवैयों का समय चुकने लग गया था।

उधर एकीकृत आनुवंशिक संगठनों को वृद्धि और मुद्रण तथा साक्षरता के अधिकाधिक प्रसार के कारण 'महान परम्पराओं' की अवनति होने लगी और विभिन्न आधुनिक तथा पाश्चात्य मूल्यों की प्रतिष्ठा आरम्भ हो गई। इस प्रकार सभी हिन्दू संगठनों ने स्थानीय अथवा निम्नजातियों के रीति-रिवाज़ों के मुकाबले संस्कृत परम्परा वाली रीति-नीतियों को बढ़ावा देना शुरू किया जबकि ईसाई और मुस्लिम संगठनों ने अपने धर्मों के आधुनिक तथा विश्वजनीन रूपों का प्रचार-प्रसार किया। सभी साम्प्रदायिक संगठनों ने ऐसी पुस्तिकाएं भी प्रकाशित कीं जिनमें कमखर्ची, बचत, परिश्रम तथा निजी उद्यम जैसे पूँजीवादी गुणों पर जोर दिया गया

था। इन सभी संगठनों के नेताओं की दृष्टि में आधुनिक संगठनों के आधुनिक रूपों तथा सांस्कृतिक परिवर्तन की चेतना कितनी अधिक थी, यह इस तथ्य से सिद्ध हो जाता है कि सभी साम्प्रदायिक संगठनों ने, आधुनिक राजनीतिक दलों की तरह, अपने-अपने छापाखाने खोले और समाचार-पत्र चलाए।

साक्षरता प्रसार और विशेषत: अंग्रेजी की पढ़ाई सभी वर्गों के लिए सुलभ हो जाने के कारण १९२० और १९३० से आरम्भ होने वाले दशकों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अलावा अन्य अनेक वर्ग-आधारित राजनैतिक दलों का उदय हुआ। इनमें से प्रमुख थे : कम्युनिस्ट पार्टी और विभिन्न स्वतन्त्र समाजवादी दल। प्रत्येक दल का नेतृत्व उनके साक्षर संगठनकर्ताओं के समूह कर रहे थे जिन्होंने पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित समाजवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन और प्रचार-प्रसार किया। इस प्रकार आधुनिक माध्यम के रूप में आधुनिक छापेखानों के प्रसार के साथ-साथ सार्वजनिक प्रचार-प्रसार और सार्वजनीन समाज की सम्पूर्ण धारणा ने भी जन्म लिया। केरल में जो परिस्थितियाँ थीं—जैसे निर्यात-योग्य फसल की खेती का तीव्र विकास, तेज़ी से बढ़ती हुई जनसंख्या, गरीब और अमीर के बीच चौड़ी खाई तथा कामगरों की संख्या में वृद्धि,—उसके कारण यह स्वाभाविक था कि वहाँ वर्ग-संघर्ष पनपता और अंतत: वर्गहीन समाज की मार्क्सवादी विचारधारा फैलती। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक मुद्रण के तेज़ी से और व्यापक विकास तथा निम्नतर जातियों में साक्षरता के प्रसार के कारण राजनीतिक 'तोड़-फोड़' तथा प्रतिनिधित्वपूर्ण लोकतन्त्र की धारणाएं पनपतीं, हालांकि एकमात्र इसी कारण से ऐसा नहीं हुआ।

निम्न जातियों और वर्गों में साक्षरता का प्रसार समान रूप से नहीं हुआ। इस स्थिति का लाभ केरल के क्रान्तिकारी दलों ने उठाया जिनमें कम्युनिस्ट पार्टी और क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी जैसे छोटे-छोटे दल प्रमुख थे। कांग्रेस पार्टी की सदस्यता के लिए साक्षरता ज़रूरी शर्त नहीं है, जबकि केरल में कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य वही बन सकता है, जो साक्षर भी हो। यह उल्लेखनीय

है कि कांग्रेस पार्टी का विश्वास क्रमिक परिवर्तन में और वैध सत्ता में है और उसके नेताओं में उच्च वर्ग के साधन-सम्पन्न लोग हैं। इसलिए उस पार्टी की सदस्यता के लिए साक्षरता को एक शर्त मानने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकांश अनुयायी सर्वहारा वर्ग के हैं और कुछ समय पहले तक वे असाक्षर होते थे। उस दल का अन्तिम लक्ष्य निजी सम्पत्ति और उच्च मध्य वर्ग को समाप्त करना है। उसका कार्यक्रम, कम से कम सिद्धान्त रूप में, क्रान्तिकारी है और इसीलिए उसकी कछ कार्रवाइयाँ गुप्त रूप से होती हैं। इसीलिए इस दल के कुछ चुने हुए साक्षर व्यक्तियों को क्रान्ति के सिद्धान्तों का अध्ययन करने और गुप्त-कार्य का संचालन करने का प्रशिक्षण दिया गया जिससे वे उन लोगों का नेतृत्व कर सकें जो सर्वहारा वर्ग के थे और अधिकांशतः असाक्षर मजदूर थे, तथा उनको मजदूर संघों और किसान समाजों के अन्तर्गत संगठित कर सकें। लेकिन पिछले कुछ वर्षों में यह देखा गया है कि निम्न जातियों और सम्पत्ति विहीन वर्गों में साक्षरता का प्रसार होने के कारण शिक्षित नेताओं और सामान्य सदस्यों के बीच सम्बन्ध में तनाव आता जा रहा है। उदाहरण के लिए ग्राम-सभाओं और राज्य सरकार के निर्वाचित पदों के लिए कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से खड़े किए गए ऐसे बहुत से उम्मीदवार विजयी होते रहे हैं जिनको पार्टी के सिद्धान्तों में पूरी तरह विश्वास नहीं हैं। १९६४ में कम्युनिस्ट पार्टी का दक्षिण और वामपंथी दलों में विभाजन हो गया। इससे भी सिद्ध होता है कि प्रायः नीची जाति के ऐसे नव-साक्षर व्यक्ति सामने आये जो कम्युनिस्टों का समर्थन तो करते हैं, लेकिन पार्टी के सदस्य नहीं हैं। दोनों दलों में से प्रत्येक यही प्रयत्न करता है कि सबसे निचली श्रेणी के लोगों को वह अपना समर्थक बनाए और ऐसे ग्राम-नेता खड़े करे जो जनता में दल के सिद्धान्तों का प्रचार करें। इसलिए अगर केरल में राजनैतिक चेतना का वर्तमान स्तर बना रहा तो साक्षरता के और अधिक प्रसार से प्रमुख राजनैतिक दलों का प्रभाव कम होगा और ऐसे जन-आन्दोलन पनपेंगे जो बहुत सुगठित भले ही न हों, लेकिन जिनमें अधिक से अधिक लोग भाग ले सकें। ये आन्दोलन क्रान्ति का रूप ले सकेंगे

या नहीं, यह बात साक्षरता पर निर्भर नहीं करती, बल्कि इस पर निर्भर करती है कि केरल में सामाजिक असंतोष कितना है और वर्ग-संघर्ष का परिणाम क्या होता है।

अन्त में यह भी ध्यान देने योग्य है कि गूडी और वाट ने व्यापक साक्षरता वाले समाजों की जो विशेषताएं गिनाई हैं, उनमें से अधिकांश केरल के उस युग में पायी जाती हैं जिसमें बड़े पैमाने पर मुद्रण और आधुनिक साक्षरता का प्रसार हुआ। इनके अन्तर्गत परम्परागत तथा अन्य ऐसी विशेषताओं के अलावा, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, पुराण और इतिहास के बीच अन्तर, लौकिक और पारलौकिक दृष्टिकोणों की पृथकता और राजनैतिक आदर्श के रूप में धर्म-निरपेक्ष समाज का विकास भी शामिल है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का उसी प्रकार से विभाजन भी हुआ है जैसा पश्चिम में है। यथार्थ के प्रति रेखायित दृष्टिकोण का विकास भी नए क्षेत्रों में हुआ है, जैसे ठीक-ठीक समय रखने में और गहरी दिलचस्पी तथा ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण आदि।

आधुनिक शिक्षा के कारण सन्देहवाद और वैज्ञानिक जिज्ञासा में वृद्धि हुई है। व्यक्तिवाद भी बहुत बढ़ा है और कम से कम उच्च-शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों को ऐकान्तिकता की आवश्यकता महसूस हुई है जैसा कि आधुनिक उपन्यासों, चल-चित्रों और चरित्र-नाटकों में तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति, मित्रताओं, रोमानी प्रसंगों और व्यक्तिगत रुचि के अनुसार विवाहों आदि के मामले में देखा जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मुद्रण और आधुनिक साक्षरता का व्यापक प्रसार, उपर्युक्त गतिविधियों की वृद्धि के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में जिम्मेवार रहे हैं। लेकिन इस दायित्व को अन्य प्रभावों से अलग करके देखना मुश्किल है। इसका एक कारण तो यह है कि हमारे पास पारम्परिक साक्षरता दर के बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं है; और दूसरा कारण यह है कि ये सब आधुनिक विकास मुद्रण के प्रसार के साथ-साथ ऐसे समय में हुए जब केरल में ब्रिटिश शासन स्थापित हो रहा था, आधुनिक स्वचालित परिवहन और उद्योग व्यवस्था प्रवेश कर रही थी, पूँजी-वादी आर्थिक सम्बन्ध

विकसित हो रहे थे और सम्पूर्ण विश्व के साथ दूर-संचार सम्पर्क स्थापित हो रहा था। साक्षरता का औद्योगिक क्रान्ति से पहले के समाजों पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके बारे में किए जाने वाले अधिक गहरे अध्ययनों से शायद यह मालूम हो सकेगा कि अन्य कारणों तथा साक्षरता के बीच क्या सम्बन्ध है।

पश्चिमी सूडान में इस्लामी ज्ञान का सम्प्रेषण

अगले चार अध्यायों में उन लोगों के बारे में लिखा गया है जो इस्लाम से प्रभावित हुए हैं और जिनकी लिखी किताबें उस धर्म के प्रसार के साथ-साथ प्रचलित रही हैं। प्रोफेसर विल्क्स ने पश्चिमी सूडान के विषय में लिखा है, लेकिन उन्होंने किसी विशिष्ट 'संस्कृति' या 'समाज' के बारे में, जैसा कि वह आम तौर पर जाना जाता है, विचार न करके द्यूला लोगों के विशिष्ट व्यापारिक समूहों पर अधिक प्रकाश डाला है। पश्चिमी सूडान के बड़े भागों में इन समूहों के अन्तर्गत मुस्लिम विद्या का प्रमुख रूप से प्रचार-प्रसार हुआ। द्यूला लोग अनेक अन्य जातियों के बीच बसे, लेकिन उन्होंने अपने मूल कबीलों और स्थानों से सम्पर्क बनाए रखा। विल्क्स ने विचार किया है कि किस प्रकार पीढ़ी-दर पीढ़ी इस्लामी ज्ञान का सम्प्रेषण होता रहा है तथा व्यापार और विद्या का क्या सम्बन्ध रहा है (एक ही परिवार में प्रायः एक व्यक्ति विद्वान होता था तो दूसरा व्यापारी।) उसने एक ऐसी सार्वभौम लिखित संहिता का ज़िक्र किया है जो जातिगत या भाषायी सीमाओं को लांघ कर दूरवर्ती प्रचुर व्यापार के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न करती थी।

पश्चिमी सूडान में इस्लामी ज्ञान का सम्प्रेषण

आइवर विल्क्स

१- द्यूला बस्तियाँ

इस निबन्ध का संबन्ध पश्चिमी सूडान के कुछ भागों से है जो इस समय माली, गिनी, अपर वोल्टा, आइवरी कोस्ट और घना गणराज्यों की सीमाओं में है। इस प्रदेश के ज्ञान सम्बन्धी जो विवरण मैं प्रस्तुत करूँगा वह मुस्लिम पश्चिमी अफ़्रीका के अन्य भागों के लिए समान रूप से लागू नहीं होता। मुख्य रूप से मध्य सूडान के हस्नाबार और बोर्नू प्रदेशों में स्थिति उससे भिन्न है जिसका वर्णन मैं यहाँ करूँगा। पश्चिमी अफ्रीका के मुसलमानों को स्वयं इस बात का तीखा अहसास है कि पश्चिमी और मध्य सूडान की परम्पराओं में अन्तर है। ये परंपराएँ मोटे तौर पर टिम्बकटू और अकरा के बीच की रेखा पर मिलती हैं और कुछ हद तक एक दूसरे को प्रभावित करती हैं। मैं विशेष रूप से इस्लामी विज्ञानों के विभिन्न नगर-समूहों में प्रसार की चर्चा करूँगा। इन नगरों में आइवरी कोस्ट के कोंग, बूना और बोंदूकू, अपर वोल्टा के बोबो द्यूलासो और सफ़ाने तथा घाना के वा और बांदा नगर आते हैं क्योकि इनमें महत्वपूर्ण और प्रभावी संख्या रहती है। 'द्यूला' मालिन्के भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'व्यापारी'। जो लोग अपने आप को द्यूला कहते हैं वे सम्भवतः मालिन्के और सोलिन्के मूल के हैं। प्रायः ५०० वर्ष या उससे भी अधिक समय से इन नगरों में द्यूला लोगों का आकर बसना जारी रहा है। वे अनेक भागों से हो कर आते रहे हैं। लेकिन मुख्यतः दो प्रमुख मार्ग रहें हैं : एक तो पूर्व में ऊपरी नाइजर के कांगाबा क्षेत्र से; और दूसरे, दक्षिण

में मध्य नाइजर में जेने के आस-पास से। आरम्भ में द्यूलाओं का संबन्ध प्रमुख रूप से सोने के व्यापार से था और उनका व्यापार क्षेत्र पश्चिमी सूडान के उन स्थानों से ले कर, जो विशाल सहारा मरुस्थल के प्रवेश द्वार थे, ब्लैक वोल्टा के खान उद्योग वाले प्रदेशों और उसके दक्षिण के वन प्रदेशों तक फैला था। बाद में उन्होंने और भी विविध वस्तुओं का व्यापार शुरू किया और आज वे अकरा और आबिजन, कुमासी और बुआके जैसे आधुनिक नगरों में बाल-प्वाइंट कलम से लेकर दस टन की मोटर लारियों तक का कारोबार करते हैं। द्यूला अक्सर अपने आप को वांगारा भी कहते हैं; अन्य लोग भी उन्हें इस नाम से पुकारते हैं। यह प्राचीन नाम है। तारीख-अल्-फत्ताश के लेखक ने सोलहवीं शताब्दी में लिखा था कि वांगारा विशेषण उन लोगों की ओर संकेत करता है जो व्यापारी हैं और एक देश से दूसरे देश में व्यापार करते रहते हैं। आजकल अनेक द्यूला समुदायों ने खेती का पेशा अपना लिया है; लेकिन अधिकांशतः वे व्यापार-वाणिज्य में रुचि रखते हैं और कम से कम सूखे मौसम में कारोबार जारी रखते हैं। अधिकांश द्यूला अब भी मालिन्के की बोलियों में से किसी एक को बोलते हैं। वे अब भी अभिवादन के मालिन्के और सोलिन्के रूपों का प्रयोग करते हैं, यथा तारावीरी, सिस्से, कोनाते, कामाघाते, जाबाघाते आदि। कुल मिला कर द्यूला मुस्लिम धर्मानुयायी हैं जैसे कि वे अपने प्रवास से पूर्व थे। लेकिन द्यूला मूल के ऐसे समुदाय भी हैं जिन्होंने व्यापार त्याग दिया है, धर्मपरिवर्तन कर लिया है और मालिन्के भाषा बोलना बन्द कर दिया है। उन्हें अब यथार्थतः द्यूला नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रदेश में द्यूला रहते हैं वहाँ नगरों और देहातों के बीच खींचा-तानी पाई जाती है। द्यूलाओं के किसी नगर से सम्बद्ध कई द्यूला गाँव मिलेंगे जो एक प्रकार से शहरों का बाहरी विस्तार हैं और द्यूलाओं के व्यापारिक केन्द्रों को एक दूसरे से जोड़ते हैं। लेकिन सामान्यतः देहातों में ऐसे कबीलों के समूह मिलेंगे, जिनका द्यूलाओं से कोई सांस्कृतिक संबंध नहीं है। उदाहरण के लिए आइवरी कोस्ट के बूना उप-खण्ड से लगभग ५,००० मुस्लिम, जो मुख्यतः द्यूला हैं, कोई ४०,००० गैर मुस्लिमों के बीच रहते हैं जो मुख्यतः कुलांगो

और बिरिफ़ार बहुदेवतावादी हैं। घाना के वा स्थानिक स्वशासन क्षेत्र में कुल १,३०,००० की आबादी में से केवल लगभग २०,००० मुस्लिम हैं जिनमें से आधे से अधिक द्यूला नहीं हैं। इसका मतलब यह हुआ कि कुछ संख्या में गैर-द्यूलाओं का धर्म-परिवर्तन हुआ लेकिन इतना नहीं कि शहरों और देहातों के मुस्लिमों और गैर-मुस्लिमों के बीच अन्तर्सम्बन्ध भंग होता। लेकिन कुछ क्षेत्रों में १९वीं शताब्दी में मुस्लिमों के उग्र आन्दोलनों के परिणामस्वरूप देहाती क्षेत्र में काफी बड़ी संख्या में धर्म-परिवर्तन हुआ और उसी अनुपात में देहातों और शहरों के विरोध में कमी आ गई। उदाहरणार्थ, आइवरी कोस्ट के फरकेसेदूगू उप-खण्ड में, जो कोंग का भाग है, मुस्लिमों और गैर-मुस्लिमों का अनुपात २ : ३ है। परन्तु सामान्यतः अब भी द्यूला लोग छोटे-शहरी और अर्ध-शहरी समुदायों में रहते हैं, जिनके बीच में अधिसंख्यक गैर-द्यूलाओं की बस्तियाँ हैं जो मुख्यतः गैर-मुस्लिम हैं। कम से कम १९वीं शताब्दी तक तो यही स्थिति थी।

शताब्दियों तक द्यूला व्यापारी समुदायों की ओर कुछ ऐसे समूहों का ध्यान जाता रहा जो परम्परा से व्यापारी न हो कर सैनिक थे। वे घुड़सवारी करते थे और अश्वारोहण-युद्ध में दक्ष होते थे। ऐसे समूह प्रायः एक या एकाधिक द्यूला नगरों में और उसके आस-पास जहाँ तक लोगों को अपने अधिकार में रख सकते थे, रखकर एक प्रकार का राजनीतिक सत्ता स्थापित कर लेते थे और अपने ही ढंग से शासन का संचालन करते थे। इस प्रकार दागोम्बा, माम्प्रुस्सी और संभवतः वागादूगू के मोस्सी प्रदेश से आ कर इन समूहों ने मध्य ब्लैक वोल्टा नदी प्रदेश में १७वीं शताब्दी में और १८वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में स्थानीय द्यूलाओं के सहयोग से कई बस्तियों की नींव डाली और दो मामलों से उन्होंने अपने अधीनस्थ छोटे-छोटे प्रदेशों को स्वावलम्बी राज्यों में परिवर्तित किया। इनमें से एक तो नदी के पूर्व में वा था और दूसरा पश्चिम में बूना था। प्रायः उसी काल में कोंगो और बोबो-द्यूलास्सो जैसे नगरों के द्यूलाओं तथा मध्य नाइजर (मालिन्के और बाम्बारा) के अन्य समूहों के सहयोग से कोमोए और ब्लैक वोल्टा नदियों के प्रदेश में वतारा राज्यों की

नींव डाली गई। वा अथवा बूना में या कोंगो और द्‌यूलास्सो में जो विविध शासन-व्यवस्थाएँ स्थापित हुईं उनके अन्तर्गत सत्ता मुख्य रूप से समाज के तीन भागों में बँटी हुई थी : प्रथम, घुड़सवार सैन्य दल में, जो भीतरी तथा बाहरी सुरक्षा के लिए जिम्मेवार था; दूसरे, द्‌यूलाओं में जो व्यापारिक काम सम्भाले हुए थे और तीसरे, स्थानीय मूल के कबीलों के समूह में जो भूमि के पारम्परिक स्वामी माने जाते थे। और आगे दक्षिण के अन्य द्‌यूला समुदाय, विशेषत: बोंदूकू और बांदा समुदाय, जो प्राचीन दाक्षिणात्य बेघू केन्द्र की उपज थे, नवोदित अकन राज्य के दायरे में आते थे। लेकिन उनकी स्थानीय स्वायत्तता इस हद तक बनी रही कि द्‌यूलाओं के रूप में उनका पृथक् अस्तित्व सुरक्षित रह सका। द्‌यूला नगर समान वाणिज्यिक हितों द्वारा परस्पर सम्बद्ध होते हैं। इस्लाम धर्म, जातीयता तथा शादी-व्याह के सम्बन्ध भी उनकी एकता को प्रबल बनाते हैं। सामाजिक तथा व्यावसायिक क्षेत्र में परस्पर-निर्भरता के कारण उनमें कोई संघर्ष नहीं उत्पन्न हो पाता। लेकिन उपर्युक्त विवरण से यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न द्‌यूला नगरों को बाँधने वाला कोई राजनीतिक ढाँचा नहीं था यद्यपि १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो में, जबकि अलमामे समोरी तूरे ने सम्पूर्ण प्रदेश पर अपने प्रभुत्व का विस्तार किया, यह आशा बँध गई थी कि शायद इस्लाम के आधार पर उन में राजनीतिक एकता स्थापित हो जाएगी। अगर फ्रांसीसियों ने योजनाबद्ध रूप में समोरी के साम्राज्य को ख़त्म न कर दिया होता तो समोरी का पश्चिमी सूडान के द्‌यूलाओं के लिए वही स्थान होता जो उसी शताब्दी के आरम्भ में मध्य सूडान में हौजा लोगों के लिए उथमान डान फ़ोडिया का था।

समय के साथ-साथ प्रत्येक द्‌यूला समुदाय ने स्थानीय विशेषताएँ ग्रहण कर ली हैं। यह एक ओर तो आसपास के देहाती क्षेत्रों के लोगों से सीमित सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने का परिणाम रहा है (और अनिवार्यत: द्‌यूला लोगों को इन लोगों में शादी व्याह करना पड़ा है) और दूसरी ओर प्रतिष्ठित स्थानीय कबाइली सरदारों से सम्पर्क का परिणाम रहा है। इनमें प्रमुख कबीलों के नाम हैं कोंग का वटारा कबीला, वा का दागोम्बा कबीला और बोन्दूकू का ऐब्रान

कबीला। द्यूला लोगों की यह विशेषता प्रायः उनके द्वारा प्रयुक्त डगारी-द्यूला और बोबो-द्यूला शब्दों से व्यंजित होती है जो इस बात के सूचक हैं कि वे डगारी या बोबो लोगों के बीच में रहते थे। द्यूला समुदाय कितना प्राचीन था और उसने किस हद तक स्थानीय सांस्कृतिक रंगपटल के अनुरूप अपने को बनाया इन दोनों बातों में बुनियादी सम्बन्ध है।। अपवाद स्वरूप घाना के पश्चिमोत्तर भाग में स्थित जिरापा के टगारा (अथवा तारावीरी) लोग हैं जो यद्यपि वहाँ के लगभग १६वीं शताब्दी में आ बसने वाले द्यूलाओं के वंशज हैं लेकिन जिनके अन्दर इसके सिवा द्यूलाओं की और कोई विशेषता नहीं पाई जाती कि वे द्यूलाओं के अभिवादन-सूचक नामों का प्रयोग करते हैं। लेकिन जहाँ उनमें एक ओर स्थानीय विशेषताओं को अपनाने और स्थानीय लोगों के साथ घुलमिल जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है वहीं द्यूला संस्कृति के उन पक्षों को नया रूप देने की प्रवृत्ति भी मिलती है जिनका सम्बन्ध मुस्लिम धर्म से है और जिनके लिए अरबी के शब्द 'तजदीद' का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रक्रिया को वर्तमान निबन्ध में केन्द्रीय विषय बनाया गया है क्योंकि तजदीद के लिए आवश्यक शर्त प्रथम तो यह है कि समाज में साक्षरता का एक बुनियादी स्तर हो और दूसरी यह है कि पढ़े-लिखे लोगों अर्थात् उलेमाओं का विशेष वर्ग हो जो व्यापकतर मुस्लिम समुदाय से सम्पर्क बनाए रख सके और इस्लामी ज्ञान-विज्ञान के बुनियादी सिद्धान्तों के अध्ययन और निरूपण द्वारा स्थानीय आचरण और इस्लामी धर्म द्वारा अनुमोदित आचरण में तालमेल स्थापित करता रहे। जिरापा के टगारा जैसे समुदायों के अस्तित्व से सिद्ध होता है कि तजदीद का कार्यक्रम प्रायः सफल नहीं होता था जिसका कारण या तो लिखित पुस्तकों का अभाव होता था या ऐसे उलेमाओं की कमी, जो इस प्रकार की पुस्तकों की व्याख्या कर सकें।

२. द्यूला नगरों में शिक्षा

द्यूला लोग अपने कई पुत्रों और कुछ पुत्रियों को स्कूलों में, यदि वे उपलब्ध हों तो, भेजते हैं और द्यूला परिवार अपने बच्चों के

पूर्णकालिक श्रम का लाभ उठाए बिना अपने आर्थिक स्वावलम्बन को बनाए रख सकता है। लगभग ६ से १४ वर्ष की आयु तक के द्यूला बालक-बालिकाओं को कुरान के पाठ और उसकी नकल उतारने पर आधारित अरबी का साधारण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। गैर-मुस्लिम लेखकों ने इस प्रकार की शिक्षा को शैक्षिक मूल्य की दृष्टि से नगण्य बताया है लेकिन मैंने अपने अनुभव से देखा है कि इस प्रकार के निर्णय पक्षधरतापूर्ण होते हैं और कम से कम अनावश्यक रूप से कठोर तो होते ही हैं। अगर कोई विद्यार्थी प्रतिभाशाली है और उसे अच्छी तरह पढ़ाया गया है तो वह अरबी भाषा पर तेज़ी से अधिकार कर लेता है और १२-१३ साल की आयु में ही व्याकरण और वाक्य रचना का अध्ययन करने लगता है तथा इब्न अबी ज़ैद अल् कैरवानी लिखित रिसाला जैसी मालिकी नियमों की पुस्तकों को पढ़ने लगता है। यह ठीक है कि कुछ ही संख्या में बालक इतनी उन्नति कर पाते हैं लेकिन यह भी सही है कि बहुत से बालक स्कूल छोड़ने पर अरबी लिखने-पढ़ने योग्य हो जाते हैं भले ही उनका ज्ञान पूर्ण न हो। दुर्भाग्य से इस बात के समुचित आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं कि द्यूला लोगों में साक्षरता किस हद तक थी। लेकिन जो भी थोड़े से आंकड़े मिलते हैं उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्कूली शिक्षा द्यूला समाज की महत्वपूर्ण विशेषता है। इस प्रकार १९२० के आसपास बोन्दूकू बगर की मुस्लिम आबादी २०७८ थी और उसके लिए कुरान की शिक्षा पर आधारित ८ प्राथमिक स्कूल थे जिनमें विद्यार्थियों की संख्या २०० थी। इनमें अधिकांश बालक थे। यद्यपि यह नहीं मालूम है कि बोन्दूकू में उस वर्ष इन निवासियों में कितने बालक-बालिकाएँ थीं, फिर भी कहा जा सकता है कि अधिकांश बालक पढ़ने के लिए स्कूलों में जाते थे। यही बात कोंग नगर के लिए भी कही जा सकती है। मैंने १९५९ में बोन्दूकू में मोटे तौर पर यह अनुमान लगाया था कि स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया है। उस वर्ष नगर में कुल मुस्लिम आबादी लगभग ५००० थी जिसमें से ४५० बच्चे (९० प्रतिशत लड़के) स्कूलों में जाते थे। घाना में जो जनगणना १९६० में की गई उससे प्रकट होता है कि उस वर्ष जितने 'वाला' बालकों को प्राथमिक

शिक्षा मिल रही थी उनमें से ७३५ अर्थात् ५२ प्रतिशत अरबी स्कूलो में जाते थे जबकि ११६० ऐसे 'वाला', जो २५ वर्ष या उससे अधिक के थे, पूर्ण कालिक शिक्षा प्राप्त कर चुके थे और इनमें से १०२० अर्थात् ८८ प्रतिशत लोगों ने अरबी स्कूलों में शिक्षा पाई थी। दुर्भाग्य से जनगणना के आधार पर वा-द्यूलाओं तथा अन्य ऐसे लोगों के बीच अन्तर करना सम्भव नहीं है जो अपने को वाला कहते थे, चाहे वे मुस्लिम हों या अन्य। लेकिन वा लोगो में से द्यूलाओं की दो शाखाओं लिमामीरी तथा टागाराईरी के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि पहली शाखा के लगभग सभी बालक और दूसरी शाखा के ७० प्रतिशत बालक उन स्कूलों में जाते थे जहाँ करान पर आधारित शिक्षा दी जाती थी।

यह भी ध्यान में रखना होगा कि द्यूला स्कूलों में केवल द्यूला बच्चे ही नहीं जाते। सामान्यतः गैर-द्यूला मुस्लिम परिवारों के बच्चे भी उनमें भरती किए जाते हैं और ऐसे भी उदाहरण देखने में आए हैं कि गैर-मुस्लिम परिवारों ने अपने बच्चों को भरती करने के लिए अनुरोध किया है। अतीत में द्यूला लोग इस्लाम के प्रति अपना यह कर्तव्य समझते थे कि वे अपने गुलामों के बच्चों को भी शिक्षा दें। फ्रांसीसी और ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासनों ने द्यूला स्कूलों को कोई सरकारी समर्थन नहीं दिया। लेकिन नव स्वाधीन देशों की सरकारों ने अरब देशों की राजनीति में रुचि रखने के कारण अरबी की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के प्रति रुचि दिखाई है और अपर वोल्टा के बोबो-द्यूलासो तथा घाना के वा जैसे नगरों में अरबी की शिक्षा न केवल पारम्परिक कुरान पर आधारित स्कूलों में दी जाती है बल्कि कुछ सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों में भी।

द्यूला संस्कृति साक्षर संस्कृति थी जिसके विषय में और ब्यौरे से आगे बताया जाएगा। लेकिन इस तथ्य से उस क्षेत्र की यात्रा करने वालों पर काफ़ी प्रभाव पड़ता था। १८७७ में डैविड असात्रे ने गोंजा के सलागा नगर के बारे में, जिसमें द्यूलाओं तथा मध्य-सूडान के मूल निवासियों की मिली जुली आबादी थी, लिखा है : "इस प्रमुखतः मुस्लिम नगर में बहुत सी मस्जिदें हैं और निजी तथा

सरकारी स्कूल हैं जिसके परिणामस्वरूप प्रत्येक सलागा अरबी लिख पढ़ सकता है।"

कोंग के बारे में १८८८ में अपनी यात्रा के दौरान बिंजर ने लिखा : "कोंग में शिक्षा का बहुत अच्छा विकास हुआ है। यहाँ शायद ही कोई अपढ़ व्यक्ति हो। जो अरबी वे लिखते हैं वह एक दम शुद्ध तो नहीं है लेकिन फिर भी यह देख कर आश्चर्य होता है कि वे कितना अधिक पढ़े लिखे हैं।"

उसी वर्ष बोन्दूकू की यात्रा के दौरान आस्टिन फ्रीमैन ने लिखा : "अधिकांश वयोवृद्ध सम्भ्रान्त व्यक्तियों को अरबी का ज्ञान है और उन्हें दिन के अन्त में अपने घरों की छाया में या दुकानों पर बैठ कर छोटे आकार की पाण्डुलिपियों से नमाज़ पढ़ते हुए या उस पर लिखी गई प्रार्थनाओं को एक मोटे खुरदरे कागज पर उतारते हुए देखा जा सकता है।"

इस निबन्ध में मैं उन लोगों पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित कर रहा हूँ, जो अपनी कुरान की प्राथमिक शिक्षा पूरी करने के बाद और आगे अध्ययन करते हैं और जिनमें से बहुत से लोग शिक्षक बन जाते हैं अथवा ईमाम, कादी या मुफ़्ती बनते हैं। द्यूला समाज के अन्तर्गत इनका सुस्पष्ट व्यावसायिक वर्ग होता है और इनका अरबी शब्द 'उलेमा' द्वारा संकेत किया जाता है। मालिंके भाषा में उलेमा के लिए कारामोको शब्द का प्रयोग होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है वह व्यक्ति जो पढ़ सकता है। लेकिन सभी साक्षर व्यक्तियों को कारामोको नहीं कहा जाता। इस विशेषण का उपयोग उन्हीं लोगों के लिए होता है जो एक विशेष स्तर तक का उच्च अध्ययन कर चुके होते हैं। कारामोको के रूप में स्वीकृति पाने के लिए अलग-अलग स्थानों में एक दूसरे से भिन्न स्तर की अपेक्षा होती है। उदाहरण के लिए जिन क्षेत्रों में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या अधिक नहीं होती जैसे गोंजा जैसे गरीब प्रदेश में, और जहाँ उलेमाओं को अधिक समृद्ध प्रदेशों से आकर्षित करने के लिए साधन नहीं होते, ऐसे व्यक्ति को भी कारामोको के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो साधारण रूप में ही पढ़ा लिखा हो और उसे शिक्षक बनने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है हालांकि कोंग जैसे नगर में उसे एक भी शिष्य न

मिल सका। इसके बावजूद कारामोको पद्धति के रूप में एकरूपता कुछ हद तक बनी रहती है और इस सिद्धान्त का पालन व्यवहारतः सभी द्यूला केन्द्रों में किया जाता है। इन केन्द्रों में कारामोको की उपाधि केवल उसी व्यक्ति को दी जाती है जो तीन विशिष्ट पुस्तकों का अध्ययन पूरा कर सके। इन पुस्तकों के नाम हैं :

(१) 'तफसीर अल् जलालयन', जिसके लेखक हैं—अल् महल्ली और अल् सुयूती।

(२) 'अल् शिफा फ़ी तारीफ़ हेकूक अल् मुस्तफ़ा', जिसके लेखक हैं—इयाद बिन मूसा बिन इयाद अल् सबती।

(३) 'मुअत्ता', जिसके लेखक हैं—इमाम मालिक बिन अनास।

इनमें से पहली पुस्तक में कुरान की गम्भीर व्याख्या दी गई है; दूसरी में पैगम्बर के जीवन के अध्ययन पर आधारित उचित आचरण के नियम दिए गए हैं और तीसरी पुस्तक मुस्लिम शरियत की पुस्तक है जिसमें विवाह, करार, वसीयत, दण्ड विधान आदि के नियम दिए गए हैं। बाद में चलकर मैं बताऊँगा कि जिन द्यूला उलेमाओं को समाज में व्यवस्था बनाए रखने का काम सौंपा जाता था उनके लिए इन पुस्तकों का कितना महत्व था।

प्रायः इन तीनों ही किताबों को एक ही शिक्षक द्वारा एक साथ पढ़ाया जाता है। इनको सीखने वाले लोग ३० वर्ष की उम्र से पहले शायद ही इन्हें पढ़ना शुरू करते हों। इससे कम उम्र के लोगों को इन्हें पढ़ने के लिए निरुत्साहित किया जाता है क्योंकि ऐसे ही लोगों में से उलेमाओं की भरती को तरजीह दी जाती है जिन्होंने पवित्र जीवन और सामाजिक उत्तरदायित्व की चेतना का प्रमाण दिया हो। कभी-कभी ऐसे विद्यार्थी भी मिलते हैं जिनकी उम्र ५० या ६० वर्ष की होती है। यह कहना मुश्किल है कि कितने समय में इन तीनों पुस्तकों का अध्ययन पूरा हो सकता है। मैंने एक मामले में एक व्यक्ति को ३० वर्ष तक इनका अध्ययन करते पाया है। जो लोग कई वर्षों तक किसी एक शिक्षक से इनको पढ़ते रहते हैं वे कभी-कभी प्राथमिक कुरान कक्षाओं के लिए सहायक शिक्षकों का भी काम करते रहते हैं। अगर कोई विद्यार्थी अपने शिक्षक के साथ कुछ ही महीने बिताता है तो अक्सर यह पाया जाता है कि वह किसी अन्य

कारामोको के अन्तर्गत इन पुस्तकों का अध्ययन कर चुका है तथा एक अधिक सुशिक्षित अथवा पवित्र शिक्षक से दुबारा संक्षिप्त रूप में पाठ दुहरा रहा है। परन्तु सामान्य रूप से एक शागिर्द को ५ वर्ष का समय लगाना पड़ता है और प्रति दिन ३ से ४ घंटे तथा सप्ताह में ५ दिन पढ़ना पड़ता है जिससे शागिर्द अपना शेष समय अपने काम-धन्धे को देखने में तथा रोज़ा नमाज़ और अन्य निजी अध्ययन में लगा सके।

मैं यह नहीं बता सकता कि कितने लोग पढ़ाई छोड़ देते हैं या उसमें असफल रहते हैं। पढ़ाई के लिए समय की कोई सीमा नहीं रहती इसलिए ऐसा प्रतीत होता है—देर या सवेर वे अपने शिक्षक को सन्तुष्ट करने के स्तर तक पढ़ाई पूरी कर लेते हैं। जो ऐसा कर लेते हैं उन्हें अपने आप को कारामोको कहने का अधिकार मिल जाता है और दूसरे लोग भी उन्हें ऐसा कह कर सम्बोधित कर सकते हैं। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को एक लिखित प्रमाणपत्र अथवा 'इस्नद' दिया जाता है और उसे पगड़ी बाँधने का अधिकार मिल जाता है। उपर्युक्त तीनों पुस्तकों का अध्ययन पूरा करने वाले को उसकी विशेष योग्यता के चिन्ह के रूप में पगड़ी बांधने का अधिकार पश्चिमी अफ़्रीका में अलहाज सलीम सुआरी नामक एक माली निवासी कानूनी सलाहकार ने लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी में आरम्भ किया था। उनके सम्बन्ध में आगे चलकर चर्चा की जाएगी।

जब किसी कारामोको को पगड़ी और इस्नद मिल जाता है तो वह सामान्य रूप से शिक्षक के रूप में कार्य आरम्भ करता है और किसी ऐसे अध्यापक का सहायक बनता है जो पहले से ही सुस्थापित है। लेकिन कभी-कभी वह स्वयं अपना ही मकतब स्थापित करता है। उस हालत में वह या तो किसी दूर दराज के गाँव के कुछ लोगों के कहने पर, कि उन्हें शिक्षक की आवश्यकता है, अपनी पाठशाला खोलता है या स्वयं अपने परिवार के बच्चों के लिए। अगर वह दूर दराज के किसी द्यूला समूह के लिए स्कूल खोलता है तो वह 'सौ' के लिए ऐसा करता है और अगर वह परिवार के बच्चों के लिए खोलता है तो 'लू' के लिए करता है। लेकिन कुछ कारामोको अपनी पढ़ाई जारी रखते हैं और उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने घर

से काफी दूर की यात्राएँ करते हैं। इस ऊँची पढ़ाई में विशेष बल 'फिक्र' अर्थात् कानून और 'हदीथ' अर्थात् पैगम्बर साहब की परंपराओं पर दिया जाता है। विद्यार्थी मालिकी कानून से सम्बद्ध ग्रन्थों का अपना ज्ञान और व्यापक बनाता है हालांकि इन ग्रन्थों से उसका परिचय पहले ही हो चुका होता है। उदाहरण के लिए ये पुस्तकें हैं—इब्न आसिम लिखित 'तुहफत अल् हुक्काम', इब्न अबी-जैद लिखित 'रिसाला', खलील कृत 'मक्तसर' और शाहनून लिखित 'मुदबन्ना' तथा इब्न स्कार की पुस्तक'इरशाद अल् सालिक'। उच्च शिक्षा पाने के लिए इच्छुक व्यक्ति इन पुस्तकों पर लिखी गई व्याख्याओं और भाष्यों को भी पढ़ता है, जिनमें वे भाष्य भी शामिल होते हैं जो स्थानीय व्यक्तियों द्वारा लिखे जाते हैं। इस प्रकार वह कानून के सिद्धान्तों का अध्ययन करते हुए नजीरों तक पहुँचता है। वह परम्पराओं का भी व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करता है—विशेष रूप से बुखारी और मुस्लिम के महान संग्रहों का···और उससे आशा की जाती है कि वह उन्हें कण्ठस्थ कर लेगा। इन अध्ययनों के पूरा हो जाने पर कारामोको को एक दण्ड रखने और बरनूस पहनने का अधिकार मिल जाता है। बरनूस एक सजावटपूर्ण और टौपीदार चोगा होता है। इसके बाद भी अगर कोई व्यक्ति चाहे तो अध्यापक के रूप में काम कर सकता है लेकिन सामान्यतः वह इमाम, कादी या मुफ़्ती के रूप में काम शुरू करता है। बहुत से समुदायों में, जिनमें इमाम का पद पुश्तैनी है, प्रायः दण्ड पद के सूचक के रूप में पिता से पुत्र को प्रदान किया जाता है भले ही पुत्र की शिक्षा-दीक्षा वैसी न हो जो पद के लिए अपेक्षित होती है। इसी प्रकार बहुत से मुस्लिम सरदार कादी या जज बन जाते हैं और बरनूस पहनने लगते हैं यद्यपि ये उस पद के योग्य उच्च शिक्षा नहीं प्राप्त करते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वास्तविक रूप में कारोमोको होना एक बड़ी उपलब्धि है। द्यूलाओं का कहना है कि कोई भी व्यक्ति कारामोको तब होता है जब वह विद्या की सनद प्राप्त करे, न कि जन्म की सनद। यहाँ जिस अंचल के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है वहाँ उलेमा वर्ग यद्यपि द्यूला समाज का अभिन्न अंग होता है तथापि कभी-कभी कोई कारामोको ऐसा भी होता है जो द्यूला

सम्प्रदाय का न हो । ऐसे अनेक उदाहरण पाए जाते हैं कि स्थानीय रूप से विख्यात विद्वान गैर द्यूलाओं के पुत्र रहे हैं और कभी-कभी गैर मुस्लिमों के भी । दूसरी ओर गैर द्यूला मूल के कारामोको अनिवार्यत: द्यूला समाज के अंग रहे हैं । ऐसे लोग अपने अध्ययन के दौरान अपने समाज की भाषा सीख लेते हैं, मालिन्के के अभिवादन नामों को ग्रहण कर लेते हैं और इस प्रकार के विवाह आदि करते हैं, जिससे उनका सम्बन्ध-सूत्र अपने शिक्षकों अथवा द्यूला विद्यार्थी सहयोगियों से जुड़ जाए । उदाहरण के लिए वे अपनी एक या एक से अधिक पुत्रियों के विवाह इन लोगों से कर देते हैं या कम से कम विवाह का वादा कर लेते हैं । यद्यपि उलेमा वर्ग के लिए खुलेआम भरती की प्रथा है फिर भी प्रवृत्ति यह है कि किन्हीं विशेष परिवारों के अंतर्गत ही उलेमा की शिक्षा की परम्परा जारी रहती है और इस प्रकार वे परिवार ही पीढ़ी दर पीढ़ी इमाम, शिक्षक और न्यायशास्त्री जुटाते रहते हैं । ऐसे परिवारों में पिता अपने पुत्रों में से कम से कम एक पुत्र को उच्च शिक्षा के लिए मुक्त कर देने का प्रयत्न करता है । यह पुत्र कौन होगा और उसे कब मुक्त किया जाएगा यह बात उस परिवार की सामान्य आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है । द्यूला जो भी उद्योग व्यावसायिक कृषि या अन्य क्षेत्रों में करते हैं उनका आधार एक ऐसा कार्यकारी एकक होता है जिसमें कई भाई शामिल होते हैं जो विवाहित भी होते हैं और अविवाहित भी । यदि जीवित हो तो पिता, उसके पुत्र और कभी-कभी एक या दो अन्य ऐसे व्यक्ति, जो परिवार के निकट आ चुके हैं या पहले गुलाम आदि रह चुके हैं, इस एकक के अन्तर्गत शामिल किए जाते हैं । इस प्रकार यह द्यूला लू का पुरुष-संघटक है । अगर लू आर्थिक दृष्टि से मजबूत है तो वह भाइयों में से सबसे बड़े भाई को इस अध्ययन के लिए छूट दे देता है । दूसरे शब्दों में पिता अपने ज्येष्ठतम पुत्र को कारामोको के पास शिक्षा के लिए भेज देता है । अपवाद के रूप में कोई कोई लू अपने सभी सदस्यों को बारी बारी से अध्ययन के लिए मुक्त करता है, जिससे कि वे कारामोको बन सकें । यह उस प्रकार का विशिष्ट लिपिक समूह होता है जिसकी प्रमुख आय उसके सदस्यों की व्यावसायिक कार्रवाइयों से प्राप्त होती है । लेकिन सामान्यत: यह

आशा की जाती है कि बड़े भाई लू के आर्थिक स्वावलम्बन को बनाए रखने के लिए व्यापार और खेती करेंगे और छोटा भाई अध्ययन के लिए भेजा जाएगा। (अक्सर इंग्लैंड के चर्च की तरह उलेमाओं द्वारा छोटे लड़कों की भरती करके उन्हें अपना पद देने की प्रवृत्ति का द्यूला जैसे बहुविवाह वाले समुदाय में यह परिणाम हुआ है कि किसी एक वंश में पिता की आयु अगर १२० वर्ष की है तो पुत्र ६५ वर्ष की आयु में इमाम बना है और पौत्र ८ वर्ष की आयु में।)

शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत विद्यार्थी अपनी पढ़ाई के लिए अपने शिक्षक को कोई निश्चित धनराशि शुल्क के रूप में नहीं देता क्योंकि वैसा करना इस सिद्धान्त के विरुद्ध माना जाता है कि अध्यापन कार्य आर्थिक लाभ के लिए नहीं किया जाता बल्कि धर्म की पताका फहराने के लिए किया जाता है। लेकिन यह परम्परा प्रचलित है कि विद्यार्थी का परिवार उपहार देता रहता है। इस उपहार को 'सदकात' कहते हैं और यह शिक्षक को समय के अनुसार नहीं बल्कि शिक्षा में हुई प्रगति के अनुसार अलग-अलग समयों पर भेजा जाता है। जब मैं वा नगर में था तो मुझे बताया गया कि तफसीर के अध्ययन के दौरान १३ ऐसे स्थल आते हैं, जिनका अध्ययन पूरा करने पर उपहार देना आवश्यक होता है। लेकिन इस उपहारों की मात्रा निश्चित नहीं होती। वह विद्यार्थी के परिवार की खुशहाली पर निर्भर करती है। मैंने ऐसे मामले भी देखे हैं कि कुरान का पाठ पूरा हो जाने पर परिवार केवल कुछ सूखे मेवे अथवा दो या तीन मुर्गियाँ ही दे सका जबकि एक और मामले में ऐसे ही अवसर पर सदकात के रूप में एक गाय, एक भेड़, एक बरनूस, पाजामे, टोपी, जूते और लगभग ४० पौंड नकद दिए गए। आरम्भिक कुरान की कक्षाओं में विद्यार्थी शिक्षकों को उनके खेतों में अथवा घरेलू कामों में, जैसे पानी लाने और लकड़ी चीरने आदि में, मदद देता है। कभी कभी गरीब परिवार का कोई महत्वाकांक्षी विद्यार्थी अपना अध्ययन जारी रखने के लिए अपने शिक्षक की दासता स्वीकार कर लेता है और उस शिक्षक की लू के अन्तर्गत पूरा कार्यभार वहन करता है, जिससे कई वर्षों के बाद ही यह पूर्ण कारामोको बन कर निकलता है।

३. इस्नद और सघनूघू

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अध्ययन पूरा कर लेने के बाद कारामोको को इस्नद अर्थात् प्रमाणपत्र दिया जाता है। आगे हम जो बतायेंगे वह इस प्रकार के ४० इस्नदों के अध्ययन पर आधारित है, जिन्हें आइवरी कोस्ट, घाना और अपर वोल्टा से नमूने के तौर एकत्र किया गया है। इन में से अनेक की फोटो प्रतियाँ घाना विश्व-विद्यालय के अफ्रीकी अध्ययन सस्थान में मौजूद हैं। कुछ अन्य के बारे में मौके पर जाकर अध्ययन करने की आवश्यकता हुई है। ये सभी सनदें अरबी लिपि ओर भाषा में हैं और इनको 'तफसीर' 'अल शिफा' तथा 'मुअत्ता' से सम्बद्ध ग्रन्थों के अध्ययन पर भी दिया गया है। इन में से कुछ पर गवाहों के हस्ताक्षर भी हैं। कुछ अन्य पर विद्यार्थी का चित्र भी लगाया गया है और कुछ पर शिक्षक का चित्र भी जिससे इनका धोखधड़ी के लिए प्रयोग न किया जा सकें। सभी सनदों का उनके स्वामियों की दृष्टि में बहुत मूल्य है और प्रायः वे उन्हें अपने साथ ही रखते हैं। लेकिन कभी-कभी उन्हें पुस्तक के बीच में भी रखा जाता है। जब कभी आवश्यकता होती है सनद को तुरंत निकाल कर दिखाया जाता है।

इस्नद या सनद को कभी-कभी 'सिलसिला' भी कहा जाता है। उसे तैयार करते हुए शिष्य का नाम गुरु की सनद में जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार इसनद गुरु-शिष्य परम्परा की एक लम्बी कड़ी का काम भी देती है। इस कड़ी में जो नाम सबसे नोचे होता है उसे छोड़ कर शेष प्रत्येक नाम ऐसा होता है जिसने किसी से शिक्षा पाई हो या किसी न किसी एक व्यक्ति को अवश्य ही पढ़ाया हो। कोई इस्नद बहुत कमजोर हो सकती है और कोई बहुत सशक्त, जो इस बात पर निर्भर करता है कि उसके अन्तर्गत गुरु-शिष्य शृंखला में दिए गए नामों के प्रति लोगों में कितना आदर है। अक्सर यह देखा गया है कि किसी विद्यार्थी ने किसी एक शिक्षक से सनद प्राप्त कर ली लेकिन और मजबूत सनद प्राप्त करने के लिए उसने किसी अन्य अध्यापक से फिर अध्ययन किया क्योंकि वह दूसरा अध्यापक अधिक विख्यात था और उसके द्वारा जारी की गई सनद का अधिक मूल्य

माना गया । सनद में यद्यपि किसी शिक्षक की योग्यता का कोई उपयोगी मूल्यांकन शामिल नहीं किया जाता क्योंकि मुस्लिम, वली या शेख आदि विशेषण सामान्य और पारम्परिक हैं, फिर भी अगर कोई व्यक्ति बहुत अधिक विद्वान या विख्यात है तो उसकी स्मृति बनाए रखने के लिए लोग उसकी कब्र पर प्रार्थना करने के लिए जाते हैं, उसकी प्रशंसा में शायरी लिखी जाती है, उसके नाम पर नमाज़ पढ़ी जाती है और उसका नाम कागज़ के टुकड़ों पर लिखा जाता है, जिन्हें उसके अनुयायी अपने साथ रखते हैं ।

मैंने जिन ४० सनदों पर विचार किया है वे सब या तो जीवित व्यक्तियों की हैं या उन लोगों की जिनकी हाल में ही मृत्यु हुई है । इन में से छः पर विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती क्योंकि वे इस शृंखला के अन्तर्गत द्वितीय प्रतियाँ हैं । अन्य छः पर विचार करना इसलिए आवश्यक नहीं कि वे अपूर्ण हैं । इनमें से एक में केवल ९ नाम हैं और सबसे अन्तिम नाम मुहम्मद बिन अहमद तसलीम का है । तीन सनदों में केवल ७ या ८ नाम हैं और अन्तिम नाम ताहिर सघनूघू का है । दो में सात और नौ नाम हैं और अन्तिम नाम जेने के अबू बक्र जबघते का है । वह एक सुविख्यात नाम है और वे सम्भवतः अठारवीं शताब्दी के अन्त में रहते थे तथा अल् हज सलीम कसाम्बा के शिक्षकों में थे । शेष ३४ सनदें एक समान हैं और उन सब का आरम्भ इमाम मालिक बिन अनास से हुआ है जिसके शिष्यों ने कानून की मालिकी पद्धति की नींव डाली । लेकिन इन सब सनदों की एकता का और अधिक प्रमाण मुहम्मद अल् मुस्तफा बिन अल् अब्बास सघनूघू पर आधारित है अर्थात् इन सब में इमाम मलिक से लेकर मुहम्मद अल् मुस्तफा तक उन्नीस शिक्षकों के नामों की एक जैसी सूची है और इसके बाद ही विभिन्न नामावलियाँ अलग हो गयीं हैं जिनकी संख्या ग्यारह से सोलह नामों की है और जो मुहम्मद अल् मुस्तफा को हाल के कारामोको लोगों से जोड़ती है । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है द्यूला नगरों में तफसीर, मुओत्ता और अल शिफा के अध्यापन ने जो स्वरूप ग्रहण किया उसका अधिकांश श्रेय मुहम्मद अल् मुस्तफा को जाता है । उनसे पहले सम्प्रेषण के जा भी तरीके प्रचलित रहे हों वे सब मुहम्मद अल् मुस्तफा द्वारा प्रच-

लित पद्धतियों को तरजीह मिलने के कारण लुप्त हो चुके हैं।

सौभाग्य से मुहम्मद अल् मुस्तफा सघनूघू की पहचान आसानी से की जा सकती है। आज तक भी द्यूला सम्प्रदाय द्वारा उनके लिए बड़ा आदर-भाव पाया जाता है और वे उनके नाम की प्रार्थनाएं अपने साथ लिए रहते हैं। इसी प्रकार उनके १२ पुत्रों के नाम पर भी प्रार्थनाएं साथ रखी जाती हैं। उनकी कब्र आइवरी कोस्ट के उत्तरी मध्य भाग में बोरोन नामक स्थान में है और वहां के लिए जियारत बहुत शुभ मानी जाती है। पाण्डुलिपियों के आधार पर उनकी मृत्यु की तिथि १७७६-७७ ईस्वी अथवा १७५४-५५ ईस्वी मिलती है। मेरी अपनी राय में पहली तिथि अधिक सही है क्योंकि वह उनके पुत्रों की वंशावली से मेल खाती है। मुहम्मद अल् मुस्तफा के पिता अल् अब्बास सघनूघू थे, जिनकी कब्र बोरोन से ४५ मील पश्चिम में कानी नामक स्थान में है। एक सूत्र के अनुसार उनकी मृत्यु १७६४-६५ ईस्वी में हुई थी। उनके बारे में यह नहीं कहा जाता कि वे बहुत विद्वान थे और इसनद से प्रकट होता है कि मुहम्मद अल् मुस्तफा को उनके पिता ने नहीं, बल्कि दादा ने पढ़ाया था। उनके दादा का नाम था मुहम्मद अल् हाफिज सघनूघू। उनके पूर्वजों में अल् हाजी उस्मान सघनूघू थे, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपर नाइजर के कांगावा प्रदेश के अपने मूल स्थान को इसलिए त्याग दिया था कि वहां अन्य धर्म वालों की प्रथाओं का प्रचलन था। वे मफरूँ नामक एक कस्बे में बस गए, जो अब लुप्त हो चुका है लेकिन जो सम्भवतः गिनी में कनकन के दक्षिण पूर्वी पार्वत्य प्रदेश में था।

जो समुदाय सघनूघू (अथवा सकनूघू, सकनूऊ आदि) अभि-वादन नामों का प्रयोग करते हैं वे पश्चिमी सूडान के अनेक भागों में पाए जाते हैं। पश्चिम में एक समूह सैनेगल के ताम्बाकूण्डा के निकट पाया जाता है और पूर्व में मोसी प्रदेश में वागाडोगू में पाया जाता है। माली की परम्पराओं के अनुसार सघनूघू मूलतः पांच मुस्लिम वंशों के लोग हैं। इस निबन्ध में जिस समूह पर विचार किया जा रहा है वह १७वीं और १८वीं शताब्दियों में माली के मुख्य नगर से निकला था और दक्षिण की ओर के मुख्य मुस्लिम व्यापारिक

नगरों से हो कर गुजरा। ये नगर हैं—समातीगुइला, कोरो, काना और बोरोन। कहा जाता है कि स्वयं मुहम्मद अल् मुस्तफा सघनूघू ने समातीगुइला में शिक्षण कार्य किया, जहाँ उन्हें कसाम्बा और जाबी उलेमाओं ने आमंत्रित किया था। बाद में वे बोरोन में जा बसे। उनके परिवार के लोग इधर-उधर जाकर बसते रहे। सबसे बड़ा पुत्र अल् अब्बास, वतारा शासकों के अनुरोध पर कोंग में जा बसा, वहाँ का इमाम बन गया और वहीं उसकी मृत्यु १८०१ ईस्वी में हुई। दूसरा पुत्र सईद, बोबो द्यूलासो में इमाम बन गया और वहीं १७४६ ईस्वी में बस गया। बाद में उसका भाई इब्राहीम भी वहीं जा बसा। वह भी बाद में इमाम बना और उसकी मृत्यु १८२५-२६ ईस्वी में हुई। मुहम्मद अल् मुस्तफा के दो भाई उत्मान और अहमद सघनूघू संभवतः डाफिन प्रदेश में जा बसे, जो ब्लैक ओल्टा नदी के उत्तरी मोड़ के निकट है। सघनूघू कारामोको जहाँ कहीं भी जा कर बसे उन्होंने नए स्कूल खोले। इन में से कोंग का स्कूल विशेष रूप से प्रसिद्ध हुआ।

१७वीं और १८वीं शताब्दियों में द्यूला नगरों से होकर मक्का जाने वाले तीर्थयात्रियों की संख्या काफी बढ़ गई थी। कोंग और बूना जैसे स्थानों से इस प्रकार के तीर्थयात्रियों के कारवां संगठित होते हैं। १८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोंजा के द्यूलाओं के लिए मक्का की यात्रा करना बिल्कुल सामान्य बात हो गई थी और १९वीं शताब्दी में और अधिक दक्षिण के कुमासी जैसे नगरों से भी इस प्रकार के तीर्थयात्रियों के कारवाँ आयोजित होते थे। कैली ने इस प्रकार के कारवाँ के मार्गों के महत्व पर जोर देते हुए कहा है कि ये इतने सुविधाजनक थे कि अक्सर लोग मध्य नाइजर घाटी के अपेक्षाकृत कम दूरी के मार्गों को छोड़ कर इन्हीं मार्गों से हो कर यात्राएं किया करते थे। द्यूला नगरों में सघनूघू कारामोको लोगों की उपस्थिति इन्ही तीर्थ-यात्रा मार्गों के अस्तित्व के कारण सम्भव बताई जाती है। इन मार्गों पर जो नगर स्थित थे वे काफी समृद्ध थे और इसीलिए शिक्षकों तथा अन्य मुस्लिम पदाधिकारियों के खर्च का भार उठा सकते थे। इसके साथ ही हज के लिए आवागमन लगातार बने रहने के कारण उस प्रकार का बौद्धिक

वातावरण भी पनपता रहता था, जो विद्या के प्रचार और वृद्धि के लिए आवश्यक होता है। बूना नगर के उदाहरण द्वारा यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। वहाँ का प्रमुख स्कूल अब्दुल्ला बिन अल् हज मुहम्मद वतारा द्वारा चलाया जाता था, जो सम्भवतः स्थानीय द्यूला समुदाय के थे। लगभग १८७० ईस्वी के आसपास अबू बक्र अल् सिद्दीक, जो टिम्बकटू के निवासी थे, उनके शिष्य हुए और उन्होंने देखा कि अध्यापकों में अनेक बड़े विद्वान व्यक्ति हैं, जो किसी एक स्थान के रहने वाले नहीं है बल्कि अलग-अलग देशों से आए हैं और वहाँ बस गए हैं। उदाहरण के लिए शेख अब्दुल कादिर संकरी, फूटा जल्लौन से, इब्राहीम बिन यूसफ, फूटा टोरो से और इब्राहीम बिन अबी अल् हसन, 'जर्रा' से जो संभवतः उत्तरी माली में स्थित द्यारा है, आ कर बस गए थे। अब्दुल्ला वतारा, जो स्कूल के प्रधान थे और उनके पिता अल् हज मुहम्मद वतारा सम्भवतः वही व्यक्ति हैं, जिनके नाम उन कुछ सनदों में आए हैं, जिन पर इस निबन्ध में आगे विचार किया जाएगा।

४-मध्यकालीन विद्या : माली पृष्ठभूमि

जिन सनदों पर विचार किया जा रहा है उनमें ३४ ऐसी हैं, जिनमें सभी में आरम्भ क़ैरावान के अब्द अल् रहमान बिन् सलाम शहनून के नाम से हुआ है। बाद में काहिरा के अब्द अल् रहमान बिन अल् कासिम और उसके बाद मैदीना के इमाम मालिक बिन् अनास, नाफ़ी, अब्दुल्ला बिन् उमर बिन् अल् खत्ताब और पैगम्बर के नाम हैं। यह सुविदित शृंखला है और ऐसा माना जाता है कि उत्तरी अफ्रीका और 'मगरिब' में मालिकी अध्यापन के सम्प्रेषण की मुख्य शृंखला है। पश्चिमी अफ्रीका में उसकी लोकप्रियता का कारण यह हो सकता है कि उससे अल्-इब्न अबी जैद कैरावानी सम्बद्ध थे जिनका 'रिसाला' व्यापक रूप से पढ़ा जाता है।

इस शृंखला में पश्चिम अफ्रीका के पहले प्रमुख व्यक्ति, जिन्हें आसानी से पहचाना जा सकता है, अल् हज्ज सलीम सुआरी हैं। कैरावान के शहनून और अल् हाजी सलीम के बीच चार और नाम हैं : इब्न इशाक, सिस्सी कूरी, तूरी कूरी और सबसे ताजा

नाम अल् अब्बास अल् मण्डावीयू । इब्न इशाक सम्भवतः उत्तरी अफ्रीका के व्यक्ति हैं हालांकि उनकी पहचान मैं नहीं कर पाया हूँ। शेष तीनों व्यक्ति पश्चिमी अफ्रीका के द्यूला विद्वान माने जाते हैं और वस्तुतः सिस्सी और तूरी शायद सोनिंके भाषा के नाम सिसे और तूरे हैं जबकि मण्डावीयू का अर्थ है मण्डे के रहने वाले अर्थात् माली निवासी। हम देखेंगे कि अल् हाजी सलीम सुआरी संभवतः १५ वीं शताब्दी के थे और ९वीं शताब्दी के उत्तरी अफ्रीकी शिक्षकों तथा पश्चिमी अफ्रीका के आरम्भिक शिक्षकों के बीच श्रृंखला में कुछ नाम छूटे हुए लगते हैं। मेरा विचार है कि जिस प्रकार की सनदें द्यूला नगरों में पाई गई हैं वे पहली बार पश्चिमी अफ्रीका में अल् हज्ज सलीम द्वारा प्रदान की गई थीं जिन्होंने उनमें अपना नाम और अपने शिक्षक माली के अल् अब्बास का नाम जोड़ कर उसे पारम्परिक रूप दिया था और पूर्ववर्ती सोनिंके, सिस्से और तूरे शिक्षकों के समूह से सम्बद्ध किया था तथा फिर उस श्रृंखला को उत्तरी अफ्रीका की शहनून श्रृंखला से मोटे तौर पर जोड़ दिया था।

बहुत से ग्रन्थों में, जो प्रायः एक दूसरे से सम्बद्ध है, अल् हज्ज सलीम सुआरी की मृत्यु की तिथि १९४७-४८ ईस्वी बताई गई है। मुझे नहीं मालूम कि इस तिथि की प्रामाणिकता क्या है लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि यह सही नहीं है। अल् हज्ज सलीम मध्य युगीन घाना के आधिपत्य काल में नहीं हुए थे बल्कि बाद में माली के आधिपत्य काल में हुए। वे उन मालिकी न्यायविदों के पूर्ववर्ती न हो कर परवर्ती थे जिन्हें अल् उमरी के अनुसार १४वीं शताब्दी के मध्य में माली के शासक मन्सा सुलेमान द्वारा माली में बसने के लिए प्रेरित किया गया था। उदाहरण के लिए कसाम्बा दियाखान्के वंशावली में अल् हज्ज यूसफ कसाम्बा को अल् हज्ज सलीम सुआरी का विद्यार्थी बताया गया है और उन्हें कारामोको कुतुबू कसाम्बा वंशजों में १२वां स्थान दिया गया है। कारामोको कुतुबू कसाम्बा के की मृत्यु १९०५ में हुई थी। यह मानते हुए कि एक पोढ़ी से दूसरी पीढ़ी के बीच ३० से ४० वर्ष का अन्तर होता है, यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अल् हज्ज सलीम १५वीं शताब्दी में हुए होंगे। इसनदों में उनकी स्थिति से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। ३४

शृंखलाओं में औसतन अल् हज्ज सलीम से लेकर वर्तमान जीवित कारामोकोओं तक २२ नाम हैं। किसी में २० नाम हैं तो किसी में २५ नाम, हालांकि अधिकांशतः संख्या २० के अधिक निकट है। अगर हम यह मान लें कि अल् हज्ज सलीम की मृत्यु लगभग १५०० ईस्वी में हुई थी तो शिक्षक और उसके शिष्यों के बीच आयु का औसत अन्तर लगभग २० वर्ष का होता है। दूसरी ओर अगर हम यह मानें कि उनकी मृत्यु ११४७-४८ ईस्वी में हुई थी तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि गुरु शिष्य सम्बन्ध की अवधि ४० वर्ष की है। पहले कहा जा चुका है कि प्रायः लोग शिक्षा के लिए काफी चढ़ती उम्र में शिक्षकों के पास जाया करते थे। इसीलिए १५०० ईस्वी अधिक सही तारीख मालूम होती है।

अल् हज्ज सलीम सुआरी का सम्बन्ध जाघा के महत्वपूर्ण आरम्भिक पश्चिमी सूडानी मुस्लिम केन्द्र से रहा है। जाघा को जाघा-बा अर्थात् बड़ा जाघा भी कहा जाता है। मुस्लिम परम्परा के अनुसार सुआरी जाघा से मेसीना में 'दिया' नामक स्थान को चले गए। यह वह समय था जबकि सोनिन्के मुसलमान बड़ी संख्या में मध्य नाइजर घाटी को छोड़ कर सेनेगल और नाइजर नदियों के मुहानों की ओर जा रहे थे। स्वयं जाघा सेनेगल की एक सहायक नदी बाफिंग पर स्थित है और माली के कांगावा जैसे पुराने केन्द्रों से केवल डेढ सौ मील दूरी पर है। वस्तुतः १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में वैलेंटिन फरनैंडीज़ ने लिखा था कि जाघा माली बादशाहों का निवास स्थान है। संभवतः यह बात तो सही नहीं थी परन्तु यह अवश्य प्रतीत होता है कि किसी समय जाघा माली में एक प्रमुख मुस्लिम नगर था। तारीख अल् मदनियूँ में कहा गया है कि बम्बूक में जाघा एक बड़ा नगर था और इस्लामी शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। इस शहर के बारे में सबसे अधिक दिलचस्प वर्णन १६ वीं शताब्दी के ग्रन्थ तारीख अल् फत्ताश में मिलता है। इसमें लिखा गया है :

> 'माली बादशाहों के प्रभुत्व के समय न्यायविदों का एक नगर जाघा बा था जो माली प्रदेश के भीतरी भाग में स्थित था। माली के बादशाह इस नगर में कभी नहीं गए और उस पर किसी

शासक का भी आधिपत्य नहीं स्थापित हुआ। प्रमुख शासक उस नगर का कादी ही होता था। जो भी व्यक्ति उस नगर में जाता था वह बादशाह के आतंक से और हिंसा से सुरक्षित रहता था भले ही उसने बादशाह के पुत्रों की हत्या की हो। इस नगर को अल्लाह का नगर कहा जाता था।

अल् हज्ज सलीम का उपनाम सुआरी था, जिसका अर्थ सोनिन्के भाषा में 'लाल घोड़ा' होता है। उन्हें यह उपनाम इसलिए मिला कि उन्होंने मक्का की यात्रा लाल रंग के घोड़े पर की थी। सोनिंके वंशावलियों में उन्हें वंश की नींव डालने वाले डिंगा के पुत्रों में, गिनाया गया है। तारीख अल् मदनिया में उन्हें 'जाघा के सभी शेखों के ऊपर शेख' कहा गया है। मैंने अक्सर यह भी सुना है कि उन्हें 'माण्डे का मुफ्ती' बताया गया है और इस प्रकार वे माली निवासी सिद्ध होते हैं। यह असंदिग्ध है कि उत्तर मध्यकालीन साम्राज्य के अन्तर्गत वे प्रमुख न्यायशास्त्री थे। उनके द्वारा दिए गए फतवे अब भी द्यूला उलेमाओं द्वारा नजीर के तौर पर पेश किए जाते हैं। शादी के करार के सम्बन्ध में उनका फतवा बहुत प्रचलित है। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने विलाद अल्-कुफ़ अर्थात् अधार्मिक प्रदेश में मुस्लिम सम्प्रदायों को प्रभावित करने वाले विषयों पर भी फतवे दिए थे। इस प्रकार के निर्णयों का माली के व्यापारियों के लिए विशेष महत्व था। अल् हाजी सलीम द्वारा दिए गए न्यायिक निर्णयों के सम्बन्ध में द्यूलाओं के क्या विचार थे यह एक पृथक अध्ययन का विषय है। मैं संक्षेप में इतना ही कहना चाहूँगा कि इन निर्णयों के अन्तर्गत दो ऐसी बातें मिलती हैं जो द्यूलाओं के विचारों से मेल खाती हैं। एक तो यह कि सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के साधन के रूप में जिहाद अथवा धर्मयुद्ध के विचार और प्रवृत्ति का त्याग। और दूसरे यह कि धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक गतिविधियों से अलग रहने के आदर्श को स्वीकार करना। सैद्धान्तिक विचारक के रूप में अल् हज्ज सलीम की जो भी स्थिति रही हो, उनकी ख्याति मुख्य रूप से शिक्षा के क्षेत्र में नई बातों की खोज के लिए है। पश्चिमी अफ्रीका के बड़े भाग में शिक्षण की जो व्यवस्था पाई जाती है ऐसा प्रतीत होता है कि उसका संगठन मुख्य रूप से उन्होंने ही किया था।

इन प्रदेशों में शिक्षा का जितना अधिक आदर है वह शायद इसीलिए कि उन्होंने ऐसे नियम बनाए जो दम्भ और छिछलेपन के विरुद्ध थे। शिक्षा प्रणाली में तफसीर अल् जलालियान, मुअत्ता और अल शिफा इन तीन ग्रन्थों को जो स्थान प्राप्त है वह भी शायद अल् हज्ज सलीम के समय से ही है और अगर हमने उनके जीवन-काल के सम्बन्ध में तिथियों का सही अनुमान लगाया है तो कहा जा सकता है कि वे १४८५ में इन ग्रन्थों के पूरा हो जाने पर इन्हें काहिरा से पश्चिमी अफ्रीका लाए थे। इन तीनों ग्रन्थों का अध्ययन पूरा करने पर पगड़ी बाँधने की अनुमति और दण्ड तथा बरनूस पहनने का अधिकार उन्हीं के द्वारा शुरू किया गया था और यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने ही लिखित रूप में इस्नद जारी करने की प्रथा शुरू की।

विद्या-दान की तीन मुख्य शृंखलाओं का आरंभ द्यूला लोग अल् हज्ज सलीम मानते हैं। इन तीन शृंखलाओं शृंखलाओं के आरम्भ-कर्ता मुहम्मद डुगुरी, अल् हज्ज यूसुफ कसाम्बा और मुहम्मद बूनो, अल् हज्ज सलीम के ही शिष्य थे। इन में से पहली शृंखला के विषय में मुझे अधिक नहीं मालूम। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुहम्मद डुगुरी पश्चिमी आइवरी कोस्ट में कोरो नगर से सम्बद्ध थे और यह भी कहा जा सकता है कि अनेक फुफाना शिक्षकों को सनदें उन्हीं के ज़रिए दी गई थीं। दूसरे शिष्य अल् हज्ज यूसुफ ने पश्चिमी दिया-खान्के उलेमाओं में शिक्षा-प्रचार का संगठन किया। यह नगर गाम्बिया प्रदेश में था। तीसरे शिष्य मुहम्मद बूनी सम्भवत: वे ही हैं जिनका नाम द्यूला नगरों से एकत्र की गई ३४ शृंखलाओं में आता है। वे मफरूं नगर में रहते थे, जिसका अस्तित्व अब नहीं रहा है। परन्तु अल् हज्ज सलीम सुआरी के प्रयत्नों से जितनी शृंखलाएं शुरू हुईं वे केवल उक्त तीन शृंखलाओं तक सीमित नहीं थीं। कुछ अन्य शृंखलाओं से भी उनका नाम सम्बद्ध है जो उनके प्रयासों की व्यापकता का निर्देश करता है।

५-आधुनिक काल

मुहम्मद अल् मुस्तफा सघनूघू की मृत्यु, जैसा कि हम बता चुके

हैं, बोरोन में सम्भवत: १७७६-७७ ईस्वी में हुई थी। उन्होंने चार विवाह मुक्त पत्नियों से किए और एक गुलाम पत्नी से। उनकी इन पत्नियों से बारह लड़के थे और नौ लड़कियाँ। जिन ३४ सनदों का इस निबन्ध में जिक्र किया गया है उनके अन्तर्गत मुहम्मद अल् मुस्तफा के पाँच पुत्रों में से किसी न किसी का उल्लेख है। ये पाँच पुत्र हैं--अल् अब्बास, यहिया, सईद, इब्राहीम और मुहम्मद फूदी मूरू जिन्हें अल् मुस्तफा भी कहा जाता है। ये पाँचों बोरोन से कोंग में जा बसे, जहाँ सबसे बड़े भाई अल् अब्बास ने अध्यापन-कार्य प्रारम्भ किया और बाद में वे इमाम बन गए। इसनदों में बताया गया है कि केवल अल् अब्बास को उनके पिता ने शिक्षा दी थी और उनके छोटे भाइयों ने अपने बड़े भाइयों से शिक्षा पाई थी। इन पुत्रों में एकता का संकेत कुछ सनदों में मिलता है, जिनमें शृंखला को एक के बाद एक कई भाइयों से हो कर दिखाया गया है। इस प्रकार एक सनद में बताया गया है कि किस प्रकार अल् अब्बास यहिया के शिक्षक थे, यहिया इब्राहीम के गुरु थे और इब्राहीम मुहम्मद फूदीमूरू के गुरु थे। बाद में कोंग नगर का मुख्य सघनूघू स्कूल मुहम्मद फूदीमूरू के मार्गदर्शन में चलने लगा। वे मुहम्मद अल् मुस्तफा के बारह पुत्रों में सबसे छोटे थे। उनके बड़े भाइयों में अल् अब्बास और यहिया कोंग में रहे तथा सईद और इब्राहीम बोबो द्यूलासो चले गए, जहाँ उन्होंने एक और स्कूल की नींव डाली। बारह पुत्रों में अन्य, और भी दूर-दूर जा बसे जैसे टिम्बकटू, काका-मानसे आदि स्थानों में, और द्यूला नगरों में प्राप्त सनदों में उनका कोई जिक्र नहीं है।

मुहम्मद फूदीमूरू ने जो स्कूल बनाया उसे मैं करनकारा स्कूल कहूँगा। यह नाम उस भवन के नाम पर रखा जा सकता है, जिसमें स्कूल चला करता था। किसी स्कूल की स्थापना करना काफी कठिन होता है विशेष रूप से ऐसे स्कूल की स्थापना, जिसमें अरबी की पढ़ाई-लिखाई सिखाने के साथ-साथ इस्लामी ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा भी दी जाती हो। इसके लिए अच्छे अध्यापक चाहिए, धन, भवन, पुस्तकें और लेखन सामग्री चाहिए तथा आवश्यक सामाजिक वातावरण चाहिए। ऐसे स्कूल में जितने अधिक विद्वान अध्यापक

होंगे उन्हीं पर उनकी प्रतिष्ठा निर्भर करेगी। इस प्रतिष्ठा के आधार पर उसके लिए साधन उपलब्ध किए जा सकेंगे। द्यूला समुदायों के लिए इस प्रकार के संस्थानों को चलाना बहुत अनुकूल पड़ता था क्योंकि द्यूला व्यापारी थे। विशेष रूप से उनकी लू व्यवस्था के अन्तर्गत इस प्रकार के स्कूल बड़ी सफलतापूर्वक चलाए गए। ऊपर करनकारा स्कूल का जिक्र आया है। उसका विकास चार शिक्षकों के प्रयत्नों से हुआ। हो सकता है कि और अधिक सनदों के मिलने से यह प्रकट हो कि और भी शिक्षक इससे सम्बद्ध थे। लेकिन जिन चार शिक्षकों के विषय में जानकारी उपलब्ध है उन सभी को मुहम्मद फूदीमूरू ने प्रशिक्षण दिया था। इनमें दो उसके अपने पुत्र थे और दो उसके भाइयों के पुत्र थे। इस प्रकार यह विशिष्ट लू अथवा पारिवारिक संगठन था। तुलनात्मक दृष्टि से यह देखना भी दिलचस्प है कि कोंग में साघादूघू स्कूल का विकास किस रूप में हुआ।

इस स्कूल की सफलता का श्रेय आरम्भ में कारामोको अलीमूरू साघादूघू को है, जो इस शताब्दी के आरम्भ में हुए। बाद में अलीमूरू के दो भाइयों इस्माईल और अब्दुल्ला के समय में इसका ह्रास होने लगा और इसमें कुल दस विद्यार्थी रह गए। अधिकांश सनदों में न केवल शिक्षक-विद्यार्थी सम्बन्ध व्यक्त होता है बल्कि पारिवारिक निकटता भी प्रकट होती है। जैसे पिता, पिता के भाई और भाई के सम्बन्धी। उधर सनदों में शिक्षकों के निवास स्थान का उल्लेख करने की प्रथा प्रायः बहुत कम प्रचलित थी और निवास स्थान सम्बन्धी जानकारी स्वतन्त्र रूप से प्राप्त करनी होती है। यह जानकारी आम तौर पर सम्बद्ध व्यक्तियों के जीवित वंशजों के साक्ष्य पर आधारित होती है। लेकिन कोंग के साघानूघू और साघादूघू अध्यापकों के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि जब कौटुम्बिक सम्बन्धों और गुरु-शिष्य संबन्धों की शृंखलाओं में काफी मेल होता है तो वह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण होता है कि स्कूल की नींव सम्मिलित पारिवारिक उद्यम द्वारा डाली गई थी अर्थात् उसके पीछे लू की व्यवस्था थी। लेकिन ऐसे स्कूल के अस्तित्व की पुष्टि क्षेत्रीय चिन्हों द्वारा करनी होती है। कुछ सनदों में बीसवीं शताब्दी के तीन स्कूलों के बारे में व्यक्त विशेषताओं का संकेत है। ये स्कूल

हैं—कोंग का कुनाते उलेमा स्कूल तथा बोनदूकू के तिमीते और कुनवाला स्कूल। १९१० में मार्टी ने आयवरी कोस्ट में मुस्लिम समुदायों का जो सर्वेक्षण किया था उसके अनुसार कुनाते स्कूल, जो उन दिनों कारामोको वीडी के अन्तर्गत था, काफ़ी गिरी हुई दशा में था और उसमें केवल पाँच शिष्य थे। बोन्दूकू के तिमीते स्कूल में, जो इमाम सईद कुनन्दी की देखरेख में चल रहा था, आरम्भिक कुरान की कक्षाओं में लगभग २० विद्यार्थी थे और उसमें उच्च शिक्षा भी दी जाती थी। लगभग इसी आकार का दूसरा तिमीते स्कूल भी था, जो कारामोको तिमीते—संभवतः अबू बक्र—की देखरेख में चल रहा था। कुनवाला स्कूल, जो अब्दुल्ला की देखरेख में चलता था, आकार में कुछ अधिक बड़ा था और उसमें ५० विद्यार्थी थे।

इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि लू के सदस्यों की आर्थिक गतिविधियाँ विविध प्रकार की होती हैं और जिन लोगों ने शिक्षण का कार्य शुरू किया हो, भले ही वे शिक्षकों के वंशज हों और उनके परिवार में विद्वत्ता की मज़बूत परम्परा रही हो, वे प्रायः वाणिज्य और कृषि में भी भाग लेते रहते थे। लेकिन ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं उनको देखते हुए किसी स्कूल को नींव डालना काफी श्रम-साध्य होता था और उसके लिए लू को अपने काफ़ी अधिक साधन लगाने होते थे। इस प्रकार के साधन लगाना सामाजिक दृष्टि से तो लाभदायक प्रतीत होता था लेकिन जो आर्थिक लाभ मिसाल के तौर पर व्यापार से हो सकता था वह स्कूल चलाने से नहीं होता था। इसलिए जब एक बार स्कूल का आरम्भ हो जाता था और वह ठीक से चलने लगता था तो आर्थिक दृष्टि से उसमें लू का योगदान लगभग समाप्त हो जाता था। बाद में जिन परिवर्तनों की चर्चा की गई है उनका सम्बन्ध शिक्षकों की आयु से होता था। यह भी महत्वपूर्ण था कि किसी लू के वरिष्ठ सदस्य स्कूल में रुचि लेते हैं या कनिष्ठ सदस्य। अक्सर यह होता है कि किसी स्कूल की जिम्मेवारी केवल एक भाई सम्भालता है और वह भी कनिष्ठ होता है जैसा कि कोंग के साघानूघू शिक्षकों के उदाहरण से प्रकट होता है अथवा बोन्दूकू तिमीते अध्यापकों के उदाहरणसे स्पष्ट होता है। विकास के इस चरण में यह सम्भव है कि बड़ा भाई स्कूल के मामले से अलग हो

जाए, वह कहीं और जा बसे और व्यापार, खेती या अलग से अध्यापन-कार्य आरम्भ कर दे जैसा कि इब्राहीम साघानूघू ने और उसके भाई सईद ने किया था, जो कोंग को छोड़ कर बोबो द्यूलासो में जा बसे थे। ऐसे मामलों में जो भाई मुख्य संगठन से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते है उनमें भो अन्य क्षेत्रों में सहयोग बना रहता है जैसे व्यापार अथवा द्यूलाओं का विशिष्ट ज्ञान-विज्ञान आदि। कुछ ऐसे भी भाई हो सकते हैं, जो स्कूल की कार्रवाइयों से तो अलग हो जाएँ लेकिन व्यापार अथवा खेती-बाड़ी में या इमाम और कादी आदि के रूप में प्रबन्ध सम्बन्धी कार्य संभाल लें। विकास के इस चरण में विभिन्न कार्यों का पुनर्गठन करने के लिए बड़े भाई अपनी बीबियों पुत्रों और अन्य आश्रितों के साथ अपने पृथक घर-परिवार बना लेते हैं, जो नए लूओं के रूप में विकसित हो जाते हैं। इन लूओं में से कोई एक व्यक्ति ही स्कूल के साथ सम्बद्ध होता था। ये अतिरिक्त लू द्यूलाओं की भाषा में 'सौ' कहलाते हैं और इन के स्तर पर सम्मिलित गतिविधियाँ कुछ हद तक जारी रह सकती हैं, विशेष रूप से वाणिज्य के क्षेत्र में क्योंकि सुस्थापित व्यवसाय के लिए दूर-दूर तक यात्राओं की आवश्यकता होती है और बहुत से व्यक्तियों को इधर-उधर भेजना होता है, जिनका प्रबन्ध कोई एक लू अकेले ही नहीं कर सकता।

अगर कनिष्ठ पीढ़ी की दृष्टि से इन प्रक्रियाओं को देखा जाए तो पूर्णतः सुस्थापित स्कूल में एक भिन्न ढंग का परिवर्तन दिखाई देता है। पहलो बात तो यह कि कारामोको के लिए आवश्यक उच्च स्तरीय शिक्षा नई पीढ़ी के अपेक्षाकृत कम सदस्य ग्रहण करते है यद्यपि उनकी संख्या इतनी अवश्य होती है कि वे मृत्यु या सेवा-निवृत्ति पर वयोवृद्ध शिक्षकों का स्थान ग्रहण कर सकें। जो शिक्षित व्यक्ति स्कूल के लिए आवश्यक नहीं होते वे प्रायः लू को छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं और ऐसा किसी अन्य ऐसे समुदाय के निमंत्रण पर करते हैं, जिसे एक कारामोको की आवश्यकता है। वे अपने लू में वापस लौट भी सकते हैं और नहीं भी लौट सकते। उदाहरण के लिए मुहम्मद खैर कोंग छोड़ कर दार अल् स्लाम चले गए, जहाँ उनके वंशज उस समय भी मौजूद थे जबकि उस नगर में विद्वानों

की बहुत अधिक कमी महसूस की जा रही थी। दूसरी बात यह कि लू से आने वाले विद्यार्थियों की संख्या में तो कमी होती जाती है लेकिन अगर स्कूल की ख्याति अच्छी होती है, उसके शिक्षक सुयोग्य होते हैं, उसमें पुस्तकालय की अच्छी सुविधाएं होती हैं तो उसकी ओर अन्य समुदायों के विद्यार्थी भी खिचते हैं और वे कई वर्ष तक वहाँ अध्ययन करते हैं तथा सदका अथवा धन से भी योगदान करते हैं।

द्यूला लू के चक्र का विकास बहुत जटिल है। इसका एक कारण तो विखंडन और विभाजन की वह प्रक्रिया है, जिसके कारण आर्थिक होते हैं और जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। लेकिन इन प्रक्रियाओं को समझना आवश्यक है क्योंकि इन्हें समझ कर ही शिक्षण-संस्थाओं के अस्तित्व और उनकी संख्या में वृद्धि के सम्पूर्ण प्रश्न को समझा जा सकता है और यह सब जानकारी साक्षरता के प्रसार और द्यूला क्षेत्र में ज्ञान-विज्ञान के प्रसार को समझने के लिए आवश्यक है। उदाहरण के लिए जब साघानूघू कहते हैं कि बान्दा, बोंन्दूकू और बूना अथवा बा, बाहाबू अथवा बेन्ची के मुसलमान उनके 'तलबा' अर्थात् विद्यार्थी हैं तो वे इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि उपर्युक्त प्रत्येक स्थान में विद्वानों का ऐसा संवर्ग है, जो विद्या के प्रसार के लिए उत्तरदायी है और जो इस्लामो मूल्यों को सुरक्षित रखता है। मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि इस आम प्रक्रिया के साथ सामाजिक संगठन की द्यूला पद्धतियों का सामंजस्य किस प्रकार होता है। एक अन्तिम उदाहरण मैं बोन्दूकू के तिमीते का देना चाहूँगा, जिससे यह प्रकट होगा कि एक ऐसा भी संवर्ग था, जो सामंजस्य की इस प्रक्रिया का भागीदार था।

बोन्दूकू में तिमीते लोगों का बसना तब शुरू हुआ जब १८ वीं शताब्दी के आरम्भ में दक्षिण के व्यापारिक केन्द्र बीघू का विघटन हुआ और द्यूला लोग इधर-उधर जा कर बसने लगे। उस शताब्दी के उत्तरार्ध में उन्होंने बोन्दूकू के इमाम का पद प्राप्त कर लिया और वे आज भी वहाँ के इमाम होते हैं। पहला तिमीते इमाम शेहू अब्दुल कादर था। उनका उन तिमीते कारामोको लोगों से सम्बन्ध था, जिनका उल्लेख ३४ सनदों में हुआ है। ये कारामोको थे—मुहम्मद,

सईद और अब्दुल रहमान। तिमीते लोग शेहू अब्दुल कादर की विद्वत्ता का बड़ा आदर करते थे। उनकी शिक्षा के विषय में विस्तार से कुछ मालूम नहीं है क्योंकि उनसे सम्बद्ध कोई इस्नद नहीं पाई गई है। लेकिन उनके सबसे बड़े पुत्र मुहम्मद के बारे में, जो दूसरे इमाम थे, काफी जानकारी उपलब्ध है। उनकी शिक्षा-दीक्षा इशाक बिन सुलेमान सघनूघू द्वारा हुई थी यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने कोंग में शिक्षा पाई थी अथवा बोबो द्यूलासो में या अन्यत्र। उनके विद्यार्थियों में अन्य लोगों के अलावा उनका पुत्र अब्दुल कादर भी था जो बोन्दूकू का चौथा इमाम हुआ और उत्मान बिन इमाम सईद तारावीरी भी था, जिसके वंशज अब भी तमारीमूनी स्कूल के अध्यक्ष हैं। इस स्कूल द्वारा मुहम्मद तिमीते और इशाक सघनूघू के जरिए अब भी विद्यार्थियों को इसनद दिए जाते हैं। लेकिन ऐसा लगता है कि बोन्दूकू में इसके बारे में कोई जानकारी नहीं है और वहाँ बाद में दो और सनदें जारी की गईं, जिन्हें अब्दल उमर बिन अल् हसन कुनाते ने प्राप्त किया। इसमें से पहली सनद तफसीर के बारे में है और उसमें उमर बिन अल् हसन कुनाते का जिक्र है जिनके अधीन अब्दल कादर तिमीते ने कोंग में अध्ययन किया था। दूसरी सनद इमाम मालिक के मुअत्ता के लिए है और यह मुहम्मद बिन इब्राहीम वतारा के जरिए आगे बढ़ती है, जो स्वयं अबू बक्र बिन इब्राहीम सघनूघू के विद्यार्थी थे और सम्भवतः बूना में शिक्षण-कार्य किया करते थे। जब कोई कारामोको अध्ययन अथवा नवीकरण पाठ्यक्रम के लिए कुछ समय अनुपस्थित रह कर दुबारा शिक्षण-कार्य आरम्भ करता है तो द्यूलाओं द्वारा उसे अरबी शब्द 'तजदीद' कह कर उसका वर्णन किया जाता है। तजदीद को द्यूला लोग बहुत आवश्यक मानते हैं क्योंकि उसके ज़रिए इधर-उधर विद्वानों से सम्पर्क स्थापित होता है और व्यापक मुस्लिम ज्ञान-विज्ञान का शिक्षण भी प्राप्त होता है। इसके जरिए द्यूला लोग एक प्रकार का रक्षा-कवच प्राप्त करते हैं, जिससे उनकी अपनी धार्मिक आस्थाओं पर आँच न आने पाए और वे चिर-नवीन बनी रहें। परन्तु तजदीद से यह बात प्रकट होती है कि इस्लामी ज्ञान-विज्ञान के सम्प्रेषण की श्रृंखला की पूरी जानकारी केवल इस्नदों के द्वारा नहीं

मिल सकती क्योंकि बाद में जो शृंखलाएं आरम्भ होती हैं उनके कारण प्राय: आरम्भिक शृंखला लुप्त हो जाती है जैसाकि इशाक सघनूघू द्वारा आरम्भ की गई तिमीते शृंखला का स्थान कुनाते और वतारा शिक्षकों की शृंखला ने ले लिया, जिससे तिमीते शृंखला बोन्दूकू से लुप्त हो गई, यद्यपि वह बा में बनी रही।

इस शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में तिमीते उलेमाओं के प्रमुख प्रतिनिधि सईद कुनन्दी थे। उनका जन्म लगभग १८५८ ईस्वी में हुआ था और १८९४ ईस्वी में वे बोन्दूकू के ९ वें इमाम नियुक्त किए गए। उनसे १९०२ ईस्वी में डेलाफास ने मुलाकात की थी। उसने अपने विवरण में बताया है कि वह उनके अरबी के पाण्डित्य से बहुत प्रभावित हुआ। लगभग दो दशाब्दियों के बाद मार्टी ने बोन्दूकू के सम्बन्ध में विवरण देते हुए बताया कि वे जिले में सबसे प्रमुख व्यक्ति माने जाते थे। वे इमाम तो थे ही शिक्षक और कादिरिया मकद्दम भी थे और इसके साथ ही साथ 'कोला' के कारोबार और पशु-व्यापार में भी काफी रुचि रखते थे। एक ऐसा भी परिपत्र मिला है, जिसमें उन्होंने बोन्दूकू क्षेत्र के मुसलमानों से, और विशेष रूप से तिमीते लोगों से, अपील की है कि वे मित्र देशों का समर्थन करें। इस परिपत्र में उन्होंने तुर्की की स्थिति पर खेद व्यक्त किया था।

कुनाते और वतारा के जरिए तिमीते सनदें बोन्दूकू में स्कूलों से जारी होती रहीं। इन्हें जारी करने वाले सईद कुनन्दी के दो शिष्य अबू बक्र बिन अल् हसन तिमीते और अल् हज्ज मुहम्मद बिन इब्राहीम थे। अबू बक्र को कारामोको साब्रूनी भी कहा जाता है और उनकी मृत्यु १९५७ में हुई। शिक्षक के रूप में उनकी बड़ी ख्याति थी, जिससे बहुत से द्यूला नगरों के विद्यार्थी पढ़ने के लिए उनके पास आते थे। उन्होंने नैतिक और धार्मिक तथा सामयिक विषयों पर बहुत सी कविताएं लिखी हैं। उनका कार्यभार अब उनके शिष्य और भतीजे मुहम्मद तिमीते अथवा साब्रूनी मुहम्मद ने संभाल लिया है। सईद के विद्यार्थियों में दूसरे विद्यार्थी अल् हज्ज मुहम्मद वर्तमान और ११ वें बोन्दूकू के तिमीते इमाम हैं और आधुनिक द्यूला विद्वानों में एक सबसे प्रसिद्ध विद्वान हैं।

उन्होंने १९५० के आसपास दो वर्ष तक काहिरा में अल् अज़हर विश्वविद्यालय में अध्ययन किया था और वे 'फतवे' के एक संग्रह के लेखक हैं।

६. उलेमाओं का योगदान

द्यूला लोग सार्वभौम साक्षरता के आदर्श को स्वीकार करते हैं यद्यपि उनकी रुचि आरम्भ में अरबी में थी और अब फ्रेंच तथा अंग्रेजी में होती जा रही है। १९वीं शताब्दी में उनके अनेक समुदायों के अन्तर्गत काफी अच्छी साक्षरता पाई जाती थी। लेकिन जहाँ कुरान का पाठ सिखाने वाले संस्थानों के ज़रिए सामान्य साक्षरता में कोई बाधा नहीं थी वहीं उच्चतर शिक्षा का विकास आर्थिक परिस्थितियों से सम्बद्ध था और इसीलिए वर्ग के रूप में उलेमाओं की संख्या बहुत बड़ी नहीं थी। उदाहरण के लिए मार्टी के अनुसार १९१९ में कोंग और उसके पास पड़ौस में केवल ३९ शिक्षक थे, बोन्दूकू और उसके आसपास ३८ शिक्षक थे और बूना तथा उसके पास पड़ौस में २२ शिक्षक थे। इस प्रकार के अपेक्षाकृत समृद्ध नगरों में बहुत से लोग, जो अध्यापन कार्य नहीं भी करते थे, उच्चतर शिक्षा पा चुके थे। लेकिन कारामोको लोगों की कुल संख्या शिक्षकों से अधिक नहीं होती थी। उलेमा लोग शहरी आबादी का बहुत छोटा सा भाग होते थे और किसी प्रदेश की कुल आबादी में उनकी संख्या नगण्य होती थी।

माँग और पूर्ति के सिद्धान्त पर कारामोको लोगों के प्रशिक्षण पर विचार करना इस निबन्ध की सीमा से बाहर है। लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि अगर बुनियादी आर्थिक विकास होता रहता था तो विद्वानों की भी मांग बढ़ जाया करती थी। उदाहरण के लिए अगर कोई समुदाय पहले निर्वाह योग्य आर्थिक स्तर ही प्राप्त कर सका लेकिन बाद में उसने बिक्री योग्य सामग्री तैयार कर ली तो वह यह भी निश्चय कर सकता था कि किसी कारामोको को आमंत्रित करे। उस दशा में एक प्रतिनिधिमण्डल निकटतम नगर को भेजा जाता था जो वहाँ के इमाम से अनुरोध करता था कि वह उपयुक्त कारामोको की खोज करे। यह प्रक्रिया न केवल साक्षरता

के विकास के लिए महत्वपूर्ण है बल्कि इस्लाम के प्रसार के लिए भी, क्योंकि अक्सर न केवल मुस्लिम समुदाय बल्कि गैर मुस्लिम समुदाय भी कारामोको की उपलब्धि को लाभदायक मानते थे। कई वर्षों तक उत्तर पश्चिमी घाना में करीप्रे के इसाला गाँव में मैंने इसी प्रकार का एक उदाहरण देखा, जबकि वहाँ के गैर मुस्लिम निवासियों ने २५ मील दूर स्थित नगर वालिमबेले के अधिकारियों से एक कारामोको का प्रबन्ध करने के लिए अनुरोध किया। सौभाग्य से उन्हें कारामोको सबाते सिसे की सेवाएँ प्राप्त हुईं, जिन्होंने १९२८ से १९३४ तक कोंग में अल् हज्ज अल् कासिम सघनूघू से शिक्षा प्राप्त की थी। कारामोको सबाते ने करीप्रे में एक छप्परदार मस्जिद बनाई और वहाँ पहली बार कुरान सिखाने का स्कूल खोला। आज गाँव के कुछ बड़े-बूढ़े वहाँ नमाज पढ़ने जाते हैं और रमजान का रोज़ा रखते हैं और उनके बहुत से बच्चे, उस समय को छोड़ जब कि खेतों में उनकी सहायता की जरूरत होती है, नियमित रूप से पढ़ने जाते हैं। कारामोको सबाते ने अपने बड़े भाई को 'तफसीर' की शिक्षा दी है यद्यपि उनके बड़े भाई गाँव में नहीं रहते। उन्होंने अपने छोटे भाई को कोंग भेजा है। कालान्तर में दोनों ही भाई इमाम होने पर करीप्रे में बस सकते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति का विवरण मुंगो पार्क ने दिया है जो १७९७ में छः महीने तक कमालिया में रहा था। कमालिया एक गैर-मुस्लिम मालिंके गाँव है, जो काँगाबा के निकट बसा हुआ है। इस गाँव की बाहरी बस्तियों में कुछ मुसलमान व्यापारी और उलेमा बस गए थे। पार्क को रहने के लिए एक शिक्षक फुँकूमा के मकान में जगह मिली, जिसका पुस्तकालय काफी बड़ा था और जो १७ लड़के-लड़कियों को कुरान और अरबी की शिक्षा देता था। ये लड़के-लड़कियां अधिकांशतः गैर-मुस्लिम थे और पार्क ने लिखा है कि उनके अभिभावक अपने बच्चों के सुधार और खुशहाली के लिए उन्हें पढ़ने के लिए भेजते थे। १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बिंजर ने एक दिलचस्प विवरण देते हुए बताया कि किस प्रकार कोंग के उलेमा गैर मुस्लिम देहाती आबादी में स्कूलों की स्थापना करके अपने प्रभाव का विस्तार किया करते थे। बिंजर लिखता है :

उन्होंने जगह-जगह पर कोंग से बोबो द्यूलासो ग्रौर जेने तक सड़क के दोनों ओर के सभी गाँवों में कोंग परिवारों को बसा दिया है। ५० वर्षों में उन्होंने प्रत्येक गैर-मुस्लिम गाँव में एक या दो माण्डे परिवारों को बसाया है। इन सभी प्रवासियों ने एक स्कूल का संगठन किया है और ग्रामवासियों से कहा है कि वे अपने बच्चों को इन स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजें। इसके बाद धीरे-धीरे एक ओर तो कोंग से अपने सम्बन्धों के कारण और दूसरी ओर व्यापारिक केन्द्रों से सम्पर्क रखने के कारण इन प्रवासियों ने जिले के गैर-मुस्लिम प्रधान की विभिन्न प्रकार से सेवाएँ कीं, उसका विश्वास प्राप्त किया और अप्रत्यक्ष रूप में उसके क्रिया-कलाप में अपने आप को शामिल कर लिया।

हाल के वर्षों में कारामोको अपने नगरों को छोड़कर दूर के स्थानों में जा बसने के प्रति स्पष्ट रूप में अनिच्छुक रहे हैं क्योंकि वे इन दूर के स्थानों में नल का पानी और नित्य प्रति की आवश्यकताओं की सभी चीजें और अन्य सुविधाएँ नहीं पा सकते। मुझसे अक्सर गाँव के बड़े-बूढ़ों ने कहा कि मैं उनकी ग्रोर से निकट के नगरों के अधिकारियों से बातचीत करूं और उन्हें राजी करूँ कि वे ऐसे किसी कारामोको की खोज करें जो उस गाँव में बसने के लिए इच्छुक हो। ऐसी हालत में कभी-कभी कोई गैर-मुस्लिम समुदाय ग्रपने ही एक सदस्य को नगर में शिक्षा के लिए भेज देता है, जिससे वह लौट कर गाँव में शिक्षा-कार्य चला सके।

उत्तरी अफ्रीका के कुछ भागों में जो स्थिति है उसके विपरीत पश्चिमी अफ्रीका के द्यूला क्षेत्र में कारामोको लोगों की संख्या इतनी नहीं है कि उन्हें माँग होते ही आसानी से सभी जगह भेजा जा सके। इसीलिए परिब्राजक लोगों का अभाव है और अगर ऐसे घुमन्तू पवित्र व्यक्ति पाये भी जाते हैं तो वे परदेसी होते हैं। वस्तुतः इस क्षेत्र में जितनी माँग है उतनी पूर्ति नहीं हो पाती और कारामोको लोगों की काफ़ी कमी बनी रहती है। इसके सम्भवतः दो कारण हैं : एक तो यह कि जेहाद के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर लोगों को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए विवश या राज़ी करने के कारण बहुत

बड़ी संख्या में कारामोको लोगों की माँग हुई, जिससे वे नई मस्जिदें, स्कूल और अदालतें खोल सकें। लेकिन जब यह माँग पूरी नहीं हो पाई तो पश्चिमी अफ्रीका में जेहाद जैसे आन्दोलनों का क्रान्तिकारी जोर घटने लगा और नए नेतृत्व में पुराने संगठनात्मक स्वरूपों का फिर से उदय हुआ। परन्तु इस शताब्दी में कारामोको लोगो की बढ़ती हुई मांग का कारण शहरों में आबादी की वृद्धि है। विशेष रूप से आइवरी कोस्ट और घाना के खान और व्यापार केन्द्रों की ओर से द्यूला नगरों से बहुत से लोग गए हैं और प्रत्येक समुदाय जब किसी नई जगह अच्छी तरह बस जाता है तो वह अपने मूल नगर से यह आशा करता है कि वहाँ से कोई इमाम शिक्षकों के साथ उनके बीच में आ बसेगा। कुछ उलेमाओं ने इस चुनौती को स्वीकार करते हुए उच्चतर अध्ययन के कार्यक्रम बनाये हैं और उनका विस्तार किया है। इस प्रकार बोबो द्यूलासो के मुफ़ती अल् हज्ज मुहम्मद सघनूघू ने १९६६ तक २१४ विद्यार्थियों को तफसीर के स्नातक बना दिया था और इनमें से बहुत से विद्यार्थी बड़े शहरों में शिक्षक बन गए थे। सलागा के अल् हज्ज उम्र बिन अबी बक्र और केते क्राकये के ५६ विद्यार्थियों में से २२ विद्यार्थी बाद में ऐसे नगरों में बस गए, जिनकी आबादी ढाई हजार से बारह हज़ार तक थी, १० विद्यार्थी १२ हजार से ४० हजार के बीच की आबादी वाले नगरों में बस गए और १८ विद्यार्थी ४० हजार से ऊपर की आबादी वाले नगरों में।

पश्चिमी सूडान के समाज की एक विशेषता यह है कि उसके अन्तर्गत जातियों का अस्तित्व है। संक्षेप में इन जातियों का विभाजन विशिष्ट कार्यों, जैसे कुम्हारी, चमड़े का काम आदि के आधार पर, होता है। शादी विवाह के ढंग, सामाजिक मेल-मिलाप, रीति-रिवाज, अनुष्ठान और विधि-निषेध—इन सभी स्तरों पर उनके बीच सामाजिक अन्तर प्रकट होता है। जिस प्रकार भूमि के मालिक किसी समूह का अधिकार-क्षेत्र निश्चित होता है उसी प्रकार जिस समूह को किसी कला-कौशल में दक्षता प्राप्त होती है उस कला-कौशल को अपनाने वालों पर उस समूह का अधिकार माना जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में उलेमा भी एक तकनीकी क्षेत्र अर्थात्

लेखन पर अधिकार रखते हैं, जिसके अन्तर्गत अक्षर-ज्ञान के अलावा कलम, दवात, कागज़, पट्टी आदि की उपलब्धि भी आ जाती है। पश्चिमी सूडान की परम्परा के अनुसार उलेमाओं को काफी ऊँचा दर्जा मिला हुआ है और वे शासक समूहों के अन्तर्गत सरकारों या सामन्तों के बाद ही आते हैं तथा कारीगर वर्ग से ऊपर माने जाते हैं। अपने तकनीकी साधनों और जानकारी के कारण उलेमाओं को आरम्भिक सूडानी राज्यों जैसे—माली, सोंघाई, बोर्नू आदि में इस्लामी अदालतों में बड़े महत्व का व्यक्ति माना जाता था। उन्हीं के जरिये लिखा-पढ़ी होती थी और रेकार्ड रखे जाते थे। प्राय: उनका राजनीतिक महत्व और सत्ता भी होती थी क्योंकि वे राज सिंहासन के निकट होते थे। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में उलेमाओं की स्थिति महान् गैर-मुस्लिम राज्यों में भी महत्वपूर्ण मानी जाने लगी। उदाहरण के लिए पार्क ने १८०५ में लिखा था कि सेगु के बम्बारा राज्य में, जो गैर-मुस्लिम राज्य था, एक मुस्लिम प्रधान मन्त्री था। अन्यत्र यह बताया गया है कि उसी काल में अशान्ती राज्य की अदालत में द्यूला तथा अन्य स्थानों के उलेमाओं का कितना प्रभाव था। लेकिन पश्चिमी सूडान के उलेमाओं ने यह शायद ही कभी माना हो कि उनके साधन शासक वर्गों के इशारे पर प्रयोग के लिए हैं। वे यही मानते आए हैं कि जो मुस्लिम धर्म के प्रति वफ़ादार हैं उन्हीं समुदायों के लिए मुख्य रूप से उनकी सेवाएँ अर्पित हैं। ऊपर बताया जा चुका है कि धर्म-निरपेक्ष राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेने के प्रति द्यूलाओं में अनिच्छा की ही भावना होती थी। इसीलिए पश्चिमी सूडान में उलेमाओं ने समाज में अपना ऊँचा स्थान बनाए रखने के लिए एक ओर तो स्थानीय रीति-रिवाजों को बनाए रखने का प्रयत्न किया है और दूसरी ओर सार्वभौम मुस्लिम सम्प्रदाय के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने का प्रयत्न किया है। द्यूलाओं के लिए इस प्रकार का समन्वय आवश्यक रहा है क्योंकि उन्हें इसी प्रकार अपने से भिन्न समाजों में अपना अस्तित्व बनाए रखने में सफलता मिल सकती है।

द्यूला कारामोको अपने आप को 'सुन्ना' के संरक्षक बताते हैं अर्थात् वे उस जीवन-पद्धति के संरक्षक हैं जो पैगम्बर हजरत

मुहम्मद द्वारा बताई गई पद्धति पर आधारित है। समाज में उनका स्थान नेता का है और उन से आशा की जाती है कि वे सामाजिक और नैतिक मार्गदर्शन करते रहेंगे। इसीलिए उलेमा वर्ग में भर्ती के लिए तीन ग्रन्थों का ज्ञान आवश्यक माना जाता है। एक तो कुरान की व्याख्या के रूप में तफसीर अल् जलालियान का, दूसरे, कानूनी मामलों की व्याख्या से सम्बद्ध इमाम मालिक की मुअत्ता का और तीसरे, इयाद बिन मूसा की अलशिफा का, जिसमें हज़रत पैगम्बर द्वारा निर्दिष्ट जीवन-पद्धति की व्याख्या की गई है। मार्ग-दर्शन विभिन्न संस्थाओं द्वारा किया जाता है जैसे बीच-बचाव करने वाली अदालतें, जिनके द्वारा इजमा के आधार पर फतवे दिए जाते हैं, लेकिन मुख्य रूप से यह दिशा-दर्शन शैक्षिक ढाँचे के द्वारा होता है, जो इस निबन्ध का विषय है। यह ठीक ही है कि द्यूला कारामोको लोगों ने समाज में शिक्षित प्रबुद्ध वर्ग अर्थात् उलेमाओं के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव की, जिसे उन्होंने इस्लामी मूल्यों और मानदण्डों की सुरक्षा के लिए पूर्णतः यथेष्ट तो नहीं परन्तु आवश्यक माना क्योंकि पूर्ण यथेष्टता तभी हो सकती थी जबकि एक ओर प्रबुद्ध वर्ग हो तो दूसरी ओर जिसका वह नेतृत्व करता है वह बहुसंख्यक वर्ग मोटे तौर पर पढ़ा-लिखा हो। लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व इसी बात पर जोर देते हुए मंगो पार्क ने लिखा था : "विभिन्न नगरों में, जहाँ बहुत से गैर-मुस्लिम और मुस्लिम साथ-साथ मिल कर कुरान पढ़ते हैं, छोटे-छोटे स्कूलों की स्थापना कर के और हज़रत मुहम्मद के उपदेशों की सीख दे कर मुस्लिम धार्मिक नेताओं ने लोगों के मन को मोड़ने के लिए आधार तैयार किया और बालक शिष्यों के चरित्र को एक दिशा दी, जिसे बाद में कोई भी आकस्मिक घटना बदल नहीं सकती।"

द्यूला लोग नेतृत्व की असफलता इस बात में मानते हैं कि किसी व्यक्ति के प्रयत्न के बावजूद किस हद तक लोग इहमाल और कुफ़्र की तरफ कुछ झुक गए हैं अर्थात् किस हद तक उन्होंने धार्मिक विश्वासों को मानना छोड़ दिया है या उससे अलग हट गए हैं। इस सम्बन्ध में तथ्य मालूम करना कोई कठिन नहीं माना जाता। उदाहरण के लिए मुस्लिम शरियत का प्रयोग शादी,

तलाक, विरासत आदि के सिलसिले में होता है। इनसे सम्बद्ध लिखित शब्द का मूल्य इसलिए नहीं है कि वह सम्प्रेषण का माध्यम है बल्कि इसलिए है कि उसके अन्दर तन्त्रात्मक गुण और शक्तियाँ देखी जाती हैं और लेखनकला, यदि वह पूर्णतः भुला नहीं दी जाती, एक छोटे से वर्ग की गोपनीय कला बन जाती है, जिसके प्रति लोगों में आदर की बजाय सम्भ्रम का भाव ही अधिक रहता है। अक्सर यह हो सकता है कि कुरान को लोग अपने आप में पवित्र पोथी मानने लगें और उसे पढ़ने के बजाय केवल उसकी पूजा करना आरम्भ कर दें और उसके दर्शन लोगों को वर्ष में एक ही बार करने दिए जाएँ जैसा कि उत्तरी घाना में लाराबंगा के कमारा लोगों में होता है। यह भी हो सकता है कि रमज़ान में जो रोज़ा रखा जाता है वह इसलिए न रखा जाए कि इस्लाम धर्म वैसा करने के लिए कहता है बल्कि इसलिए रखा जाए कि किसी समूह की परम्परागत एकता की अभिव्यक्ति के लिए वह आवश्यक है। द्यूला लोग यह मानते हैं कि जब इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ प्रकट होने लगें तो वे मुख्य धारा से अलग-थलग हो जाने का परिणाम होती हैं और इसीलिए ऐसे समूहों को मुख्य धारा से जोड़ने के लिए तजदीद अर्थात् इस्लामी विद्या के नए सिरे से उत्थान के प्रयत्न किए जाते हैं, जिसके अन्तर्गत अन्य मुस्लिम समुदायों के विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया जाता है और युवा तथा वृद्धों और महिलाओं के लिए भी मक्का की तीर्थयात्रा आयोजित की जाती है।

प्रायः ऐसा भी हुआ है कि इस्लाम धर्म से इस प्रकार कट जाने के बाद कोई समूह ग़ैर-इस्लामी बन गया है और उसने ग़ैर-द्यूला संस्कृतियों को अपना लिया है। लेकिन सामान्यतः जो द्यूला समूह अपने मूल स्थानों को छोड़ कर इधर-उधर जा बसे हैं उन्होंने न केवल अपनी संस्कृति में इस्लामी विषय-वस्तु को यथावत् बनाए रखा है बल्कि अपने पास पड़ोस में ग़ैर-मुस्लिमों पर अपने नेतृत्व का दिनों दिन अधिक विस्तार किया है। बहुत से प्रेक्षकों का ध्यान इस ओर गया है। इस प्रकार मार्टी ने इस शताब्दी के आरम्भ में देखा कि किस प्रकार इमाम सईद कुनन्दी तिमीते का न केवल बौन्दूकू और उसके आसपास के माण्डे-द्यूला मुस्लिम समुदाय तथा

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों पर बहुत अधिक प्रभाव था बल्कि उन गैर-मुस्लिम लोगों और सरदारों पर भी जो एब्रान और सुलाँगों क़बीलों के थे और जो उनसे परामर्श लेने के लिए आया करते थे। मार्टी ने अनुमान लगाया कि यह इस्लाम के प्रति फ्रांसीसियों की औपनिवेशिक नीतियों का परिणाम था। लेकिन उससे पहले १८८८ में बिंजर ने लिखा था कि कोंग के आसपास के राज्यों में गैर-मुस्लिम गाँवों के मुखिया भी कोई निर्णय करने से पहले निकटतम कारामोको से परामर्श अवश्य कर लिया करते थे।

अन्त में मैं बोबो द्यूलासो के मुफ़्ती उल् हज्ज मुहम्मद सघनूघू के प्रति अपना आभार प्रकट करना चाहूँगा। वे ऐसे व्यक्ति हैं, जो शताब्दियों पूर्व से चली आ रही बौद्धिक जागृति और नेतृत्व की परम्परा को बनाए हुए हैं और एक आदर्श द्यूला उलेमा हैं। उनके अनेक लेखों से और उनकी वाणी से मैंने जो कुछ प्राप्त किया है उसी पर इस निबन्ध का अधिकांश भाग आधारित है।

उत्तरी घाना में सीमित साक्षरता

इस्लामी साक्षरता से सम्बद्ध दूसरा निबन्ध भी पश्चिम अफ्रीका के सम्बन्ध में हैं। इस निबन्ध में उस क्षेत्र का एक भाग लिया गया है, जिस पर विल्क्स के निबन्ध में विचार हुआ है। यह भाग है उत्तरी घाना। प्रयत्न यह किया गया है कि असाक्षर कबीलों और अंशतः साक्षर राज्यों पर लेखन के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए इस भाग को ऐकान्तिक सामाजिक क्षेत्र माना जाए। इस उद्देश्य से मैंने क्रमशः लो डगा और गोंजा के उदाहरण लिए हैं। लेखन-कला के अतिरिक्त अन्य तत्वों का निर्देश करने का भी प्रयत्न किया गया है जो साक्षरता को सीमित बनाते हैं।

उत्तरी घाना में सीमित साक्षरता

जैक गूडी

बहुत से समाज शास्त्रियों ने प्रायः जिन इकाइयों का स्वायत्त और पृथक रूप में अध्ययन किया है उन्होंने सामाजिक क्रिया-कलाप के महत्वपूर्ण क्षेत्रों की उपेक्षा कर दी है। जिन गैर-यूरोपीय समाजों का अध्ययन करने के लिए बाहर के लोग वहाँ औपनिवेशिक शासन के जरिए पहुँचे वे उस समय तक जड़ समाज बन चुके थे। लेकिन विश्व के कुछ भागों को छोड़ शेष स्थानों में सामाजिक सम्बन्धों की यथार्थता की यह मांग है कि प्रत्येक समाज, प्रत्येक कबीला और प्रत्येक बस्ती अपने निकटस्थ समाजों, कबीलों और बस्तियों से अन्तर्ग्रथित मानी जाए और उसका अध्ययन करते हुए आसपास के लोगों को और आस-पास के नगरों और गाँवों के पारस्परिक प्रभाव को, दूरवर्ती व्यापार की प्रगति को और व्यापक धार्मिक सम्बन्धों को भुलाया न जाए।

यदि हम इस रूप में उत्तरी घाना को देखें तो हम पायेंगे कि वहाँ एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ अनेक राज्य अथवा मुखियाविहीन कबीले अनेक संदर्भों में एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। सैनिक दृष्टिकोण से उस क्षेत्र में गोंजा, माम्प्रूसी, डागोम्बा और वा तथा नानुम्बा राज्य प्रमुखता से छाए रहे। उनके अधीन घुड़सवार सेना होने के कारण इन राज्यों के शासकों ने भीतरी भागों के अनियंत्रित प्रदेशों पर लगातार हमले किए और वहां से गुलामों को पकड़ कर लाया गया, जिन्हें या तो अपने ही लिए रखा गया या बाहर भेज दिया गया।

इन राज्यों में मुख्यतः चार वर्ग थे: शासक वर्ग; सामान्य

व्यक्ति अर्थात् विजित कबोले के लोग; गुलाम, जिन्हें क्रमशः समाज में मिला लिया गया और मुसलमान।

मुस्लिम वर्ग के अतिरिक्त, जिसके अन्तंगत अधिकांशतः अनेक पतृक समूहों के लोग थे जो या तो पश्चिमोत्तर के माण्डे कुल के थे या पूर्वोत्तर के हौसा कुल के थे, अन्य वर्गों के वे लोग भी थे जिन्होंने मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया था। इन में गुलाम भी थे और शासक वर्ग के लोग भी। कुछ कबीलों के सरदारों ने भी मुस्लिम धर्म स्वीकार किया हालांकि इस प्रकार की कार्रवाई से उन्हें उन भागों के लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में कठिनाई होती थी जो मुस्लिम धर्मावलम्बी नहीं थे और इस प्रकार के धर्म-परिवर्तनों को जनता द्वारा प्रोत्साहन नहीं मिलता था। सहारा मरुस्थल के आस-पास के प्रदेशों के विपरात इस क्षेत्र में सर्वत्र राजनीतिक और धार्मिक द्वैध भाव पाया जाता था। स्थानीय लोगों द्वारा मुस्लिम धर्म को स्वीकार करने के अलावा ऐसे समूह भी यहाँ थे जो अजनबी थे और जिनमें मुख्यतः मुस्लिम व्यापारी थे। इनकी ओर हमें विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि प्रायः इस प्रकार के अजनबी समूहों की स्थिति पर ही साक्षरता के प्रश्न का समाधान निर्भर करता है।

अशान्ती प्रदेश में अनेक महत्वपूर्ण व्यापारिक नगर बसे हुए थे। प्राकृतिक तौर पर ये नगर उन गाँवों से बहुत भिन्न नहीं थे जिनके बीच वे बसे हुए थे। अन्तर इतना ही था कि वे आकार में अधिक बड़े थे और उनमें एक या एक से अधिक मस्जिदें होती थीं, जो प्रायः आकर्षक सूडानी शैली की होती थीं। लेकिन यह धूल, मिट्टी और ईंट के बने नगर व्यापार के काफी बड़े केन्द्र और विस्तृत क्षेत्र के लिए आरम्भ-बिन्दु थे जहाँ से जंगलों की मुख्य पैदावार, सोना और कोयला तथा मुख्य यूरोपीय आयात का विनिमय पशुओं, खनिजों और उत्तरी भाग में निर्मित वस्तुओं के साथ होता था।

दूर-दूर तक फैले इस व्यापार का विस्तार सहारा के उस पार बारबरी तट तक और उसके बाद यूरोप और मध्य पूर्व तक था और इस व्यापार का संचालन करने वाले सभी मुख्य लोग सलमानमू थे। वस्तुतः सम्पूर्ण व्यापार-मार्गों पर केवल मुसलमान ही अपने

धर्मावलम्बियों को अपने पार-पत्र और परिचय-पत्र दिखा कर व्यापार कर पाते थे। इसके परिणामस्वरूप पश्चिमी सूडान में जहाँ-तहाँ छोटे-बड़े मुस्लिम समुदाय और कहीं-कहीं बड़े-बड़े समुदाय और बस्तियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती रहती थीं। इसके परिणामस्वरूप मुस्लिम विद्या अगर कुछ समय के लिए लुप्त भी हो रही हो तो भी वह हमेशा नए सिरे से पनपती रहती थी।

व्यापार और इस्लाम के इस व्यापक प्रसार का उतरी घाना के उपनिवेशपूर्व समाजों पर गहरा असर पड़ा। इसका वर्णन बिन्जर ने किया है, जिसने सन् १८८८ में सलागा के गोन्जा नगर की यात्रा की थी। उस समय गोन्जा नगर पहले की तरह बहुत बड़ा व्यापारिक केन्द्र तो नहीं रह गया था क्योंकि अशान्ती लोगों ने अपने कोयले के निर्यात के लिए, १८७४ में अपने प्रतिनिधियों की हत्या के कारण, अब किनटाम्पू नगर को चुन लिया था। फिर भी उत्तर से आने वाले कोयले के व्यापारी प्रायः गोन्जा से हो कर गुजरते थे और वह नगर उस समय भी विद्वानों का मिलन-स्थल था और वहाँ काफ़ी साहित्यिक गतिविधियाँ चलतीं रहती थीं। बिन्जर से मिलने के लिए आने वालों में टिम्बकटू के शरीफ इब्राहीम थे, बौर्नू के अल् हज्ज मुहम्मद हत्ती थे और हौसा वंश के अल् हज्ज जाबिरी थे। ये तीनों मक्का की यात्रा कर चुके थे और कहा जाता है कि उन दिनों यह यात्रा सात वर्ष में पैदल चल कर पूरी की जाती थी। इस प्रकार उन्होंने भूगोल की काफ़ी जानकारी प्राप्त कर ली थी। उन्होंने फ्रांस और मार्सेल नगर के बारे में सुना था और वे जानते थे कि हमारे अधिकार में अफ्रीका के उत्तरी और पश्चिमी भागों में काफ़ी बड़े इस्लामी प्रदेश हैं। वे अक्सर हमें इस्ताम्बूल के सुल्तान के मित्र कहा करते थे। अल् हज्ज हत्ती ने त्रिपोलीतानिया और तूनीसिया की यात्रा की थी और अल् हज्ज जाबिरी ने, जो इस्ताम्बूल में रहे थे, बग़दाद और ईराक़ तक की यात्रा की थी।

इन मुस्लिम तीर्थ यात्रियों, शाही हमलावरों और दूर-दूर तक व्यापार करने वालों की गतिविधियों का अर्थ यह था कि उत्तरी

घाना के सबसे सरल समाजों को भी लेखन के अस्तित्व का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य था और उन्हें पूर्ण या आंशिक साक्षर समाजों की भी जानकारी थी। इस प्रकार के समाजों के प्रति अक्सर शासनविहीन समुदायों का रुख़ बहुत विरोधी हुआ करता था क्योंकि इन समाजों के मुखिया और व्यापारी ही हमले करके गुलामों को पकड़ ले जाते थे या राजनैतिक प्रभुत्व जमाते थे। इसके बदले में शासनविहीन क़बीले अक्सर उन व्यापारिक दलों को लूट लेते थे जो उनके गाँव के पास से गुजरते थे और इस तरह खून का बदला खून से और लूट का बदला लूट से चुकाया जाता था।

इन सम्पर्कों से उत्तरी घाना की संस्कृतियों पर क्या प्रभाव पड़ा इस सम्बन्ध में नीचे जो विवरण दिया जा रहा है वह लो डगा और गोन्जा लोगों के बीच मेरे कार्य पर आधारित है। मैं पहले मुखिया विहीन समुदाय पर विचार करूँगा। इन विधर्मी कृषकों की शव यात्रा का विवरण प्रस्तुत करते हुए मैं पहले बता चुका हूँ कि केन्द्रीयकृत समाजों में मुखियाओं द्वारा जो मुस्लिम पोशाक पहनी जाती थी उसका प्रयोग इन क़बीलों या समुदायों के लोग शव यात्रा के समय शवों को ढकने के लिए किया करते थे। जाहिर है कि राज्य व्यवस्थाओं के इन शत्रुओं के मन में भी मुखियाओं के प्रति आदर की भावना होती थी क्योंकि मुखिया लोगों का सम्बन्ध वे सम्पन्नता और सत्ता के प्रदर्शन से जोड़ते थे जो व्यापार और आक्रमण के रूप में व्यक्त होता था। जहाँ तक स्वयं लेखन का सम्बन्ध है, लो डगा लोगों के लिए लिखित शब्द जादू जैसा प्रभाव रखता था। बिरिफू में मेव के घर के सामने एक तख्ता लगा हुआ था, जिस पर धागे से बहुत से काग़ज़ के टुकड़े लटक रहे थे। इन टुकड़ों पर अरबी लिपि में कुछ अक्षर लिखे हुए थे। कागज़ के इन टुकड़ों को घुमन्तू मुल्लाओं से प्राप्त किया गया था। इस्लाम धर्मावलंबियों की भाँति मेव का अब भी विश्वास था कि इन कागज़ के टुकड़ों में जो कुछ लिखा हुआ है उसमें ईश्वरीय शक्ति है और यह ईश्वर मुसलमानों का अल्लाह ताला भी है और ईसाइयों को जेहोवा भी। लेकिन मेव अपने को पैगम्बर का अनुयायी नही मानता था, कम से कम उस हालत में तो बिल्कुल नहीं जबकि

उसे अपने परम्परागत विश्वासों को त्यागने के लिए कहा जाए। कागज़ के उन टुकड़ों का उसके मन में इसलिए सम्मान था कि वह समझता था कि मुसलमानों के पास लिखने की क्षमता होने के कारण वे पारलौकिक सम्प्रेषण के प्रभावशाली माध्यम के स्वामी हैं और लौकिक सम्वाद-प्रेषण भी कर सकते हैं। इस तथ्य के कारण कि लेखन द्वारा मनुष्य समय और स्थान की बाधाओं को पार कर एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर सकता है यह विश्वास और दृढ़ हो जाता है कि लेखन दूरवर्ती देवताओं से सम्पर्क स्थापित करने का एक प्रभावशाली माध्यम है।

१८१७ में जब अफ्रीका कम्पनी के एक कर्मचारी बावडिच ने कुमासी की यात्रा की तो उसने देखा कि लोग अक्सर चमड़े के तावीज़ अथवा साफी पहनते हैं। इन तावीजों के अन्दर एक कागज़ में अरबी के कुछ अक्षर लिखे होते हैं और अक्सर वह कुरान की कोई आयत होती है! इन तावीज़ों के प्रयोग के कारण मुलसमानों के बीच कागज की बहुत माँग होती थी। कोपेनहेगेन पांडुलिपियों के अन्तर्गत कुमासी और गोन्जा के मुसलमानों के बीच लिखा-पढ़ी के जो अभिलेख मौजूद हैं उन में न केवल जादू टोने और तावीजों का जिक्र है बल्कि उन्हें तैयार करने के लिए कागज़ की सप्लाई की चर्चा भी की गई है।

साफी एक मैनडिंगो शब्द है जिसका अर्थ है लिखित तन्त्र-मन्त्र। अरबी में इसे हिर्ज़ कहा जाता है। इसी प्रकार के तावीज़ सम्पूर्ण मध्य-पूर्व में तथा मैसोपोटामिया में पाए जाते थे। ग्रीक भाषा में उन्हें फ़ाइलैक्टरी कहते थे तो लैटिन में एम्यूलेट और यहूदियों की भाषा में कीमिया। ये तावीज चमड़े के छोटे बक्स के आकार के होते थे जिनमें हेब्रू भाषा में कुछ शब्द लिखे होते थे। उन्हें प्रातःकालीन प्रार्थना के समय पहना जाता था। तावीज़ पहनने की प्रथा दूरवर्ती बौद्ध धर्मावलम्बी तिब्बत में भी प्रचलित थी। इस प्रकार अलौकिक शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने के माध्यम के रूप में लेखन के मूल्य को सम्पूर्ण उत्तरी घाना में राज्य विहीन समुदायों में भी और शासन-युक्त समूहों में भी स्वीकार किया जाता था। उन्हें विधर्मी कहे जाने वाले लोग भी मानते थे और मुस्लिम लोग भी। निरक्षर लोग भी

और अंशत: साक्षर लोग भी। इसके साथ ही अफ्रीकी धर्मों के उदार होने के कारण प्रत्येक ऐसा नया विश्वास या आचरण उनके अन्तर्गत स्थान बना लेता था, जिसका व्यावहारिक मूल्य हो और जिससे मनुष्य की विविध समस्याओं के हल करने में सहायता मिलती दिखाई दे। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं कि उत्तरी घाना में सभी प्रकार के विचारों के मुखियाओं और कबाइली सरदारों ने इस प्रकार के हैट खरीदने शुरू किए जिन पर साफो अथवा चाँदी के काम वाले तावीज़ सिले हुए थे क्योंकि यह माना गया कि उस हैट को पहनने से पदाधिकारी की शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ जाएगी और संकट से उसकी रक्षा होगी। अशान्ती लोगों में महान युद्धकालीन चोगे पहनने की प्रथा चल पड़ी क्योंकि यह माना गया कि तावीज़ से युक्त ये चोगे शत्रु की गोलियों को अपने पास नहीं फटकने देंगे। धीरे-धीरे इस प्रकार के लम्बे कोट किसी मुखिया के वस्त्रागार की सबसे अधिक कीमती वस्तु माने जाने लगे और इस प्रकार साक्षर लोगों ने असाक्षर लोगों के लिए यह सबसे अधिक मूल्यवान सेवा प्रदान की। इसके सम्बन्ध में बाउडिच ने अपने १८७० के कुमासी अभियान के संदर्भ में इस प्रकार वर्णन किया है :

"अशान्ती लोगों का सबसे आश्चर्यजनक अन्धविश्वास यह है कि उन्हें तावीजों या साफियों में बहुत अधिक आस्था है और वे उन्हें मूर लोगों से बहुत अधिक धन दे कर खरीदते हैं। उनकी इस आस्था का कारण यह है कि वे समझते है कि ये तावीज़ पहन कर वे युद्ध में अजेय बन जाएँगे और शत्रुओं का विनाश कर सकेंगे। वे समझते हैं कि इनके प्रभाव से दुश्मनों के हथियार काँपने लगेंगे और गोलियाँ अपना रास्ता भूल जाएंगी। वे यह भी मानते हैं कि तावीज़ों से स्त्री और पुरुष दोनों की क्षमता बहुत अधिक बढ़ जाती है और वे बीमारी तथा मृत्यु के सिवा और सभी विघ्न-बाधाओं को दूर कर सकते हैं।"

युद्ध के जिन चोगों पर ये तावीज़ सिले हुए होते थे वे कीमती होने के साथ-साथ पहनने में भी बहुत असुविधाजनक होते थे। इसी प्रकार के वस्त्रों के विषय में एक लेखक जैनेविवन ने, जिसने मैनडिंगो क्षेत्र की यात्रा १६३७ में की थी, लिखा है कि इन चोगों के कारण

उन्हें अपने शरीर-संचालन में इतनी कठिनाई होती है कि अक्सर वे बिना सहायता के घोड़े की पीठ पर भी नहीं बैठ सकते। 'इस प्रकार हालांकि कोई कारण नहीं था फिर भी इन चोगों को पहन कर अशान्ती लोग बड़ी आध्यात्मिक और शारीरिक राहत प्राप्त करते थे और कई अशान्ती सेनापतियों ने मुझ से कहा कि मैं उन पर गोली चलाऊँ क्योंकि उन्हें विश्वास था कि उन पर गोली का कोई असर नहीं होगा।' इसी विश्वास के कारण वे बड़े हास्यास्पद सैनिक अभियान भी कर डालते थे। अशान्ती लोगों का विश्वास है कि मूर लोग लगातार प्रार्थना करके देवताओं से सम्पर्क स्थापित करते हैं और उनसे शक्ति प्राप्त करते हैं और यह शक्ति वे तावीज़ों के माध्यम से दूसरे को दे सकते हैं। वे सम्पर्क स्थापित करने की इस क्षमता का सम्बन्ध लेखन-कला से जोड़ते हैं जो स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार के लिखित तावीज मुफ़्त में नहीं दिए जाते थे। बाउडिच ने लिखा है कि काग़ज़ के एक टुकड़े के सहारे एक साधारण वर्ग का भी मूर नागरिक कुमासी में एक महीने तक गुजारा कर सकता था। एक अन्य मुस्लिम तावीज़ निर्माता के सम्बन्ध में यह मालूम हुआ कि वह छः पंक्तियों के लेखन से युक्त लाल कपड़े में बन्धे तावीज़ के लिए लगभग आधा औंस सोना लिया करता था। जहाँ तक सैनिक पोशाक का सम्बन्ध है, अशान्ती शासक अक्सर एक तावीज़-युक्त चोगे के लिए तीस गुलाम तक दे दिया करते थे।

निर्यात के लिए इस प्रकार के तावीज़ तथा अन्य वस्तुओं को जुटाने की सामर्थ्य होने के कारण उत्तरी राज्यों का काफी दबदबा था हालांकि सैनिक दृष्टि से वे अशान्ती लोगों के अधीन थे। १७४४ में अशान्ती सेनाओं ने पश्चिमोत्तर भाग पर हमला किया, जिसके बाद डागोम्बा और पूर्वी गोन्जा के लिय यह अनिवार्य हो गया कि वे अशान्ती राजा को हर साल कुछ धन दें। बाउडिच ने इस सम्बन्ध में हुए समझौते को डागोम्बा के लिए विजय बताते हुए लिखा है कि मामूली सा धन दे कर उसने व्यापारिक सम्पर्क बना लिया। यह उसके लिए लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि उसके बाजारों में नियमित रूप से दूसरे भागों से माल आया करता था। इस समझौते से अब सुविधा के साथ-साथ सुरक्षा भी हो गई क्योंकि उसके युद्धप्रिय पड़ौसियों ने साफी बनाने

तथा अन्य प्रकार के गण्डे तावीज तैयार करने की प्रसिद्धि के कारण उसको परेशान करना बन्द कर दिया। दूसरे शब्दों में, इन राज्यों का व्यापार और बढ़ गया और कारोबार की सामग्री के अन्तर्गत जादू टोने के सामान को भी शामिल कर लिया गया।

उस अंचल में साक्षर तन्त्र-मन्त्रों की माँग के सम्बन्ध में मार्टी के अध्ययन में विचार किया गया है। यह अध्ययन १९२२ में आइवरी कोस्ट में इस्लाम के प्रसार के बारे में है। इस सम्बन्ध में मार्टी ने लिखा है कि जंगल में रहने वाले लोगों के बीच इस्लाम का एकमात्र चिन्ह वे तावीज़ हैं, जिन्हें वे लोग घुमन्तू व्यापारियों से काफी अधिक दाम देकर खरीदते है और जिन्हें अपने विधर्मी तन्त्र-मन्त्र और तावीज़ों के साथ पहनते हैं।

यह धार्मिक सम्मिश्रण वाह्य आदान-प्रदान के स्वरूप को व्यक्त करता है। इस प्रकार का आदान प्रदान उस पूरे क्षेत्र में चलता रहता है। घास के लम्बे चौड़े मैदानों में माल खरीदने वाले मुख्य रूप से मुसलमान होते हैं चाहे वे उत्तरी अफ्रीको मूल के हों, मध्य सूडान के हौसा वंश के हों या पश्चिम के माण्डे वंश के हों। बिक्री करने वालों में मुख्य रूप से दक्षिणी भाग के अन्य धर्मावलम्बी होते हैं क्योंकि जंगलों के दुर्लभ प्राकृतिक साधनों पर, जैसे कोयला और स्वर्ण पर, उनका नियन्त्रण होता है तथा समुद्र तटवर्ती यूरोपीय व्यापारिक केन्द्रों तक उनकी पहुँच होती है। इन समूहों के बीच विनिमय के सम्बन्धों का स्वरूप देखते हुए और यह देखते हुए कि उत्तरी भाग के व्यापारी उन भागों तक पहुँचने के लिए उत्सुक होते हैं जहाँ वस्तुओं के मूल्य कम हैं, मुस्लिम और गैर-मुस्लिम प्रदेशों के बीच लगातार आवाजाही का सम्बन्ध बना रहता है जिसके परिणामस्वरूप दोनों समूहों की संस्कृतियों में परिवर्तन होता चलता है। गैर मुस्लिम लोगों में यह परिवर्तन पहले पहल इस्लामी जादू को ग्रहण करने के रूप में दिखाई देता है। इसके आगे का कदम अक्सर यह होता है कि लोग इस्लाम धर्म भी ग्रहण कर लेते हैं। उधर मुस्लिम धर्मावलम्बियों पर इस रूप में प्रभाव पड़ता है कि वे परम्परागत रीति-रिवाजों को ग्रहण कर लेते हैं और कभी-कभी इसके परिणामस्वरूप धार्मिक प्रवृत्तियों को त्याग देते हैं अथवा उदारतावादी बन जाते हैं।

मुसलमानों के व्यापक क्षेत्र में बिखराव का मतलब यह होता है कि इस्लाम पर अनेक ह्रासकारी तत्वों का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त दक्षिणी भाग के घास के इन लंबे चौड़े मैदानों में यह सम्भव नहीं होता कि वह राजनीतिक सत्ता स्थापित करें और जहाँ कहीं उनके पास तोप और बंदूक की यथेष्ट क्षमता भी रही है वहाँ भी वे ऐसा नहीं कर सके हैं। एकमात्र अपवाद समोरी और बाबासू द्वारा स्थापित राज्य रहे हैं, यद्यपि वे भी अधिक दिन तक नहीं चल सके हैं।

इस प्रकार के अन्तर्सम्बन्धों द्वारा एक ऐसा गत्यात्मक असंतुलन उत्पन्न होता है जिसके अन्त में संतुलन प्रायः इस्लाम के पक्ष में होता है क्योंकि इस्लाम के अन्तर्गत सम्प्रेषण की उच्चतर कला होती है और उसका व्यापारिक संपर्क भी बहुत व्यापक होता है। इसके अलावा इस्लाम शहरों का धर्म है और देहाती क्षेत्र में मुसलमान होने का कोई अतिरिक्त आर्थिक लाभ नहीं मिल पाता जिससे वहाँ धर्महीनता अधिक पाई जाती है।

जब कभी आदान-प्रदान केवल व्यापारिक न हो कर राजनीतिक और धार्मिक भी होता है तो एक प्रकार की निश्चित व्यवस्था का जन्म होता है। १९वीं शताब्दी में आयवरी कोस्ट में और घाना में भी शासक मुख्य रूप से अन्य धर्मावलंबी थे हालांकि उन्होंने अनेक धार्मिक सलाहकारों की सेवाएँ स्वीकार कीं, जिनमें मुस्लिम और गैर मुस्लिम दोनों ही थे। इसके परिणामस्वरूप धार्मिक दृष्टि से जो मिश्रण हुआ उसका एक रूप यह था कि गैर इस्लामी लोगों ने मुस्लिम तावीज़ खरीदने शुरू किए। मार्टी के अनुसार इस प्रकार की सेवाओं का लाभ आयवरी कोस्ट में खूब उठाया गया और प्रायः सभी मुसलमान तावीज़ देने लगे, चाहे उनकी जो भी स्थिति रही हो और चाहे उन्होंने जिस रूप में तावीज़ तैयार किया हो। जो मुसलमान काफी पढ़े-लिखे थे उन्होंने अपने धर्मावलम्बियों के इन कार्यों का समर्थन नहीं किया क्योंकि वे लोग व्यापारियों की तरह जगह-जगह घूम कर अन्य धर्मावलम्बियों में मोल-तोल करके तावीज़ों की बिक्री किया करते थे। लेकिन कुछ मुसलमानों के लिए यही उनका मुख्य धन्धा बन गया था।

गैर मुस्लिम लोगों के लिए इस्लाम की अपील का क्या कारण

था ? अनेक कारणों में निम्नलिखित को गिनाया जा सकता है :—

मुसलमानों की व्यापार-व्यवस्था बहुत अच्छी थी। उनके धार्मिक सिद्धान्त सुनिश्चित थे और उन्होंने बौद्धिक क्षेत्र में लेखन-कला का विकास करके श्रेष्ठता प्राप्त की थी। मार्टी ने एक अन्य यात्री रेने कैली का १८२७ में टिम्बकटू की यात्रा का विवरण बताते हुए कहा है कि कैली ने देखा कि कैनबारा के गैर मुस्लिम लोगों पर मुहम्मद साहब के अनुयायियों का बड़ा प्रभाव था और वे उनका बड़ा आदर करते थे, जिसका कारण उनकी लेखन-कला थी, जिसे अन्य धर्मावलम्बी एक प्रकार का जादू मानते थे। लेकिन हमने देखा है कि जादू के रूप में लेखन-कला का प्रयोग ठोस व्यापारिक आधार पर होता था क्योंकि इस्लामी तावीजों की बहुत माँग थी।

असाक्षरों द्वारा लिखित शब्द के एक और उपयोग की घटना मैंने देखी है। यह १९५० की बात है। उन दिनों मैं बिरिफू में रुका हुआ था। मैं उस गाँव में कई महीने की अनुपस्थिति के बाद लौटा था। मैं वहाँ के भविष्यवक्ता या नजूमी से मिलने गया। वे स्वयं कुमासी से कुछ दिन पहले लौटे थे। अन्य भविष्यवक्ताओं की तुलना में उनका तरीका कुछ भिन्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नया तरीका इस्लामी तौर तरीके से ग्रहण किया किया था क्योंकि इस नए तरीके के अन्तर्गत जिन वस्तुओं का प्रयोग होता था उनमें पुस्तक भी थी। उनके सामने परंपरागत भविष्यवक्ताओं की अन्य सामग्री तो थी ही जैसे तरह-तरह के पत्थर के टुकड़े, ककाला वृक्ष की छाल, हाकी स्टिक की शक्ल की लकड़ी जिसे यजमान को पकड़ा कर सच्चाई को दिखाया जाता है—यह सब वस्तुएँ वनों से उपलब्ध होती थीं। पत्थर पहाड़ों और नदियों से आते हैं और छाल तथा छड़ी विशेष वृक्षों से मिलती है। पहाड़, नदियाँ, और वृक्ष—ये तीन उन आत्माओं के निवास-स्थल हैं, जो मनुष्यों को कष्ट देते हैं। लेकिन ये आत्माएँ पारलौकिक विश्व को समझने में भी सहायता देती हैं और उस समय यह माना जाता था कि ये आत्माएँ अपने अनुयायियों को पढ़ने की क्षमता प्रदान करती हैं। हमारे इस भविष्य-वक्ता ने अन्य सामग्री के साथ अपने सामने एक छोटा सा मोढ़ा भी रखा हुआ था, जिस पर एक छोटी-सी कापी थी। उस कापी में पौंड,

शिलिंग और पेन्स के कई सवाल लिखे हुए थे। भविष्यवक्ता महोदय ने उस कापी को एक हाथ से उठाया और दूसरे हाथ में एक पैंसिल ले कर उसे कापी के एक पन्ने पर फेरा। फिर पेन्सिल को एक चिन्ह से दूसरे चिन्ह पर ले गए जैसे कि वे कुछ जोड़ बाकी कर रहे हों। अचानक उन्होंने एक अंक की ओर संकेत किया और कहा कि देखो, ये तुम्हारी गायें हैं। इसी तरह वे अपने यहाँ आए हुए लोगों से सवाल पूछते रहे, आँखें मिचमिचाते रहे और पेन्सिल से कापी के अंकों पर इशारे करते रहे। अन्त में उन्होंने कई कहावतें या मज़ाकिया बातें सुनाई और हंसी-खुशी के वातावरण में यह समागम समाप्त हो गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक असाक्षर व्यक्ति ने अलौकिक शक्तियों से सम्पर्क के माध्यम के रूप में लिखित शब्द का प्रयोग किया। एक ओर तो लिखित शब्दों का उपयोग इन क्षेत्रों में जादू और धार्मिक उद्देश्य से किया जाता है, दूसरी ओर लेखन-कला के विकास के कारण मौखिक समाज और साक्षर समाज के बीच सम्पर्क का एक नया माध्यम विकसित हो रहा है।

मौखिक सभ्यता के मनुष्य पर लेखन का कितना गहरा प्रभाव पड़ता है इसको समझने के लिए १८वीं शताब्दी के ईबो कबीले के एक सदस्य की आत्मकथा उल्लेखनीय है। उस व्यक्ति को पकड़ कर यूरोपीय व्यापारियों के हाथ बेच दिया गया था और फिर उसे अमरीका भेजा गया। बाद में उसे इंग्लैंड लाया गया, जहाँ उसने पहली बार किताबें देखीं जो उसे बात करती हुई प्रतीत हुईं। उसने लिखा है :

"मैंने अक्सर अपने स्वामी और डिक को पढ़ते हुए देखा था और मुझे बहुत उत्सुकता थी कि मैं भी किताबों से बातचीत करू क्योंकि मुझे यही लगता था कि किताबें बातचीत करने में समर्थ हैं और इस प्रकार मैं जानना चाहता था कि हर एक चीज की शुरूआत क्या है। इस उद्देश्य से मैंने अक्सर किसी किताब को उठाया है और उसे बातचीत में लगाना चाहा है और फिर उसमें कान लगा कर सुनने की कोशिश की है, खास तौर पर अकेले में, और इस आशा से कि मुझे उत्तर मिलेगा। लेकिन जब मैंने देखा है कि किताब मौन है तो मुझे बड़ी चिन्ता हुई है।"

उत्तरी घाना में और दुनिया में सभी जगह असाक्षर संस्कृतियों के लिए लिखित शब्द का प्रभाव जादू के समान रहा है। इसका एक कारण तो यह है कि लिखित शब्द सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में व्यावहारिक महत्व रखता है; साथ ही उस का सम्बन्ध धार्मिक लोगों से होता है और वह उन संस्कृतियों का भाग रहा है जिनकी तकनीकी उपलब्धियां रही हैं और जिन्हें बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है।

लो डगा जैसे वास्तविक रूप में असाक्षर समुदायों के अतिरिक्त, जिनमें धार्मिक जीवन के अन्तर्गत लेखन का नाममात्र के लिए ही योगदान रहा है, घाना में कई ऐसे साम्राज्य भी पनपे हैं जिनमें साक्षरता का सुनिश्चित योगदान रहा है। अब मैं ऐसे ही एक साम्राज्य के बारे में कुछ कहना चाहूँगा। यह गोन्जा का राज्य है। जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ पुराने गोन्जा के मुसलमानों और नवागन्तुकों तथा अन्य आप्रवासियों के बीच अन्तर रहा है। प्राचीन मुसलमानों की इमाम तक बराबर पहुँच रही है और इमाम सर्वोच्च शासकों अथवा खण्ड प्रधानों के सलाहकार रहे हैं। वे इस्लामी समुदाय के भी अधिकृत प्रतिनिधि हो कर शासक वर्ग से सम्पर्क बनाए रहते थे। उस प्रकार के राजनैतिक इमामों के अलावा गोन्जा-पूर्व की डोकरूपे और लारा वंगा बस्तियों में इसी नाम का पद पाया गया है। भूतपूर्व महत्त्वपूर्ण व्यापारिक नगर सलागा में ही अजनबी समुदायों का अपना इमाम होता है और वहाँ उसका काम केवल आन्तरिक क्षेत्र तक सीमित रहता है।

आज गोन्जा मुसलमानों के बीच साक्षरता दर बहुत कम है चाहे किसी भी आधार पर अनुमान लगाया जाए। एक समय बूईपे नगर, जिसे पहले मान ऊले कहा जाता था, इस्लाम का महत्वपूर्ण केन्द्र था। बूइपे नगर में प्राचीन गोन्जा विजेता एन्डेऊरा जाक्पा की कब्र है और इसी नगर के मुसलमान सर्वोच्च शासक के लिए इमाम प्रदान करते हैं। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में यहाँ के मुस्लिम निवासियों का अशान्ती की राजधानी कुमासी से निकट सम्बन्ध था। लेकिन १९४० के बाद गोन्जा के सर्वोच्च शासक ने इस नगर से इमाम की नियुक्ति करना बन्द कर दिया क्योंकि एक अन्तिम इमाम अरबी लिपि नहीं पढ़ सकते थे और उन्होंने इमाम के पद के योग्य अपने को सिद्ध नहीं किया।

१९५६ में मुझे मालूम हुआ कि इस नगर के केवल तीन व्यक्तियों में पढ़ने की योग्यता है । नगर की आबादी बहुत कम हो गई थी और साक्षरता का कोई उपयोग नहीं रह गया था । यह पहले कोयला के व्यापार का महत्वपूर्ण केन्द्र था लेकिन अब एक देहात जैसा बन गया था, जिसकी आबादी लगभग साढ़े तीन सौ थी । यद्यपि एक साक्षर मुल्ला के यहाँ लड़के पढ़ने के लिए जाते थे और उसने एक लड़के को अपने साथ रखा हुआ था जो उसे कृषि में सहायता देता था; लेकिन जिस दिन मैं वहां रहा मैंने देखा कि कोई भी शिक्षा नहीं दी जा रही है । वस्तुतः नगर के तीन शिक्षित व्यक्तियों को बाहर के नगरों में शिक्षा लेनी पड़ी थी, जहाँ अजनबी मुसलमानों ने समुचित शिक्षा दी थी । वस्तुतः अगर किसी को प्रारम्भिक साक्षरता की भी आवश्यकता होती थी तो उसे अपने स्थानीय समुदाय से बाहर जा कर काफी समय तक रहना पड़ता था । इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि यहाँ और पश्चिमी सूडान में अन्यत्र शिक्षा प्राप्त करने का घुमन्तू तरीका प्रचलित था और विद्यार्थियों को एक विद्वान आदमी से दूसरे विद्वान आदमी के यहाँ फेरे लगाने पड़ते थे । वैसे विद्यार्थियों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा कर शिक्षा प्राप्त करना अत्यधिक विकसित शिक्षा प्रणालियों की भी विशेषता है । लेकिन जब घुमन्तू प्रणाली ही प्रधान बन जाए और उसका आरम्भ निचली श्रेणियों से ही हो जाए तो वह इस बात का संकेत-वाहक है कि साक्षरता केवल सीमित रूप में पाई जाती है । इससे यह भी मालूम होता है कि मौखिक सम्प्रेषण के लिए जो गतिशीलता अपेक्षित है उसका स्थान लिखित माध्यम ने अभी प्रभावशाली ढंग से नही ग्रहण किया है ।

बूइपे में शिक्षाहीनता का एक कारण वहाँ की आर्थिक स्थिति में गिरावट भी है । कभी वह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था । लेकिन अब उसे आजीविका के लिए कृषि और मांस की ब्रिक्री पर निर्भर करना पड़ता है । इन्हीं व्यवसायों का सहारा मुसलान भी लेते हैं और साधारण वर्ग के तथा शासक वर्ग के लोग भी । यद्यपि खण्ड अधिकारी स्वयं खेती करने के लिए नहीं जाता लेकिन अन्य वयोवृद्ध लोग ऐसा करते हैं ।

यह सही है कि व्यापार के अन्य सक्रिय केन्द्रों में भी गोन्जा मुसलमान अजनबी लोगों के मुकाबले खेती-बाड़ी में अधिक लगे हुए हैं क्योंकि अगर गोन्जा मुसलमान व्यापार करते भी हैं तो भी वे दूर-दूर से आने वाले व्यापारियों पर निर्भर करते हैं। इन व्यापारियों का विचित्र और अनजान लोगों से सम्पर्क रहता है और यह कभी-कभी किसी जगह बस जाते हैं तथा स्थानीय एजेंटों के रूप में काम करते हैं। स्थानीय मुसलमान अक्सर व्यापारियों पर कम निर्भर करते हैं और इसीलिए उन्हें साक्षरता की भी अधिक आवश्यकता नहीं होती।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि व्यापारिक लेन-देन के क्षेत्र में लेखन का प्रयोग कोई बड़े पैमाने पर होता था। आम तौर पर लेन-देन और कारोबार जबानी ही हुआ करता था और रुपए पैसे का हिसाब-किताब भी मौखिक रूप में होता था। वास्तव में यूरोप के बाजारों और मध्य पूर्व या अफ्रीका के बाजारों में एक बड़ा अन्तर यह है कि पश्चिम में लिखित रूप में निश्चित दाम प्रदर्शित करने की पद्धति है जबकि मध्यपूर्व और अफ्रीका में एक अनुमानित मूल्य के इर्द-गिर्द सौदा होता रहता है। इसीलिए जब पश्चिम के व्यापारी दूसरी पद्धति वाले व्यापारियों के सम्पर्क में आते हैं अथवा दूसरी पद्धति वाले, यूरोपीय व्यापारियों के सम्पर्क में आते हैं तो वे एक दूसरे की पद्धति से असन्तोष व्यक्त करते हैं। परन्तु कारोबार की बात छोड़ भी दी जाए तो भी गोन्जा में अरबी का प्रयोग हिसाब किताब रखने के लिए भी बहुत कम किया जाता है और इसीलिए उनका कारोबार भी बहुत सीमित रह जाता है।

शायद अतीत काल में व्यापार के लिए लेखन का अधिक प्रयोग किया जाता रहा होगा। कम से कम सहारा के व्यापारी बहुत पहले से लेखन का इस प्रकार का उपयोग करते थे क्योंकि ९६१ ईस्वी के एक भूगोलवेत्ता इब्न हॉकल ने लिखा है कि वह ४२,००० दीनार की रकम की हुण्डी लेकर चला था। यह रकम लगभग एक लाख पौंड के बराबर है। १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में तुवाती के एक व्यापारी का एक खाता पाया गया है, जिसमें उसके उधार और करार आदि लिखे गए हैं। उत्तरी आयवरी कोस्ट में जो लोग

साक्षर हो चुके थे वे अपनी निजी बातें और व्यापारिक लेन देन बराबर लिखा करते थे। बहुत से मुल्ला लोग परिवारों में जन्म और शादी के समय दी गई धनराशियों का लेखा-जोखा भी रखते हैं। इस प्रकार व्यापार में लगे लोगों को बही-खाते का कुछ थोड़ा बहुत ज्ञान अवश्य है। परन्तु गोन्जा में मैंने बही-खाते का एक मात्र प्रमाण यही पाया है कि कुछ भुगतानों के बहुत सीधे सादे रेकार्ड रखे गए और इनका भी सम्बन्ध यूरोपीयन लोगों को दिए गए टैक्सों से है।

और अधिक उत्तर के क्षेत्र के बारे में फ्रांसीसी यात्री बिन्जर ने लिखा है कि सहारा की खानों से नमक के जो ढोके आया करते थे उन पर कुछ इबारत लिखी होती थी। इसके अन्तर्गत उन्हें भेजने वालों के नाम और सम्भवत: उन लोगों के नाम भी होते थे, जो इस नमक को पहली बार खरीदते थे। यह भी सम्भव है कि उन ढोकों पर कुछ अन्य निशान इस बात का संकेत देने वाले हों कि उन्हें उधार की तत्कालीन प्रणाली के अनुसार भेजा जा रहा है जैसाकि आजकल मछली के व्यापार के बारे में घाना में होता है। लेकिन यह भी सम्भव है कि वह निशान केवल तन्त्र-मन्त्र के सम्बन्ध में बनाये गए हों। आज भी उत्तरी घाना के बाज़ारों में नमक के ऐसे छोटे-छोटे टुकड़े पाये जाते हैं, जिनका तन्त्र-मन्त्र के हिसाब से नमक चूर्ण के मुकाबले अधिक महत्व माना जाता है। इसका एक कारण सम्भवत: वे निशान और लिखावट हो सकती है जो कभी उन पर लिखी जाती थी। उस लिखावट का एक उद्देश्य सम्भवत: नमक को चोरी और अन्य प्रकार से नष्ट होने से बचाना भी रहा होगा।

व्यापार के दौरान साक्षरता का अन्य उपयोग पार-पत्र में हुआ करता था। मक्का जाने वाले सभी अच्छे मुसलमानों के लिए यह आवश्यक था कि वे पार-पत्र और रास्ते के बारे में जानकारी लिखित रूप में रखें जिससे उन्हें जब कभी मौका मिले वे यह पवित्र तीर्थ यात्रा कर सकें। वे प्राय: उन रास्तों का भी विवरण अपने साथ रखते थे, जिन पर वे व्यापार के लिए आया जाया करते थे। इस सम्बन्ध में १८२० में कुमासी की यात्रा करने वाले ब्रिटिश दल के नेता ड्यूपाइस ने लिखा है कि उसे अरबी के ज्ञान से बहुत लाभ

हुआ क्योंकि रास्ते के संकेत उसे इसी भाषा में पढ़ने को मिले। १६वीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में जब बूना नगर पर आक्रमण हुआ तो वहाँ पकड़े गये अबू बक्र अल् सिद्दीक नामक व्यक्ति को यूरोपीय व्यापारियों के हाथ बेच दिया गया। बाद में उसे वैस्ट इंडीज ले जाया गया, जहाँ उसकी अरबी लिख सकने की क्षमता की ओर मैडन साहब का ध्यान गया। यह उन लोगों में थे जिन्होंने गुलामों का व्यापार रोकने के आन्दोलन में बहुत प्रमुख भाग लिया।

ऊपर जिस पार-पत्र का जिक्र किया गया है वह एक मुसलमान द्वारा किसी अन्य नगर के अपने परिचित को लिखे गए परिचय-पत्र के रूप में होता था और उसका उद्देश्य एक नये व्यापारी का परिचय देना होता था। जब फ्रांसीसी यात्री बिन्जर ने वर्तमान आयवरी कोस्ट से होते हुए वागाडूगू तक की यात्रा की, जो मोसी राज्य की राजधानी थी, तो उसे इसी प्रकार का सुरक्षात्मक परिचय-पत्र दिया गया। यह पत्र उसके अतिथेय दियाराबारी वतारा ने दिया था और यह जिस रूप में लिखा हुआ था वह मौखिक परम्परा के अधिक निकट था। इसके आरम्भिक शब्द थे, 'शुक्र है उस परवर-दिगार का जिसने हमें संदेश ले जाने के लिए काग़ज़ दिया है और लिखने के लिए सरकण्डे की कलम दी है।' इसके बाद पत्र में उन विभिन्न नगरों के शासकों से ईसाई अतिथि को सुरक्षित गुजरने देने के लिए सिफारिश की गई, जिनसे होकर उसे यात्रा करनी थी।

जो कारवां संगठित किये जाते थे उन में इसी प्रकार के कुछ अन्य औपचारिक पत्र भी होते थे। कारवां के ज़रिये व्यापार एक बड़े पैमाने का उद्यम था, जिसके अन्तर्गत कई व्यापारी एक साथ मिल कर एक अनुभवी नेता और उसके कर्मचारियों के साथ चलते थे। यह सब संगठनकर्ता, मार्गदर्शक, एजेंट और रक्षक का काम किया करते थे। कारवां की संख्या पश्चिमोत्तर भागों पर डेढ़ सौ से दो सौ व्यक्तियों की हुआ करती थी। लेकिन हौसा क्षेत्र में इससे भी बड़े कारवां हुआ करते थे। इतनी अधिक संख्या में लोगों द्वारा यात्रा करने का एक कारण यह भी था कि वे अपने आप को उन प्रदेशों के लोगों से बचा सकें जिन से हो कर वे गुजरने वाले थे क्योंकि मार्ग में ऐसे प्रदेश पड़ते थे, जहाँ कोई शासन-व्यवस्था नहीं

थी और जहाँ के लोग लूटमार से हिचकिचाते नहीं थे।

इतने बड़े पैमाने पर दूर-दूर की व्यापारिक यात्राओं के दौरान लेखन का बहुत महत्व होता था। उसके द्वारा इधर-उधर बिखरे व्यापारिक समुदायों में सम्पर्क बना रहता था। लेकिन इससे भी अधिक महत्वपूर्ण लेखन का काम यह था कि दूर-दूर के खरीदार या एजेंट अपने माल के लिए या माल को भेजने के लिए आर्डर दे सकते थे। इस सम्बन्ध में बहुत से अभिलेख पाये गये हैं। इसके साथ ही व्यक्तिगत समाचार देने के लिए भी लेखन का प्रयोग किया जाता था जैसे किसी की मृत्यु का समाचार अथवा मृत्यु के बाद किसी परिवार की कठिनाइयों का वर्णन। यह उसी प्रकार था जैसे आजकल तार द्वारा छोटे-छोटे नगरों से मृत्यु आदि के समाचार भेजे जाते हैं अथवा लोगों को शव-यात्रा में शामिल होने के लिए बुलाया जाता है। इस प्रकार की सुविधा की माँग गैर पढ़े-लिखे लोगों में बहुत अधिक होती है और अक्सर किसी डाक घर के बाहर ऐसे व्यक्तियों को तार आदि के फार्म फैलाए हुए देखा जा सकता है जो अपढ़ लोगों के लिये समाचार आदि पैसे ले कर लिखते हैं।

प्रश्न यह है कि अगर गोन्जा के स्थानीय मुसलमानों में साक्षरता का मुख्य उपयोग वाणिज्य के लिए नहीं होता था तो किस काम के लिए होता था ? इमाम का कार्य जहाँ प्रादेशिक अधिकारियों को सलाह देना था वहीं वह क्लर्क का काम भी करता था। विभिन्न प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के प्रधानों के लिए जो लिखा-पढ़ी होती थी उसके लिए इमाम ही उत्तरदायी होता था। एक कुमासी मुसलमान ने लिखा है कि 'उस अल्लाह का शुक्र है, जिसने कलम बनाई, जो जबान की जगह ले सकती है और जिसने कागज़ बनाया जिसे हम एक देश से दूसरे देश को दूतों के स्थान पर भेज सकते हैं।' लेकिन इन शासकों के बीच समझौते और मैत्री संधियाँ शायद ही कभी लिखी जाती हों। वे अक्सर ज़बानी होती थीं और कुरान के नाम पर हुआ करती थीं।

यहाँ मैं यह भी बता दूँ कि गोन्जा में लेखन का प्रयोग अदालती मामलों की लिखा-पढ़ी के लिए नहीं हुआ करता था। इसका एक

कारण यह था कि राजनैतिक स्तर पर इस्लामी कानून प्रयोग में नहीं लाया जाता था। न्याय करने वालों में मुल्ला न हो कर शासकीय प्रधान हुआ करते थे। झगड़ों के मामले में मुल्लाओं का काम विभिन्न पक्षों के बीच समझौता कराने वालों का हुआ करता था। उनकी बात न्यायाधिकरण द्वारा और उसके बाहर भी सुनी अवश्य जाती थी। लेकिन मैंने ऐसा कोई मामला नहीं देखा है जबकि न्यायाधिकरणों में मुस्लिम कानून के अनुसार कोई अपील की गई हो। हाँ, ईश्वरेच्छा की चर्चा अवश्य सुनाई दे जाती थी। सलागा जैसे विशाल व्यापारिक केन्द्र में कुछ मुस्लिम समूहों के अन्तर्गत इस्लामी नियमों को अवश्य कानूनों के रूप में स्थापित किया गया है। लेकिन जहाँ तक सम्पूर्ण राज्य का सम्बन्ध है न्याय की प्रथा उत्तरी नाइजीरिया जैसे स्थानों से, जहाँ इस्लामी कानून के अनुसार काज़ी न्याय का शासन करता है, सर्वथा भिन्न है।

गोन्जा में पाये गए काग़ज़ात के अन्तर्गत कुछ ऐसे पत्र भी हैं जिनमें उस प्रदेश के लोगों, वहाँ के गाँवों और वहाँ के कबीलों के सरदारों का वर्णन मिलता है। इन में से कुछ पत्र औपनिवेशिक शासन की आवश्यकता के कारण लिखे गये हैं क्योंकि इस प्रकार के शासन के अन्तर्गत यह आवश्यक हो गया कि जो भी भुगतान किया जाये और जो भी वित्तीय कारोबार हो उसका ब्यौरेवार लेखा रखा जाये। इसके लिए बहुत से अधिकारी नियुक्त किए गए, जिनका काम जगह-जगह जाकर इस प्रकार की सूचनाएँ एकत्र करना और हवाले के लिए उन्हें सुरक्षित रखना था। औपनिवेशिक शासन की स्थापना के फलस्वरूप एक सबसे बड़ा परिवर्तन शासन-पद्धति में हुआ। पहले की अपेक्षा अब लेखन पर निर्भरता कहीं अधिक हो गई। ब्रिटिश शासन की स्थापना के आरम्भिक वर्षों में ही जिलाधिकारियों के लिए यह ज़रूरी हो गया कि वे जमा ख़र्च का हिसाब रखें और प्रत्येक गांव के बारे में सूचनाएँ लिखित रूप में भेजते रहें। उन्हें अपने काम काज और अपने दौरे के बारे में व्यक्तिगत डायरी भी रखनी होती थी। इसके साथ ही जो भी दीवानीं या फौजदारी मुकदमे वे निपटाते थे तथा कारवाँ, घाट तथा अन्य क्षेत्रों से जो टैक्स वसूल करते थे उसका भी लेखा-जोखा

रखना पड़ता था। वे अनेक प्रकार के व्यक्तिगत और सरकारी पत्र भी बड़ी संख्या में लिखा करते थे। इस तरह साक्षर सम्प्रेषण में बहुत अधिक वृद्धि हो गई और ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार के प्रशासन के आगमन से उन लोगों को लेखन का प्रयोग करने में बढ़ावा मिला, जिन्हें अरबी लिपि का ज्ञान था। लेकिन इससे पहले के युग में भी लेखन का प्रयोग अपवाद के रूप में पाया जाता था। इस प्रकार का प्रयोग गोन्जा के शासक जाऊला के मामले में पाया गया है, जिसने अनेक स्थानों के विद्वान मुसलमानों को अनेक विषयों पर अरबी में पत्र लिखे। जाऊला दूर-दूर तक व्यापार के लिए भी जाया करता था हालांकि किसी गोन्जा राजकुमार के लिए यह एक असाधारण बात थी कि वह व्यापार भी करे। परन्तु व्यापारिक यात्राओं के कारण वह कट्टर मुसलमान बन गया था। वस्तुतः बिना इस्लाम का अनुयायी बने हुए उत्तरी भागों से व्यापार करना कठिन हो जाता है। अपनी सम्पत्ति, अरबी के अपने ज्ञान, अपनी उद्यम-कुशलता और अपने नेतृत्व के कारण जाऊला ने पहले जर्मनी और फिर ब्रिटेन के शासकों का ध्यान आकर्षित किया, जिन्होंने १९१४ के बाद टोगोलैंड में अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

उपनिवेशपूर्व गोन्जा में और सामान्यतः उत्तरी घाना में पत्र-लेखन किस हद तक प्रचलित था इसका अनुमान लगाना आसान नहीं है क्योंकि वहाँ सीमित साक्षरता ही प्रचलित थी। फिर भी सलागा नगर में इस्लामी धर्म सम्बन्धी उच्च कोटि की पुस्तकें लिखी गईं। इन में से एक पुस्तक १८७७ में लिखित 'किताब अल्-सरहत अल्-बरीक़ा' थी, जिसके लेखक अल् हज्ज उमर बिन् अबी बक्र थे। वे एक उच्च कोटि के विद्वान थे, जो गोन्जा में लगभग १८७० ईस्वी में जा बसे थे। यह पुस्तक पत्र-लेखन कला से सम्बद्ध थी, जिसमें कई तरह के नमूने दिए हुए हैं और सचिवों के लिए मार्ग-निर्देश किया गया है। इसकी प्रेरणा सम्भवतः लेखक को उस वातावरण से मिली थी, जिसमें रह कर उसने शिक्षा पाई थी और इसका सीधा सम्बन्ध उस स्थान से नहीं प्रतीत होता जहाँ वह अपने पिता के व्यापार के कारण जा बसा था और जहाँ रह कर उसने शिक्षा के पुनर्जागरण के लिए बहुत कुछ काम किया।

गोन्जा मुसलमानों के अन्तर्गत लेखन का एक और उपयोग भूतपूर्व सरदारों और इमामों की सूचियाँ रखना था। पूर्वी गोन्जा की राजधानी पेम्बे में पैगम्बर साहब के जन्म दिन पर होने वाले बड़े डाम्बा त्यौहार पर विभिन्न क्षेत्रों के पिछले शासकों और सरदारों के नाम एकत्र जन-समूहों के सामने पढ़े जाते थे। इस प्रकार के अभिलेखों का उद्देश्य अंशतः ऐतिहासिक है। लेकिन उन्हें रखने के पीछे राजनैतिक और धार्मिक कारण भी हैं। चूँकि सरदारों और इमामों में से अधिकांश एक विशेष सम्प्रदाय के लोग ही हुए थे इसलिए उनके नामों को पढ़ने का एक आशय यह प्रतीत होता है कि आगे भी इन पदों पर वही वर्ग अपना दावा पेश करे और इस दावे का समर्थन जन-समूह से कराये। लेकिन नामावली पढ़ने का एक उद्देश्य पूर्वजों के लिए प्रार्थना करना भी हो सकता है और उनसे यह दुआ माँगना हो सकता है कि वे वर्तमान सरदार और जनता को सुख समृद्धि प्रदान करें। इन सब सेवाओं के लिए गोन्जा, मुस्लिम शासकों से उपहार और अन्य प्रकार की सहायता की आशा रखते हैं।

एक और प्रकार से भी स्थानीय मुसलमानों ने अपने आप को परम्परा का संरक्षक सिद्ध किया। सन् १७५२ में अल् हज्ज मुहम्मद बिन मुस्तफा ने साम्राज्य का एक इतिहास लिख कर पूरा किया। इस इतिहास में उस साम्राज्य की स्थापना सम्बन्धी कथा दी गई है और शाह अब्बास की मृत्यु, अर्थात् २५ मई १७१० के बाद के प्रत्येक वर्ष की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। १७६३ से १७६८ तक के वर्षों का वर्णन इमाम ओमर कुनन्दी बिन ओमर ने लिखा। ये दोनों ही विद्वान व्यक्ति थे और उनके वर्णन के अंतर्गत भूमध्य सागर तटवर्ती प्रदेश के कुछ भाग को भी शामिल किया गया है। मुहम्मद ने मक्का की तीर्थ यात्रा भी की। सन् १७३१-३२ में उनके पिता मुस्तफ़ा भी यात्रा के लिए चले। लेकिन अगले वर्ष उनकी मृत्यु हो गई। सन् १७३३-३४ में मुहम्मद ने तीर्थ यात्रा की और वे तीन साल बाद लौट आए। उस समय आम तौर पर उस यात्रा में सात वर्ष लगते थे और इसीलिए उनकी वापसी की यात्रा बहुत कम समय में पूरी हुई। इन सब यात्राओं से यह मालूम होता है कि

गोन्जा बाहर के साक्षर संसार से लगातार सम्पर्क बनाए हुए था। सन् १७२४-२५ में सुलेमान और अबू बक्र ने मक्का की यात्रा की। सुलेमान वापस लौट आए क्योंकि १७४६-४७ में उनकी मृत्यु होने के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि साम्राज्य का इतिहास लिखने की प्रेरणा मध्य पूर्व से मिली होगी, जहाँ से तीर्थ यात्रियों और विद्वानों के माध्यम से गोन्जा प्रदेश का सम्पर्क बना रहता था। यह भी हो सकता है कि स्वयं पश्चिमी सूडान की ऐतिहासिक परम्परा से यह प्रेरणा प्राप्त हुई हो। सोकोटो के सुलतान बेलो के अनुसार ऐतिहासिक लेखन का आरम्भ सूडान में मल्लम यूसीयू से हुआ जो १६वीं शताब्दी में हुआ था। इसने लिखा है कि जब कभी वह किसी व्यक्ति से मिलता था तो वह उससे पूछता था कि आप कहाँ से आए हैं। इसके बाद जो भी सूचना उसे मिलती थी वह उसे लिख लेता था। इससे पूर्व विद्वत्ता केवल पारम्परिक जानकारी तक सीमित थी। लेकिन उस समय से इतिहास-लेखन सामान्य बात हो गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी नाइजीरिया में इतिहास-लेखन का जन्म टिम्बकटू के मुल्लाओं की प्रेरणा से हुआ। टिम्बकटू का उत्थान पिछली शताब्दी में हो चुका था और वहाँ तीन प्रसिद्ध विद्वान हुए। इनमें से एक था अहमद बाबा; दूसरा था महमूद काकी, जिसने 'तारिख़ अल् फत्ताश' लिखी है; और एक अन्य इतिहासकार था अल् सादी।

गोन्जा में कुछ अन्य ऐतिहासिक अभिलेख भी मिले हैं। इन में विशेष उल्लेखनीय वे कागज़ात हैं, जो सलागा में १८९२ के गृह युद्ध के सम्बन्ध में हैं। मुल्ला अल् हसन द्वारा विभिन्न राज्यों के बारे में लिखी गई इतिहास-माला भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यह सम्भव है कि इन में से कुछ इतिहास-ग्रन्थ स्थानीय साक्षर परम्पराओं के कारण न लिखे गए हों बल्कि उन्हें लिखने के लिए औपनिवेशिक शासन ने कहा हो क्योंकि विदेशी शासक अक्सर अनेक ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में जिज्ञासाएं प्रकट किया करते थे।

जो भी रहा हो, मुख्य बात यह है कि जहाँ तक सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण का सम्बन्ध है, न तो सलागा, न गोन्जा और

न पश्चिमी सूडान ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ लिखित सामग्री की कोई कमी हो। ग़ैर यूरोपीय समाजों के अपने अध्ययन के दौरान अधिकांश समाज-शास्त्रियों ने आन्तरिक और वाह्य सम्बन्धों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है। सीमा समस्या, कबीलों के आपसी व्यापार, बाहरी लोगों से विवाह-सम्बन्ध और युद्ध जैसे विषयों की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। इसका एक कारण तो अध्ययन की प्रयुक्त पद्धति है और दूसरा कारण केवल शास्त्रीय और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण अपनाना है। जो कुछ भी विश्लेषण किया गया है उसके अन्तर्गत सामाजिक और सांस्कृतिक समरूपता पर अनावश्यक बल दिया गया है और इस प्रकार मानव क्रिया-कलाप और विश्वासों के व्यापक क्षेत्र की सजीवता को उपेक्षित कर दिया गया है। हाल में धार्मिक और पौराणिक पद्धतियों के विश्लेषणों में यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो कर उभरी है।

फिर भी संस्थागत विश्वास-पद्धति प्रत्यक्षतः भाषाई सम्पर्क पर निर्भर करती है और इसलिए इन पद्धतियों में प्रायः परिवर्तन हुआ करते हैं जो सम्प्रेषण के माध्यमों में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ होते रहते हैं। साक्षरता के प्रवेश के कारण, भले ही साक्षरता सीमित रूप में हो क्यों न आई हो, किसी भी समुदाय का मानसिक क्षितिज तुरन्त व्यापक बन जाता है और उसके कम से कम कुछ सदस्य विभिन्न शताब्दियों की विविध संस्कृतियों से सम्बद्ध व्यक्तियों के विचारों के सक्रिय सम्पर्क में आते हैं। निस्संदेह इस प्रकार का सम्पर्क अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग रूप में होता है और विभिन्न समाजों के बीच भी इसका रूप अलग-अलग होता है। लेकिन किसी भी समाज के बौद्धिक जीवन के लिए यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि उसके कुछ प्रतिभाशाली सदस्य धार्मिक विचारों को आत्मसात् करें, ज्योतिष आदि विद्याओं को ग्रहण करें और ऐसी मानसिक दक्षता प्राप्त करें, जिसका उत्थान एक अन्य सन्दर्भ में और एक अन्य समय हुआ हो। स्थानीय स्तर पर इस प्रकार के विचारों की अवश्य ही पुनर्व्याख्या हुआ करती है लेकिन जिस संस्कृति के अन्तर्गत उन्हें स्थान मिलता है उसमें वे पूर्णतः कभी आत्मसात नहीं होते और अगर ऐसा होता है तो वे उस

संस्कृति को काफ़ी महत्वपूर्ण ढंग से परिवर्तित कर देते हैं। इसके अतिरिक्त जो विचार साक्षर रूप में प्राप्त होते हैं उनको उस हद तक कभी आत्मसात नहीं किया जा सकता जिस हद तक मौखिक रूप में प्राप्त विचारों को किया जा सकता है क्योंकि जो परिवर्तन हो रहे हैं उनको रोकने के लिए पुस्तक हमेशा मौजूद रहती है।

इस प्रकार स्थिति यह है कि सम्पूर्ण उत्तरी घाना में और पश्चिमी सूडान में लोगों के छोटे-छोटे समूह, जो अरबी, हौसा या अन्य स्थानीय भाषाएं लिख और पढ़ सकते है। मुख्य रूप से असाक्षर कृषकों के बीच बिखरे हुए हैं। इन परिस्थितियों में किसी एक स्थान में अगर साक्षरता आती भी है तो उसकी जड़ें गहरी नहीं हो सकतीं। एक छोटा सा मुस्लिम समुदाय ऐसा भी हो सकता है जिसमें कोई भी सदस्य लिखने या पढ़ने वाला न हो। इसका परिणाम उस प्रकार की धर्महीनता हो सकती है जिसकी चर्चा उस क्षेत्र के अनेक समूहों के संदर्भ में की जा चुकी है। लेकिन जब तक इस्लाम के प्रति सांकेतिक आकर्षण भी बना हुआ हो तब तक यह सम्भावना भी बनी रहती है कि पठन-पाठन का सिलसिला फिर शुरू हो जाये क्योंकि यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपने पुत्र को दूर के किसी नगर में शिक्षा पाने के लिए भेजे और यह भी सम्भव है कि जिन किताबों को उसने अपनी अल्मारियों में बन्द कर रखा है और जिन्हें दीमक और कीड़े खाते रहे हैं उनमें फिर जान पड़ जाए। इसीलिए गोन्जा जैसे प्रदेशों का अध्ययन करते हुए यह बात हमेशा ध्यान में रखनी होगी कि पश्चिमी सूडान के विभिन्न प्रदेशों का सम्पर्क उत्तरी अफ्रीका और मध्य पूर्व के इस्लामी संसार से बराबर रहा है और इस सम्पर्क के जरिए वे ग्रीस और रोम तथा पूर्वी भूमध्य सागर की सेमिटिक सभ्यताओं के भी सम्पर्क में रहे हैं।

बौद्धिक सम्प्रेषण की इस पद्धति में सम्पर्क-सूत्र वे पुस्तकें हैं जिनमें सूचनाएं संग्रहीत हैं और वे व्यक्ति हैं, जो उन पुस्तकों को पढ़ कर उनकी व्याख्या कर सकते हैं। इस प्रकार के सम्पर्क-सूत्र न केवल पश्चिमी सूडान के प्रमुख नगरों में मिलते हैं बल्कि व्यापार के मार्गों पर स्थित छोटे-छोटे केन्द्रों में भी। ऐसे ही स्थानों में गोन्जा का सलागा नगर है तथा और उत्तर में मौसी की राजधानी वागाडूगू

के मार्ग पर पोंग तमाले तथा सावेलूगू जैसे स्थान है। यों इन स्थानों में कुछ झौंपड़ियाँ ही पाई जाती हैं जिसके बीच मिट्टी की दीवारों से बनी एक मस्जिद दिखाई देती है। लेकिन इन्हीं झौंपड़ियों और इन्हीं मस्जिदों में अभी भी ऐसी पुस्तकें पाई जा सकती हैं जो अपने आप में बड़ी महत्वपूर्ण हैं। ये पुस्तकें अधिकांशतः उत्तरी अफ्रीका और उससे भी आगे के प्रदेशों में लिखी गई थीं। उदाहरण के लिए सावेलूगू के अल् हज हुसैन के पुस्तकालय में ४३ पुस्तकें हैं, जिन्हे इस प्रकार वर्गीकृत किया गया है :

(१) न्याय शास्त्र (मालिकी) : १५ पुस्तकें।

(२) इल्म अल् नाह (वाक्य विन्यास) : १८ पुस्तकें।

(३) इल्म अल् सर्फ (आकृति विज्ञान) : ३ पुस्तकें।

(४) अरबी भाषा और कोष : ७ पुस्तकें।

सावेलूगू निवासी एक अन्य मुल्ला अबू बक्र बिन महमूद के पुस्तकालय में २१ पुस्तकें हैं जिनके लेखकों में कार्डोबा, बग़दाद और तूनीसिया के निवासी भी है। हाल में सलागा के पुस्तकालयों का एक सर्वेक्षण किया गया है, जिससे मालूम हुआ है कि १४ व्यक्तियों के पुस्तकालयों में ४६५ पुस्तकें हैं । ये सब अधिकांशतः छपी हुई किताबें हैं और बहुत पुरानी नहीं हैं। लेकिन इन के अलावा सलागा के कुछ वयोवृद्ध निवासियों के पास और प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियाँ हैं, जिन्हें या तो यात्राओं के दौरान या स्थानीय खरीद और विरासत द्वारा प्राप्त किया गया है।

ये सब अलग-थलग दृष्टान्त नहीं हैं। आयवरी कोस्ट में १९२० में प्रत्येक मुल्ला के पास एक पुस्तकालय था, जिसमें आम तौर पर तीन या चार पुस्तकें होती थीं। लेकिन कुछ लोगों के पास और बड़ा संग्रह होता था और पुस्तकों की संख्या २०० तक भी पाई जाती थी। हाल की एक खोज से मालूम हुआ है कि कम से कम १००० पाण्डुलिपियां पश्चिमी अफ्रीका के विभिन्न स्थानों में मौजूद हैं। इन के विषयों में इतिहास, धर्म, भाषा, अरबी व्याकरण, कविता, नक्षत्र विज्ञान, ज्योतिष, गणित, लोक कथाएं, भूगोल, शिक्षा, समाज-शास्त्र, तर्क शास्त्र और न्याय-शास्त्र आदि हैं। इस प्रकार के पुस्तकालय कानों और टिम्बकटू जैसे बड़े नगरों में पाए जा सकते

हैं। ये ऐसे नगर हैं जो हमेशा से देश विदेश के यात्रियों को अपनी ओर आकर्षित करते रहे हैं। इस आकर्षण का एक कारण यह भी रहा है कि वहाँ जा कर लोग बड़े-बड़े विद्वानों की सेवा में रह सकते थे और उनके पुस्तकालयों से पुस्तकें पढ़ कर ज्ञान-लाभ कर सकते थे। ऐसे नगरों में मस्जिदों के इर्द-गिर्द अस्थायी शिक्षा-केन्द्र बने हुए थे जो पश्चिमी यूरोप के मध्य युगीन विश्वविद्यालयों की भाँति थे। अफ्रीका में इस प्रकार के शिक्षा-केन्द्र का सबसे बढ़िया उदाहरण काहिरा की अल् अजहर मस्जिद का शिक्षा-केन्द्र है। एक यूरोपीय यात्री ने १९वीं शताब्दी के अन्त में टिम्बकटू की यात्रा के दौरान लिखा कि वहां के सानकोरे 'विश्वविद्यालय' की उपलब्धियाँ अद्वितीय हैं। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में इस विश्वविद्यालय का बड़ा ही नाम था और यहाँ के प्राध्यापकों का यश न केवल अश्वैत देशों में बल्कि अरबी अफ्रीका में सर्वत्र फैला हुआ था। मोरक्को, तूनीसिया और मिस्र तक से वहाँ विद्वान लोग पहुँचा करते थे। अरब की सभ्यता वहाँ मिस्र की सभ्यता से हाथ मिलाती थी और दोनों के समन्वय से टिम्बकटू का नाम उजागर था।

टिम्बकटू को यह ख्याति उस युग में प्राप्त हुई जब वहां सोंघाई शासनकाल में काफी हद तक शान्ति थी और उसका अन्त तब हुआ जब सहारा को पार करके मोरक्को ने आक्रमण किया। इस आक्रमण में ईसाई देशद्रोहियों ने भी साथ दिया और उन्हें इंग्लैंड की प्रोटेस्टेन्ट रानी से तकनीकी सहायता प्राप्त हुई क्योंकि रानी को बदले में बारूद के लिए कच्चा माल चाहिए था। टिम्बकटू आक्रमण का सामना करने के लिए उठ खड़ा हुआ लेकिन उसे दबा दिया गया और वहाँ के सर्वोत्तम विद्वानों को मोरक्को में निष्कासित कर दिया गया। इन में अहमद बाबा भी थे, जो मसूफा तूआरेग परिवार के थे। इस परिवार के बहुत से लोग विद्वान् कादी हुए है। अहमद बाबा बाद में मराकश में प्रसिद्ध अध्यापक बने। उन्होंने लिखा है कि मेरे सभी मित्रों में मेरे पास सबसे कम संख्या में किताबें थीं फिर भी जब आप के सैनिकों ने हमला किया तो वे मुझसे १६०० पुस्तकें छीन ले गए।

उत्तरी अफ्रीका से काफी संख्या में पाण्डुलिपियाँ आयात की जाती थीं। १६वीं शताब्दी में ईसाइयों द्वारा पकड़े गए एक मूर ने

जो वेटिकन के लिए काम करने लगा था, लिखा है, "यहाँ इस प्रकार की पाण्डुलिपियाँ या पुस्तकें लाई जाती हैं जो अन्य माल के मुकाबले कहीं अधिक पैसों में खरीदी जाती हैं।" साथ ही उसने यह शिकायत की है कि बहुत से डाक्टर, जज और धर्म गुरु ऐसे हैं जो बिल्कुल पढ़े-लिखे नहीं हैं। लेकिन शायद उसकी इस आलोचना का कारण यह था कि उसने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। माली के नरेश मन्सा मूसा, जिसने १३०७ ईस्वी से १३३२ ईस्वी तक शासन किया, के तीर्थयात्रा से लौटने के बाद, कीता कबीले के सम्राटों द्वारा विद्वत्ता और लेखन को बहुत अधिक आश्रय दिया गया। मन्सा मूसा तीर्थ-यात्रा से लौटते हुए मध्य पूर्व के अनेक विद्वानों को भी अपने साथ ले आए थे। पुस्तकों का भी आयात किया गया। स्कूलों को भी बढ़ावा दिया गया, किताबत शुरू हुई और मस्जिदें बनाई गयीं।

इस्लाम के उदय से जो साहित्यिक संस्कृति फैली वह केवल ग्रहणशील नहीं थी। लोगों की पुस्तक पढ़ने में दिलचस्पी के साथ-साथ पुस्तकें लिखी भी जाती थीं और उनमें से कुछ पुस्तकें बहुत उच्च कोटि की थीं। अहमद बाबा की रचनाओं में से ४० के नाम हमें ज्ञात हैं। यद्यपि उनकी अधिकांश रचनाएँ मालिकी नियमों की व्याख्या के रूप में थीं, फिर भी उन्होंने पद्य में एक ज्योतिष का ग्रंथ और पवित्र कुरान के कुछ भाष्य लिखे हैं।

जब उन्हें देश निकाल दिया गया तो उन्होंने 'अल कश्फ वा अल् बयाँ' नामक एक प्रबन्ध लिखा जो सूडान के विभिन्न लोगों के बारे में है, जिनमें से कुछ मुस्लिम थे और कुछ अन्य धर्मावलम्बी। उन्होंने एक जीवनी-कोष—'नायल अल् इब्तिहाज' भी लिखा। यह उस काल के मालिकी विद्वानों के लिए ज्ञान का मुख्य कोष था। इस ग्रन्थ की सहायता से टिम्बकटू के बौद्धिक अतीत को समझना सम्भव हो पाता है। नाइजर मोड़ के क्षेत्र में एक सबसे बढ़िया पुस्तक मोरक्को के आधिपत्य के समय लिखी गई। यह थी तारीख अल् सूडान। इसके लेखक थे अब्दलरहमान अल् सादी अल् तिनबुकती। यह पुस्तक पश्चिमी सूडान के इतिहास के लिए एक बहुमूल्य स्रोत है और एक ऐसी पाण्डुलिपि है जिसमें स्थानीय इतिहास का विवरण दिया गया है। इस प्रकार टिम्बकटू के इन सभी विद्वानों ने, जिनमें से कुछ लोग

मिस्र जाकर अध्ययन कर रहे थे, अपनी तीर्थ यात्राओं से वापस आने के बाद अनेक पुस्तकें लिखीं और अपनी जानकारी को हौसा प्रदेश में तथा अन्यत्र फैलाया।

यद्यपि टिम्बकटू सम्पूर्ण पश्चिमी अफ्रीका में विद्वत्ता के प्रसार का महान केन्द्र था परन्तु रचनात्मक लेखन केवल वहीं तक या शिक्षा के अन्य बड़े केन्द्रों तक सीमित नहीं था। गोंजा में, जो इस्लामी संसार की सीमाओं पर स्थित था, न केवल १८वीं शताब्दी के मध्य काल का इतिहास मिलता है बल्कि उसके बाद की शताब्दी में अल् हज्ज उमर के लेखन की असाधारण रूप से प्रभावशाली सूची मिलती है, जिसके अन्तर्गत धार्मिक विषयों, ऐतिहासिक पद्यों, पत्र लेखन आदि विषयों की पुस्तकें हैं। ये पुस्तकें अरबी और हौसा भाषा में हैं और काफी अच्छे साहित्यिक मूल्य से युक्त हैं। उसने अरबी से कुछ पुस्तकों का हौसा में अनुवाद भी किया था।

अल् हज्ज उमर की उपलब्धियों का वर्णन उस प्रदेश के प्रशासक और मानव वैज्ञानिक आर० एस० रैट्रे ने किया है जो उनका शिष्य था और एक नगर का जिला कमिश्नर था जहाँ जा कर अल् हज्ज उमर सलागा के गृह युद्ध के बाद बस गए थे। रैट्रे ने लिखा है कि उमर ने अनेक वर्ष घूमते फिरते बताए और उसने एक अरबी कवि इमरुइल क़ैसी की कृतियों का कई वर्षों तक अध्ययन किया, उसके सम्बन्ध में बहुत सा साहित्य एकत्र करके उसकी तुलनात्मक समीक्षा की और बाद में हौसा भाषा में ३४ पदों का अनुवाद किया।

इन पदों का अनुवाद बाद में लैटिन में बैरन डी स्लेन ने १८३७ में प्रकाशित किया और इनका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया गया। लेकिन रैट्रे के अनुसार सर्वोत्तम अनुवाद उमर का ही था।

उत्तरी घाना में मौलिक लेखन किस हद तक हुआ था इसका अध्ययन हॉजकिन और विल्क्स ने किया है। इस अध्ययन का आधार लेगन स्थिति अफ्रीकी अध्ययन संस्थान की ४०० पाण्डुलिपियाँ हैं। मगरिब, मध्य पूर्व और पश्चिमी अफ्रीका के अन्य भागों में उपलब्ध पुस्तकों की सूचियों तथा पुस्तकों और पाण्डुलिपियों की सहायता से जो अध्ययन किया गया उससे उत्तरी घाना की एक ऐसी तस्वीर बनती है जो एक सरल समाज की सामान्य धारणा से काफ़ी अलग है।

जब हम उत्तरी घाना के समाजों की ओर इस दृष्टि से देखते हैं कि किस प्रकार वे एक दूसरे को प्रभावित करते रहे हैं और जब हम विचार करते हैं कि किस प्रकार वहाँ लेखन का उपयोग साक्षर लोगों द्वारा भी होता रहा है और निरक्षर लोगों द्वारा भी, तो उन समाजों के लिए सरल विशेषण का प्रयोग कुछ सही भी मालूम होता है। और यह तो स्पष्ट ही है कि हम मौखिक संस्कृतियों के विश्लेषण के लिए जो भी मानदण्ड बनाते हैं उनसे पृथक मानदण्ड उस प्रकार के समाजों के अध्ययन के लिए बनाने होंगे, जहाँ मौखिक परम्पराओं के साथ-साथ लेखन का भी यथेष्ट प्रभाव और प्रसार है।

उत्तरी क्षेत्र के लिए साक्षरता के काफी महत्वपूर्ण परिणाम हुए। लेखन द्वारा वहाँ के लोगों का सम्पर्क एक विश्वव्यापी धर्म से और सार्वभौम विधि-संहिता से हुआ। इसके कारण कुछ उस प्रकार की संभावनाओं ने भी रूप ग्रहण किया जिसका वर्णन मैंने और वाट ने ग्रीक लोगों की उपलब्धियों के संदर्भ में किया है। मार्टी ने जंगलों के आस-पास के क्षेत्रों में रहने वाले मुसलमानों के बारे में लिखते हुए कहा है कि उनकी बौद्धिक क्षमता साधारण शिक्षा प्राप्त किसी यूरोपीय से कम होती थी फिर भी अन्य अश्वेत लोगों की तुलना में उसे सचमुच बहुत आश्चर्यजनक कहा जाएगा क्योंकि लेखन का ज्ञान होने के कारण इन लोगों के हाथ में एक ऐसा साधन आ गया है जो पूर्णता प्रदान करने की ओर महत्वपूर्ण प्रयत्न है। इस प्रकार वे विकास की सीढ़ियों पर चढ़ने का दावा कर सकते हैं।

इस्लाम के तरीके चाहे जितने अटपटे दिखाई दें लेकिन उनके अन्तर्गत बौद्धिक गतिविधियों का विकास हुआ है और प्रतिभा तथा समीक्षात्मक क्षमता विकसित हुई है। विभिन्न पुस्तकों के पठन-पाठन और व्याख्या द्वारा उनमें चिन्तन शक्ति बढ़ी है और अक्सर कुछ मुल्लाओं को बड़ी दुरूह पुस्तकों की व्याख्या करते हुए देख कर उनके भाषा और व्याकरण के ज्ञान पर बड़ा आश्चर्य होता है। विशेष रूप से इसलिए और भी कि उन्होंने अजीब-अजीब तरीकों से ज्ञान अर्जित किया।

इस प्रकार मार्टी के अनुसार लेखन की उपलब्धि का कारण यह रहा है कि विभिन्न संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान हुआ। विद्वानों

ने समीक्षात्मक प्रतिभा विकसित की, जिज्ञासा और व्याख्या को बढ़ावा मिला और भाषा के स्वरूप को समझने की लालसा बढ़ी। लेकिन इन उपलब्धियों के बावजूद लेखन का प्रभाव भूमध्य सागरीय प्रदेशों में उतना अधिक नहीं हुआ जितना अन्यत्र जिसका कारण खोजने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस प्रकार की खोज से भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से कहीं अधिक व्यापक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं क्योंकि इसके लिए न केवल पश्चिमी अफ्रीका में बल्कि समस्त मुस्लिम संसार में लेखन की स्थिति पर विचार करना होगा।

सेमिटिक लिपियों की तरह इस प्रदेश की लिपि के बारे में भी कुछ कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। शुरू में स्वरों के लिए कोई स्पष्ट चिन्ह न होने के कारण पढ़ने वालों के लिए कठिनाई उत्पन्न हुई। इस कठिनाई को दूर करने के लिए ७वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में बसरा निवासी अद दुआली ने स्वरों के चिन्ह का आविष्कार किया। इसके बावजूद अरबी लिपियों द्वारा अभी भी अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं और सोवियत संघ में अरबी भाषाओं की साक्षरता के अभियान के साथ-साथ रोमन लिपि के प्रयोग को भी शुरू किया गया। १९२८ में मुस्तफा कमाल पाशा ने अरबी लिपि के स्थान पर तुर्की में रोमन लिपि की शुरूआत की।

अरबी लिपि की वर्णमाला से भी अधिक महत्वपूर्ण शिक्षा की पद्धति है। चाहे हम प्राथमिक शिक्षा पद्धति पर विचार करें या उच्च शिक्षा पर, एक सामान्य विशेषता यह है कि शिक्षा के क्षेत्र में धर्म की प्रधानता है।

गोंजा के सलागा और बोले जैसे नगरों में मुस्लिम परिवारों के अनेक बच्चे आज इस्लामी स्कूलों में पढ़ते हैं अथवा उनके परिवार वाले उन्हें शिक्षा देते हैं। लेकिन फिर भी मुसलमानों के अन्तर्गत अच्छी प्रकार से लिखने-पढ़ने वालों की संख्या अधिक नहीं है। इसका एक प्रमुख कारण शिक्षा को धार्मिक शिक्षा से एकाकार कर देना है : इसके परिणामस्वरूप विद्यार्थी लिखने और पढ़ने की पद्धति सीखने के बजाय पवित्र कुरान को सीखने की ओर अधिक ध्यान देता है। उसके लिए पढ़ना किसी वर्णमाला के अक्षरों को पहचानना

न हो कर दैवी दृष्टि से एकाकार होना है।

जैसा कि अक्सर होता है, जब पढ़ने-लिखने का सम्बन्ध किसी धार्मिक पुस्तक से जोड़ दिया जाता है तो जिस भाषा में वह पुस्तक लिखी गई है उसे बनाये रखने के प्रयास में लेखन की पूरी क्षमता का विकास सम्भव नहीं हो पाता। यूरोप में लैटिन, भारत में संस्कृत और थाइलैंड में पालि भाषाओं के कारण पण्डित-वर्ग से बाहर के लोगों के लिए साक्षरता की उपलब्धि बहुत कठिन हो गई है।

इसके अतिरिक्त धार्मिक साक्षरता के अन्तर्गत पवित्र शब्द को कण्ठस्थ करना इसे पढ़ने से कहीं अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। हौसा प्रदेश में अथवा १९वीं शदाब्दी के काहिरा नगर के आसपास के प्राथमिक स्कूलों में अक्सर बच्चों को वर्णमाला के जरिये पढ़ना सिखाया जाता था। लेकिन वहुत से ऐसे स्कूलों में, जिनमें से कुछ को मैंने भी उत्तरी घाना में देखा, आरम्भिक कक्षाओं में पढ़ना सिखाने के बजाय रटी हुई बातों को दोहराना सिखाया जाता था और अक्षर केवल उस चीज़ को दोहराने का सकेत देने वाले चिन्ह होते हैं जो एक के बाद एक आती जाती हैं। इस प्रकार पढ़ाई का मतलब अक्षर बोध न हो कर केवल रटना हो जाता है हालाँकि जो विद्यार्थी बहुत योग्य होते हैं और लगातार पढ़ते रहते हैं वे अन्त में पढ़ना सीख जाते हैं।

एक तीसरा कारण यह भी है कि इन स्कूलों का संगठन इस प्रकार का होता है कि शैक्षिक संस्थाग्रों के रूप में वे प्रभावशाली नहीं हो पाते। गोंजा में जिन स्कूलों में क़ुरान पढ़ाई जाती है उन में से अधिकांश अंशकालिक हैं। और स्वयं विद्यार्थी भी ग्रपना समय पढ़ाई-लिखाई में देने के बजाय अध्यापक के खेतों में काम करने में अधिक बिताते हैं। यह स्थिति छोटी-छोटी बस्तियों में और ज्यादा पाई जाती है, जहाँ अध्यापक अथवा अभिभावक बच्चे के परिश्रम का लाभ उठाये बिना अपना काम नहीं चला सकते। बूईपे में एक-मात्र शिक्षा मुल्ला काजी द्वारा अपने घर में बच्चों को दी जाती थी। लेकिन एक शिष्य, जो उसके घर में रहता था, खेत पर काम करता था और वह स्वयं उसे पढ़ाने के लिए शायद ही कभी खेत

पर जाता था। अन्य बच्चे भी खेत के काम में सहायता देते रहते थे और इस प्रकार पढ़ाई के लिए बहुत कम समय निर्धारित होता था। सलागा जैसे बड़े नगरों में, जहाँ स्कूल प्राय: स्थानीय मस्जिदों से सम्बद्ध होते हैं, पढ़ाई अधिक व्यवस्थित ढंग से हो सकती थी। फिर भी इन स्थानों में भी विद्यार्थी अपने शिक्षकों के खेतों पर काम करते थे और स्कूल में जिस प्रकार समय बीतता था उससे कहीं अधिक अच्छे ढंग से समय का सदुपयोग किया जा सकता था। मार्टी के अनुसार लड़के सवेरे ६ से ७ बजे तक और शाम को ५ से ६ बजे तक स्कूल में पढ़ते थे। लेकिन यह समय भी पूरी तरह पढ़ाई में न लगा कर प्राय: और काम में लगा दिया जाता था। पढ़ाई में अथिक रुचि न लेने का यह भी कारण है कि उन समाजों में साक्षरता का उपयोग अधिक न होने से थोड़े से साक्षर लोगों से ही समाज की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती थीं और इसीलिए लोगों को पढ़ना-लिखना सीखने के लिए अधिक समय देने की बजाय अपने काम में कुशलता प्राप्त करने के लिए समय देना अधिक उचित लगता था।

इन सब कारणों से यह प्रकट हो जाता है कि इस प्रकार के समाजों में धरातल पर अधिकांश असाक्षर लोग और चोटी पर साक्षर लोग क्यों होते हैं। जो लोग पढ़ाई के लिए स्कूलों में प्रवेश भी लेते हैं उन में काफ़ी अनुपात में लोग बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं और जितना कुछ पढ़ पाते हैं वह बहुत ऊँचे स्तर का नहीं होता। इसीलिए तकनीकी दृष्टि से कुशल साक्षरों की संख्या भी बहुत कम होती है। कुछ उपसमूहों में यह अनुपात औरों से अधिक होता है लेकिन कुल मिला कर साक्षरता के स्तर को साधारण ही कहा जायेगा।

जो लोग प्राइमरी स्कूलों में दाखिल होते हैं उन में से थोड़े ही लोग और आगे के अध्ययन को अपनाते हैं। यह अध्ययन किस क्रम से प्राप्त किया जाता है इसका संकेत निम्नलिखित वर्णन से मिलता हैं जो फुलानी नेता अल् हज्ज उमर ताल के आरम्भिक जीवन के बारे में है :

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि अल् हज्ज ने इस्लामी

शिक्षा के क्लासिकी रूप के अनुसार शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ किया। इस प्रकार की शिक्षा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में पूरे पश्चिमी सूडान में काफ़ी प्रमुखता प्राप्त कर रही थी। विभिन्न सूत्रों से प्राप्त सामग्री के अनुसार यह शिक्षाक्रम इस प्रकार था कि ७ से १० वर्ष तक की आयु के बालक को आरम्भिक अरबी पठन और लेखन संभवत: घर में ही सिखाया जाता था। अल् हज्ज को उनके पिता ने इस प्रकार पढ़ाया-सिखाया। इस के बाद जिस आयु में बालक अपनी माँ से अलग सोना आरम्भ करता था, उसे किसी शिक्षक से सम्बद्ध कर दिया जाता था और वह अनिवार्यत: नमाज़ पढ़ना शुरू कर देता था तथा कुरान को कंठस्थ करने का सिलसिला शुरू करता था। इसमें लगभग ४ वर्ष लग जाते थे हालांकि अल् हज्ज और शेहू अहमदू बारी के विषय में कहा जाता है कि १२ वर्ष की आयु में ही वह पूरी कुरान कण्ठस्थ कर चुके थे। इस समय इसी आयु में और इस आधार पर अल् अज़हर विश्वविद्यालय के कई प्रारम्भिक विभागों में प्रवेश मिलता है कि दाखिला लेने वालों को कुरान याद हो। ४ वर्ष तक कुरान याद करने के बाद उसके पाठ को समझने में और चार वर्ष लगाये जाते थे, जिसके बाद विद्यार्थी को हाफ़िज की उपाधि दी जाती थी।

इससे ऊपर की शिक्षा के लिए उन विद्यार्थियों को चुना जाता था जो प्रसिद्ध गुरुओं की खोज के लिए यात्रा पर जाने के लिए तैयार होते थे। अल् हज्ज ने २० वर्ष से पहले की ही आयु में दूर-दूर की यात्रायें आरम्भ कीं। वे मोरितानिया, फूटा तोरो, फूटा बोंदू और फूटा जालो गए जहाँ उन्होंने सम्भवत: 'तिजानिया' की दीक्षा ली।

उनके नाम से सम्बद्ध दूसरा स्थान कोंग है। कोंग में अल् हज्ज ने जो शिक्षा प्राप्त की वह बहुत विकसित स्तर की थी। उन दिनों पश्चिमी अफ्रीका में उच्चतर इस्लामी शिक्षा दो प्रमुख विषय-वर्गों में बंटी हुई थी। एक प्रधान वर्ग था और दूसरा सहायक वर्ग। यह लगभग उसी प्रकार का वर्गीकरण था

जैसा कि मध्य युग में किया जाता था और जिसको १९वीं शताब्दी के अन्त तक अल् अज़हर विश्वविद्यालय में प्रयोग में लाया जाता था। प्रधान वर्ग के अन्तर्गत कुरान तो है ही; उसके अलावा तफसीर, हदीथ, तौहोद उसूल अल् फिक़ तथा तसव्वुफ़ आदि विषय होते थे। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत विषयों की शिक्षा बहुत कम स्कूलों में दी जाती थी और इस वर्ग में व्याकरण अर्थात् नाव, वाक्य विन्यास अर्थात् सर्फ, छन्द शास्त्र, सार्वजनिक भाषण-कला अर्थात् बयान और तर्कशास्त्र अर्थात् मन्तीख़ सिखाया जाता था।

शिक्षा की प्रगति का एक उदाहरण यह है कि हौसा राज्यों के एक शासक के छोटे भाई अब्दुल्ला इब्न मुहम्मद ने अपने भाई द्वारा किये गये युद्धों का वर्णन लिखा है। अब्दुल्ला की एक किताब की भूमिका में हिसकट ने लिखा है :

> अब्दुल्ला विद्वानों की एक लम्बी पीढ़ी मे आये थे और उन्होंने बहुत कम आयु में धार्मिक शिक्षा लेनी शुरू की। वास्तव में फुलानी के लोगों का जीवन मुस्लिम धर्म के इर्द-गिर्द निर्मित होता था और धार्मिक विज्ञानों का पठन-पाठन बहुत महत्वपूर्ण माना जाता था। शिक्षा पद्धति के अन्तर्गत गुरु की खोज करने की प्रणाली प्रचलित थी और कभी-कभी लोगों को जगह-जगह जा कर पढ़ाई करनी होती थी। कभी लोग मस्जिदों में शिक्षा पाते थे तो कभी स्कूलों में। अब्दुल्ला जिस कबीले का था उस में अधिकांशतः परिवारवालों को ही शिक्षक बनाने की प्रथा थी। अब्दुल्ला ने अपने अध्यापकों और पाठ्य-क्रम का विवरण लिखा है जो आज भी उपलब्ध है। सभी मुस्लिम लड़कों की तरह उसकी शिक्षा भी कुरान के पाठ से आरम्भ हुई जो उसने अपने पिता से सीखा। १३ वर्ष की आयु में उसे पढ़ने के लिए शेहू उथमान के पास भेजा गया जो बड़ा भाई था। उससे अब्दुल्ला ने अल् इस्रीनियात, अल् बित्रियात, ६ कवियों, सनूसी के ग्रन्थों में से तौहीद, तथा अन्य पुस्तकें पढ़ीं। शेहू से उसने वाक्य रचना भी सीखी। उसने सूफीवाद, कानून और हदीथ भी पढ़ी।

उसने लिखा है कि धार्मिक अध्ययन में मेरी लगातार बनी रहने वाली दिलचस्पी का कारण मेरे बड़े भाई का मुझ पर प्रभाव है। यह प्रभाव लगभग जीवन पर्यन्त बना रहा। ऐसा लगता है कि अब्दुल्ला प्रतिलिपिकार भी था क्योंकि उसने लिखा है कि शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि कोई ऐसी पुस्तक मेरे देश में आई हो, मुझे उसकी जानकारी हो और मैंने उसकी प्रतिलिपि न तैयार की हो।

अब्दुल्ला को शिक्षा देने वालों में उसके चाचा मोहम्मद बिन राज, अब्दुल्ला बिन मोहम्मद हानदू तथा जेहाद-पूर्व के विद्वानों में अल् हज्ज जिबरील, मोहम्मद अल् फिराब्री, मोहम्मद अल् बुट्टुघा, और मोहम्मद अल् माघरी थे। बाद में अदुल्ला स्वयं अपने भतीजे बेलो बिन उस्मान के शिक्षक बने। उनकी शिक्षा प्रौढ़ावस्था तक भी चलती रही क्योंकि हम देखते हैं कि जेहाद से पहले के वर्षों में वे उस्मान के साथ यात्रा कर रहे थे, अनेक विद्वानों के पास जा कर विद्या प्राप्त कर रहे थे और उन्हें इन विद्वानों से अध्यापन के लिए इजाज़ा अथवा लाइसेंस प्राप्त हुआ था।

जिस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा पर धर्म का प्रभाव था उसी तरह उच्चतर शिक्षा पर भी यह प्रभाव देखा जा सकता था। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि एक तो प्रारम्भ से उच्च शिक्षा तक की प्रगति लगभग पूर्व निश्चित और अपरिवर्तनीय ढंग से होती थी। दूसरे उच्चतर शिक्षा के लिए लोगों को जगह-जगह घूम कर प्रयास करना पड़ता था और इसीलिए वह कुछ ही लोगों तक सीमित होती थी और उसमें बहुत समय लगता था। घुमन्तू शिक्षा प्रणाली का कारण यह था कि शिक्षा देने वाले विद्वान दूर-दूर तक बिखरे हुए थे। दूसरा कारण यह भी था कि शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्ति स्वयं अक्सर हज के लिए मक्का जाते हुए रास्ते में शिक्षा भी प्राप्त करते थे। उच्च शिक्षा की धीमी प्रगति का एक कारण यह भी था कि शिक्षण मुख्यतया व्याख्या तक सीमित होता था। उच्च शिक्षा के स्तर पर विद्यार्थियों से आशा की जाती थी कि वे जो भी पुस्तकें पढ़ेंगे उन्हें जबानी याद कर लेंगे। फुलानी नेता अब्दुल्ला के विषय

में कहा गया है, "उसने जो कुछ भी पढ़ा उसे कंठस्थ कर लिया और इसलिए वह बड़ा विद्वान बना और उसी ने अल् कराशी पर व्याख्या पढ़ कर सुनाई। अगर वह कोई गलती करता तो उसका यह मामा उसे सही करता हालांकि उसे किसी किताब को देखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।" उच्च शिक्षा की प्रगति के अभाव का एक और कारण यह था कि व्यावहारिक शिक्षा के क्षेत्र में पाठ्य-क्रम बहुत सीमित होता था। इस सम्बन्ध में स्थिति की समीक्षा करते हुए हिस्कट ने लिखा है: "अब्दुल्ला और उसके सम्बन्धियों ने जिन ग्रन्थों का अध्ययन किया उनको देखने से प्रकट होता है कि वे कुरान और कुछ क्लासिकी ग्रन्थों पर निर्भर करते थे। बाद में उन्होंने अर्ध-क्लासिकी ग्रन्थों पर भी, जिनकी संख्या काफी थी, निर्भर किया।" इस क्रम में जो मध्यवर्ती रिक्तता आई वह महत्वपूर्ण है क्योंकि उससे संकेत मिलता है कि उन्हें अरबी साहित्य की महान शाखाओं, आरम्भिक भूगोलवेत्ताओं की कृतियों, और चिकित्सा तथा वैज्ञानिक ग्रन्थों की जानकारी नहीं हो पाई, यद्यपि अब्दुल्ला फोडियो को 'अंकगणित विज्ञान की आरम्भिक और सरल जानकारी' दी गई थी।

इस तथ्य का सम्बन्ध इस बात से है कि साक्षरता पर धर्म के साथ-साथ जादू-टोना भी हावी था। अल् बूनी की 'शम्स अल् मआरीफ़' जैसी पुस्तकों में दी गई तन्त्र-मन्त्रादि की जानकारी, जैसे जादुई वर्ग, संख्यायें और नाम, पवित्र पुस्तक से सम्बद्ध होते रहे। १९वीं शताब्दी के मिस्र में भी, जब कि शहरीकरण काफ़ी आगे बढ़ चुका था, जादू-टोने की चीज़ों का व्यवसाय, जो धर्म और साक्षरता के दोहरे खंभों पर टिका था, काफ़ी व्यापक था।

इस प्रकार के जादू-टोने के अन्तर्गत सबसे प्रभावशाली स्थान स्वयं पवित्र ग्रन्थ या 'मुशअफ़' का है। इसके बाद ऐसी पुस्तक या अभिलेख का स्थान है जिसमें आम तौर पर कुरान के सात अध्याय लिखित हों। इसके विकल्प के रूप में अल्लाह के ९९ नाम भी हो सकते हैं जिनके द्वारा उसके सभी गुणों का वर्णन किया गया हो। प्रभु के इसी प्रकार के पवित्र और गुप्त नामों का उल्लेख यहूदी, मसीही और मांडेयी जादू के अन्तर्गत भी मिलता है।

लिखित जादू को इसलिए अत्यधिक प्रभावशाली माना जाता है कि वह कथ्य को ठोस रूप प्रदान करता है। यह काम अन्य ठोस वस्तुओं द्वारा भी किया जाता है परन्तु लेखन के कथ्य से निकट सम्बन्ध के कारण उसका अधिक महत्त्व माना जाता है। उच्चरित शब्द लिखित रूप में व्यक्त किया जा सकता है, अतः लेखन से पूर्ण मन्त्र-शक्ति उपलब्ध की जा सकती है। इस्लामी 'हिज़्' में दो बातें होती हैं : 'दावा' अर्थात् जादू और 'जडवल' अर्थात् 'छवि', जो एक प्रकार की जादुई डिज़ाइन मानी जाती है। इन लिखित रूपों का लाभ यह है कि वे आसानी से एक जगह से दूसरी जगह ले जाए जा सकते हैं तथा वे स्पर्श्य और विभाज्य हो सकते हैं। इसलिए मौखिक जादू से लिखित जादू का महत्त्व अधिक हो जाता है। इसे अन्य संदर्भ में देखें तो हम कह सकते हैं कि कथन को लेखन में बदलने की प्रक्रिया के लिए शब्दों के विश्लेषण, पुनर्संयोजन और उन्हें वाक्यों में बदलने की क्षमता अपेक्षित है। लेखनकला के जन्म से पूर्व व्याकरण की कल्पना करना असंभव प्रतीत होता है। साथ ही, यह उल्लेखनीय है कि भारत में पाणिनि नें वर्णमालात्मक लिपि के प्रचलन के कुछ ही समय बाद अपनी संस्कृत व्याकरण प्रस्तुत की। लेखन की संश्लेषण-विश्लेषण क्षमता के कारण ही तन्त्र-मन्त्रादि तथा धर्म के उद्‌देश्यों के लिए ज्ञान का पुनर्संयोजन होता रहा। यह वह संयोजन था जिसे डर्कहाइम और मॉस नें 'आदिम' युग की उपज कहा है। लेकिन इसे सार्वजनिक या सामाजिक संदर्भ में नहीं देखा गया, जो इसकी व्याख्या के लिए केन्द्रीय आवश्यकता है, बल्कि प्रच्छन्न सत्यों का उद्‌घाटन करने वाले गुप्त फ़ारमूलों के रूप में ही देखा-परखा गया जिनपर कुछ ऐसे लोगों का अधिकार माना जाता था जो पुस्तकों के स्वामी थे और स्वयं लेखन कला जानते थे। ऐसी किसी पुस्तक या लेखक का प्रभाव वस्तुतः माना ही इसलिए जाता था कि वह एक ऐसी अजनबी वस्तु या व्यक्ति है जिसे गुप्त विद्या सिद्ध है।

अंकों या अक्षरों का इस प्रकार का प्रयोग अन्य समाजों में भी हुआ है। ब्राह्मण वर्ग मन्त्रों और यन्त्रों का प्रयोग करता था। मांडेयी अपनी वर्णमाला को 'अबागा' कहते थे जिसका अर्थ होता है 'जादू का पाठ'। रहस्यात्मक हेब्रू पुस्तकों के अनुसार ईश्वर नें सृष्टि की

रचना वर्णमाला के द्वारा की और इसके लिए अपने नाम के अक्षरों का अनेक प्रकार से संयोजन किया; इन्हीं संयोजनों या फ़ार्मूलों की जानकारी द्वारा मनुष्य सृष्टि का स्वामी बन सकता है। ईसाइयों के सिद्धान्तों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है। १५वीं शताब्दी के अन्त में शब्दों की विस्मयकारी शक्ति पर विद्वानों में काफ़ी बहसें होती रहीं। उन्होंने पवित्र धर्म-ग्रन्थों की प्रतीकात्मक व्याख्यायें कीं और उनकी मन्त्रात्मकता पर प्रकाश डाला।

लेखन द्वारा भविष्यवक्ताओं की कला को भी बहुत विस्तार मिला। जन्म-कुण्डली बनाने की कला बेबीलोनी गणित और खगोल शास्त्र के उदय के फलस्वरूप पनपी : इस कला के पीछे यह विचार था कि मनुष्य और प्रकृति के घटना-चक्र परस्पर सम्बद्ध होते हैं। जन्म-कुण्डली अन्ततः लेखन-कला के विकास पर निर्भर होती है। उससे सम्बद्ध ज्योतिष की जानकारी का यूरोपियन और अफ्रीकी देशों में प्रसार लेखन के बिना संभव नहीं हो सकता था।

लेखन ने जादू को निष्कासित नहीं कर दिया। इसके विपरीत लेखन-कला के कारण जादू-टोने को अलौकिक शक्ति मिली, खास तौर पर उन स्थानों में जहाँ लेखन मुख्य रूप से धार्मिक कृत्य माना जाता है। यह बात काग़ज़, पैपीरस, स्लेट, या चमड़े पर लिखाई के लिए प्रयुक्त होने वाली स्याही के सम्बन्ध में विशेष रूप से लागू होती हैं क्योंकि यह माना जाता है कि जो पदार्थ कथन को ठोस स्वरूप प्रदान करता है उसमें उच्चरित शब्द की शक्ति को मंजूषा-बद्ध करने की भी क्षमता है। किसी लिखित सतह को धोकर धोवन पी लेने का अर्थ है ऐसी शक्ति को हृदयंगम कर लेना जो अन्यथा बाह्य ही बनी रह जाती।

इसीलिए आरम्भिक 'कलम और कागज सभ्यता' के अंतर्गत शापों, संकल्पों और कष्ट-सहिष्णुताओं के संदर्भ में अक्सर 'शब्द-पान' का ज़िक्र आता है क्योंकि वह मौखिक सम्प्रेषण को सशक्त बनाता है (बैस्टियन: १८६० : जापान का एक उदाहरण।) लेखन कथन को स्पर्श्य पदार्थ में बदल देता है, इसलिए शब्दों को और अधिक सुविधा के साथ संयोजित किया जा सकता है।

इस पद्धति का एक आरम्भिक उदाहरण ओल्ड टेस्टामेंट में

मिलता है। हेब्रू विधान के अंतर्गत पादरियों की संहिता में निर्देश है कि अगर कोई व्यक्ति अपनी पत्नी पर दुश्चरित्र होने का संदेह करता है तो वह उसे पादरी के पास ला सकता है; उसे साथ में जौ के पानी का सत भी लाना चाहिए जिससे पत्नी उस कड़वे पानी को पीकर प्रायश्चित कर सके—'और पादरी अपने शापों को एक पुस्तक में लिखेगा और उन्हें कड़वे पानी से धोकर साफ़ करेगा और उस धोवन को वह स्त्री पियेगी और उस कड़ुवाहट को महसूस करेगी।'

'शब्द-पान' की प्रथा आज पश्चिमी अफ्रीका के उन भागों में दूर-दूर तक प्रचलित है जहाँ इस्लाम का प्रभाव रहा है। स्वयं मुझे गोंजा में एक समारोह में इस प्रकार का काला जल पीने के लिए दिया गया था। सेनेगल से हौसा प्रदेश तक यह माना जाता है कि कुरान के पवित्र शब्दों का प्रभाव इस ढंग से सबसे अधिक ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रथा का आगमन, साक्षरता की भाँति, उत्तरी अफ्रीका से (और अन्ततः पूर्वी भूमध्य सागरीय प्रदेशों से) हुआ जहाँ के अनेक लेखकों ने इसका उल्लेख किया है। लेन का कहना है कि 'मिस्र में रोग दूर करने का सबसे अच्छा तरीका यह माना जाना था कि किसी मिट्टी के बर्तन की भीतरी सतह पर कुरान के कुछ पृष्ठों की इबारत लिखी जाय, उसमें कुछ पानी उडेला जाय, उसे तब तक हिलाया जाय जब तक लिखित अक्षर बिलकुल घुल न जायं और फिर 'मरीज़ को वह पानी पीने के लिए दिया जाय जिसमें पवित्र शब्दों की सम्पूर्ण हितकर क्षमता घुलमिल गई हैं।' इसी प्रकार की प्रथा मैडागास्कर जा बसने वाले अरबों में, तिब्बत के बौद्धों में, दक्षिण पूर्व एशिया के अन्नामाइट लोगों में और स्वयं चीन में पाई जाती है जहाँ 'बीमारों को ठीक करने के लिए टोने के रूप में मंत्रों को या तो पत्तियों पर लिखा जाता है जिन्हें किसी पेय पदार्थ में डुबोया जाता है, या उन पत्तियों को जलाकर उनकी राख पेय पदार्थ में डाली जाती है और उसे रोगी को पिलाया जाता है। वस्तुतः शिक्षण के क्षेत्र में भी इस पद्धति को काम में लाया जाता है और जो शिष्य शुद्ध पाठ नहीं याद करते उन्हें अपनी गलती को धोकर पीने के लिए बाध्य किया जाता है।

दैवी क्षमता के साधन के रूप में स्याही का भी प्रयोग किया

जाता था। क़ाहिरा के १८३० के दशक का विवरण देते हुए लेन ने ऐसे भविष्य-दृष्टाओं का ज़िक्र किया है जो 'स्याही की बूँद पर दृष्टि केन्द्रित कर दूर की घटनाओं को देख लिया करते थे।' इसके लिए वे किसी कुमारी या कुमार को माध्यम बनाया करते थे। लेन को इस ढंग से शेक्सपियर का काफ़ी सही खाका बताया गया। उसके कुछ दूरवर्ती मित्रों का भी खाका खींचा जा सका। परन्तु किंगलेक का इस प्रकार का अनुभव बहुत सफल नहीं रहा। उसने जब दूर-दृष्टि का दावा करने वाले से अपने पिछले प्रिंसिपल कीट का परिचय चाहा तो जो खाका उभरा वह किसी सुन्दर लड़की का था, जिसके बाल सुनहरे थे, आँखे नीली और ओंठ सुर्ख ! वेस्टरमार्क ने मोरक्को में इसी प्रकार की प्रथा की चर्चा की है जिसका उद्देश्य चोरों का पता लगाना था।

दूर-दृष्टि सम्बन्धी अन्य पद्धतियों के अंतर्गत लेखन का और प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है। भारत के कुछ भागों में संदिग्ध व्यक्तियों के नामों को कभी-कभी मोम के गोलों पर लिखा जाता था। फिर उन गोलों को पानी में फेंक दिया जाता था। विश्वास किया जाता था जिस गोले पर चोर का नाम है वह उतरा आयेगा जबकि अन्य गोले तल में बैठ जायेंगे। फ्रेज़र ने लिखा है कि यूरोप के गाँवों में ग्रीष्म की संध्या पर युवाजन दूर-दृष्टि के अनेक उपाय अपनाया करते थे जिससे वे अपने प्यार का भविष्य जान कर सकें। इस प्रकार डोरसेटशायर में कोई लड़की काग़ज़ के टुकड़ों पर वर्णमाला के अक्षरों को लिखकर उन्हें पानी में डाल दिया करती थी। उसे विश्वास था कि वह अक्षर काग़ज़ की उस सतह से, जिस पर वह लिखा गया है, दूसरी सतह पर आ जाएगा और यह वही अक्षर होगा जिससे उसके भावी पति का नाम शुरू होगा...

मिस्र और पश्चिमी सूडान में इस 'जादू' की दो विशेषताएँ हैं जो इस निबन्ध के लिए संगत हैं। प्रथम यह कि कुछ सुधारवादी समूहों के अलावा अन्य क्षेत्रों में इसे धर्म का पोषण प्राप्त है और प्रायः विद्वान व्यक्ति भी इसका प्रयोग करते हैं। दूसरे, इसमें न केवल लेखन का प्रयोग होता है प्रत्युत यह संदर्भ ग्रन्थों पर आधारित होता है जिनमें 'जादू की किताबें' और तन्त्र-मन्त्र के ग्रन्थ भी हैं।

पृथम के सम्बन्ध में लेन लिखता है : "मुस्लिमों में जो अधिक समझदार हैं वे जादू के दो प्रकार मानते हैं : एक को वे 'एर्-रुहानी' अर्थात् आध्यात्मिक जादू कहते हैं और दूसरे को 'एस्-सीमिया' अर्थात् 'प्रकृत' तथा 'प्रवंचक' जादू। प्रथम प्रकार के जादू के बारे में विश्वास प्रकट किया जाता है कि वह देवदूतों और जिन्नों, और खुदा के कुछ नामों के रहस्यात्मक गुणों के ज़रिए अपने करिश्में दिखाता है तो दूसरे प्रकार के जादू का माध्यम इत्रादि सुगन्धित पदार्थ और औषधियाँ होती हैं। आध्यात्मिक जादू भी दो प्रकार का होता है : उच्च अथवा दैवी और निम्न अथवा शैतानियत वाला। प्रथम को 'ईश्वर द्वारा निर्मित विज्ञान' माना जाता है जिसका सदा अच्छाई के लिए ही उपयोग होता है। उसे केवल वे ही विद्वान व्यक्ति काम में ला सकते हैं जो परम्परा तथा अध्ययन के फलस्वरूप उन दैवी शक्तियों के नामों से परिचित हो जाते हैं जो उनके आह्वान पर उनकी इच्छापूर्ति करने को तत्पर रहती हैं। अच्छे उद्देश्यों के लिए तंत्र-मंत्र लेखन जादू की इसी शाखा तथा ज्योतिष और संख्याओं की रहस्यात्मकता के विज्ञान के अन्तर्गत आता है।" इस क्षेत्र में सर्वोच्च सफलता ईश्वर या अल्लाह के नाम की सच्ची जानकारी मानी जाती है। जिसे ऐसी जानकारी है उसके बारे में कहा गया है कि वह उस नाम के 'उच्चारण मात्र से मुर्दे में जान फूंक सकता है, जीवित को मृत बना सकता है, जहाँ चाहे निमिष मात्र में पहुँच सकता है और अन्य ऐसे ही करिश्मे दिखा सकता है।'

अशान्ती प्रदेश में इस प्रकार की पुस्तकें न केवल बड़ी संख्या में पाई जाती हैं, वे अनेक स्थानों में मिलती हैं। मैंने अपने छै महीने के प्रवास-काल में ऐसी एक पुस्तक मध्य गोंजा के गुइपे नगर में देखी। पेम्बे में मुस्लिम गोंजाओं के एक समूह के पास भी ३०० पृष्ठों वाली ऐसी एक किताब है। सलागा के 'अजनबी' मुसलमानों के आय के वैकल्पिक साधन होने और उनकी दिलचस्पी और व्यापक होने के कारण इस तरह की किताबों का उतना महत्त्व नहीं है। उनके पुस्तकालयों में अन्य विविध विषयों की पुस्तकें भी हैं और ऐसी पुस्तकों को कम पढ़ा जाता है। फिर भी, सलागा जैसे नगर में

जादू-टोने की गतिविधियाँ काफ़ी पाई जाती हैं और भविष्यदृष्टाओं तथा 'चिकित्सकों' की भरमार है।

अशान्ती और उत्तरी घाना के बीच सम्बन्धों की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी मुस्लिम तन्त्र-मन्त्रों की माँग है। यह बात न केवल अशान्ती सम्बंधी विवरणों से स्पष्ट है बल्कि १९वीं शताब्दी में उत्तरी भाग से हुए पत्र-व्यवहार से भी। कोपेनहेगेन के ९०० फ़ोलियो में से ९० प्रतिशत से अधिक जादुई फार्मूले और तन्त्र-मन्त्र हैं। इनमें से अनेक भूमध्यसागरीय क्षेत्रों के भी हैं। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं : 'सूरत यूसफ़ के गुण और लाभ', 'रमदान महीने के लाभ' 'पवित्र युद्ध के तरीक़े', 'चाँद की इमारतें' आदि। वर्ष के अच्छे और बुरे दिनों की सूची भी मिलती है।

गोंजा में इस प्रकार की गतिविधियों की निन्दा शायद ही कभी कोई धार्मिक व्यक्ति करता हो, और उनकी माँग राजनैतिक अधिकारियों द्वारा भी होती थी और साधारण जनता द्वारा भी। कोई कार्रवाई आरम्भ करने या औषधि के प्रयोग के लिए मुस्लिमों से प्रायः शुभाशुभ समय के बारे में परामर्श किया जाता है। आधिदैविक मामलों में उनकी मध्यस्थता का कार्य तबसे चलता आया है जब राज्य की नींव पड़ी थी। हाल के वर्षों में भी लौकिक राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पारलौकिक शक्ति के संचय के उदाहरण मिलते हैं। १९१२ के गृह-युद्ध के अनेक कारणों में एक यह भी था कि विद्रोही नेता काबाचेऊरा को पता चला कि जिस मल्लम से वह परामर्श करता रहता था उसी से उसका प्रतिद्वन्द्वी, नैपो का सरदार पेम्बे भी उसे मारने की विधि के बारे में पूछ-ताछ करता रहा। जब काबाचेऊरा ने विद्रोह शुरू किया तो उसने अपनी विजय के लिए डागोम्बा के मियोंग नगर के मल्लम इमोरू से परामर्श किया। आज के नये राजनैतिक नेताओं को भी ऐसे परामर्श दिए जाते हैं। घाना के पहले प्रेसिडेंट को एक महत्त्वपूर्ण बोले मुस्लिम ने जादू-टोने के मामलों में सहायता दी है और मैंने जब बोले के इमाम से विदा ली तो उन्होंने कृपापूर्वक मुझे बिना माँगे एक 'डूगू' या पैकेट दिया जिससे दक्षिण की ओर यात्रा के समय खतरे को दूर रखा जा सके।

मुस्लिमों द्वारा प्रदत्त ऐसी सेवाओं में से अनेक उस प्रकार की हैं जिनका प्रचलन भूमध्यसागरीय क्षेत्र में है। स्वयं भूमध्यसागरीय पुस्तकें आरम्भिक मध्य पूर्वीय मौखिक एवं लिखित साधनों से प्रभावित हुई हैं।

ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी गोपनीयता पाई जाती है जिसका कारण उन क्षेत्रों की पुस्तकों की विषय-वस्तु नहीं है बल्कि सीमित साक्षरता है जिसके कारण उनकी व्याख्या करने वालों की कमी रहती है, अतएव व्याख्याकारों का महत्त्व बढ़ जाता है। 'गोंजा क्रानिकल' या वृत्त का जो हाल हुआ, उससे व्यक्त होता है कि ऐसी परिस्थिति में लिखित शब्द का क्या भाग्य होता है। इस वृत्त के प्रथम भाग में मौखिक परम्परा का विवरण है जो मुस्लिम दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है। फिर, १८वीं शताब्दी के आरम्भ से ५० वर्षों तक उसमें गोंजा साम्राज्य की प्रमुख घटनाओं का वार्षिक विवरण दिया गया है। १७५२ से कोई रेकार्ड नहीं है यद्यपि १७६३ से १७६६ तक के तीन वर्षों का विवरण दिया गया है। इस गोंजा-वृत्त के अंशों का प्रसार-प्रचार अधिकांश गोंजा डिवीज़नों में हुआ जहाँ वह शिक्षित मुसलमानों के लिए इतिहास की संदर्भ पुस्तक बन गया। लेकिन साथ ही इस वृत्त का 'आनुष्ठानिक' मूल्य अधिक हो गया और उसे ऐसी 'गोपनीय' पुस्तक मान लिया गया जिस पर जन-साधारण की आँख नहीं पड़नी चाहिए।

पुस्तक को न केवल जादू की वस्तु, बल्कि 'गोपनीय' समझने की प्रवृत्ति से लेखन की सम्प्रेषणीयता पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रवृत्ति का असर 'पवित्र पुस्तक' पर भी पड़ता है। गोंजा के लारा-बंगा नगर ('अरबों के नगर') में कुरान की एक प्रति है जिसके विषय में कहा जाता है कि वह सीधे बहिश्त से प्राप्त हुई है। उसमें देश के इतिहास से सम्बद्ध प्रमुख तारीखें भी दी हुई हैं। लेकिन उसे कोई भी देख नहीं सकता। केवल मुहर्रम के मौक़े पर उसका समारोह के साथ प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार पुस्तक की जादुई विशेषताओं के पक्ष में उसकी प्रेषणीयता का बलिदान दे दिया गया है।

इस्लामी ज्ञान की गोपनीयता और उसमें जादू-टोने पर ज़ोर दिए जाने के कारण व्यापक साक्षरता के विकास को क्षति पहुँची

है। इसलिए इस नए क्रान्तिकारी साधन के प्रभाव सीमित ही रह गए हैं। लेकिन ऐसा सिर्फ अश्वेत अफ्रीका में ही नहीं हुआ है क्योंकि जब कभी साक्षरता का रूप मुख्यतः धार्मिक होता है तो पुस्तक और अधिक जिज्ञासा का साधन न रह कर, जो ज्ञानोपलब्धि के लिए आवश्यक है, स्वयं अपने-आपमें ऐसा साध्य बन जाती है जिसमें सभी कालों के लिए सभी प्रकार का ज्ञान संचित है। यह सही है कि बग़दाद के अब्बासीद खलीफ़ाओं के काल में कलाओं और विज्ञानों का विकास हुआ। लेकिन अधिकांशतः इस्लामी संस्कृति की प्रवृत्ति यह रही है कि विज्ञान और दर्शन के लिए जिस मुक्त चिन्तन की अपेक्षा होती है, उससे वह दूर भागती रही है। उसकी दृष्टि में शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य धर्म रहा है। जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है, वह, ओ लियरी के कथनानुसार, दरबारों में ही पनपा है। "वैज्ञानिक प्रायः अमीर और प्रभावशाली संरक्षकों पर निर्भर रहे हैं। सामान्य लोगों के लिए उनकी अपील नगण्य रही है। मुक्त चिन्तन को बढ़ावा देने वाले 'दार्शनिकों' को एक प्रकार से धर्मद्रोही लोगों की श्रेणी में गिना गया। जो लोग न्यायशास्त्र में पारंगत होते थे और परम्परा तथा कुरान के हामी थे उन्हीं को आदर मिलता था। वैज्ञानिकों को केवल इसलिए सहन किया जाता था कि उन पर राज्य की छत्रछाया होती थी।" (ओ लियरी : १९४८)

धर्मशास्त्र के क्षेत्र में परम्परा सर्वोपरि होती थी। मालिकी सम्प्रदाय के संदर्भ में हिस्कट लिखता है कि "धर्म-शास्त्र सम्बंधी विवेचन को धार्मिक लोग बड़ी अरुचि से देखते थे।" ११वीं शताब्दी में मुराबितों के बर्बर वंश का साम्राज्य स्थापित होने के बाद ही मुस्लिम स्पेन में दार्शनिक विवेचन का सिलसिला शुरू हुआ। यह बग़दाद के मुताजिलीतों और यहूदी विद्वानों के असर के कारण हुआ जो चिकित्सा और वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में काफी आगे बढ़े हुए थे। मुराबितों के बाद एक अन्य बर्बर वंश मुआहिदों का शासन हुआ जिन्होंने दमन-चक्र चलाकर कट्टरता को क़ायम किया लेकिन दार्शनिकों को इस शर्त पर चिन्तन करने की छूट थी कि "उनकी जानकारी जनता तक न पहुँचने पाये।" सबसे महान अरब दार्शनिक इब्न रश्द (११२६-९८) ने मानव जाति का वर्गीकरण करते हुए

उसे दो श्रेणियों में रखा : एक वे जो साक्षर थे और अरस्तू की तर्क प्रणाली का प्रयोग कर सकते थे; दूसरे वे जो असाक्षर थे जो केवल अनुचर हो सकते थे। यह श्रेणी-विभाजन उसके चिन्तन का फल न होकर अनुभव की उपज था क्योंकि स्वयं उस पर धर्म-द्रोह का आरोप लगाया गया था, उसको प्रदत्त सभी सम्मान छीन लिए गए थे और उसे कार्डोवा के निकट एक स्थान पर निष्कासन दे दिया गया था और यह सब इसलिए हुआ कि अधिकांश लोग विवेचनात्मक अध्ययन को नापसन्द करते थे।

मैंने इस निबन्ध में तीन स्तरों पर तर्क प्रस्तुत करने का प्रयास किया है : इन तीनों का सम्बन्ध साक्षरता से है। प्रथम, मैंने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि उत्तरी घाना में, और वस्तुत: अफ्रीका के अधिकांश भागों में, सम्पूर्ण यूरेशिया में और प्रशान्त के कुछ क्षेत्रों में भी हमें शायद ही ऐसे समाज मिलेंगे जो यूरोपियनों के प्रवेश से पहले से ही वर्णमालात्मक साक्षरता से प्रभावित न हुए हों। इस तथ्य की पूर्ण स्वीकृति से इस प्रकार के समाजों के सर्वांश कार्यात्मक अथवा संगठनात्मक विश्लेषण पर गम्भीर संदेह उत्पन्न होने लगता है क्योंकि लेखन के अस्तित्त्व का अर्थ यह है कि मौखिक समाजों के लिए उपयुक्त विश्लेषण-पद्धति के मुकाबले ऐसे समाजों के लिए विश्लेषण के तरीके अधिक जटिल होंगे क्योंकि उनके अन्तर्गत यह भी ध्यान रखना आवश्यक होगा कि दृश्य चिन्हों में मूर्त सांस्कृतिक तथ्यों में समय और स्थान की दृष्टि से दूरवर्ती और विविध समाजों से एकत्र सामग्री भी शामिल है। जब जादुई वर्गों की पद्धति चीन, भारत और मध्य पूर्व से लेकर मध्यकालीन यूरोप तक विस्तृत हो और इस परिधि में मानव समाजों, धर्मों, संहिताओं, आदि की अविश्वसनीय विविधता हो तो हम यह नहीं कह सकते कि ये वर्ग किसी एक ही संस्कृति को समझने की कुंजी बन सकते हैं। ये जादुई वर्ग वस्तुत: लेखन के फलस्वरूप जन्मे हैं और उसके साथ-साथ फैलते रहे हैं।

द्वितीय, मैंने किसी क्षेत्र की समाज-व्यवस्था पर साक्षर पद्धतियों के प्रभाव को दिखाने का यत्न किया है। यह प्रभाव मुख्यत: ऐन्द्र-जालिक-धार्मिक क्षेत्र में रहा है, पर अन्य क्षेत्रों पर भी असर होता

रहा है। लेखन को असाक्षर जनता ने पारलौकिक और लौकिक, दोनों ही प्रकार के सम्प्रेषण का साधन माना। वस्तुतः मानव-संबंधों के इन पक्षों को मौखिक संस्कृतियों में समान प्रधानता के साथ नहीं देखा जा सकता। लेखन के 'जादुई' गुणों की स्वीकृति स्वतः ही उन धार्मिक पद्धतियों की स्वीकृति की ओर एक क़दम था जो लेखन से सम्बद्ध थे। अतः जादू से धर्मपरिवर्तन घटित हो सकता था और धर्म-परिवर्तन से और अधिक साक्षरता सम्भव होती थी। लेकिन लेखन के प्रति जिस आकर्षण के कारण इस्लाम धर्म की स्वीकृति सम्भव हुई उसी के कारण धर्म-त्याग की संभावना भी बढ़ी जैसा कि मुस्लिमों के यत्र-तत्र जा बसने और अन्य धर्मावलम्बियों से उनके जातीय सम्पर्क से सिद्ध होता है। कारण यह है कि साक्षरता की उपयोगिता बहुत कम थी और व्यापारी समुदाय से बाहर वह छोटी संख्या में लोगों द्वारा जारी रखी जा सकती थी।

इस्लाम द्वारा जो लेखन आया उसने दूरवर्ती व्यापार की संभावनाओं को आरम्भ से ही स्पष्ट नहीं किया, हालांकि जो व्यक्ति हिसाब-किताब और दूर के स्थानों से सम्पर्क रख सकता था वह निश्चय ही सुविधाजनक स्थिति में था। इसके साथ एक सार्वभौम धर्म का बन्धन होने से विभिन्न वर्गों के व्यापारियों के बीच सुदृढ़ सम्बन्ध-सूत्र था जिसे अपरिवर्तनीय न्याय-व्यवस्था की छाया में और भी मजबूती मिली हुई थी। जैसा कि मार्टी ने लिखा है, इस्लाम धर्मावलम्बी होने का अर्थ था किसी यात्री क्लब का सदस्य होना। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि सर्वाधिक सफल व्यापारी—हौसा और द्यूला—सबसे कट्टर मुसलमान भी थे। जिन लोडगा गाँवों में मैंने कार्य किया वहाँ के दो ही मुसलमानों को मैं जानता हूँ। वे दोनों व्यापारी थे और मुख्य सड़क पर स्थित एक बहुजातीय बस्ती में जा बसे थे। किसी व्यापारी का धर्म-परिवर्तन किसान की अपेक्षा अधिक मजबूत आधार पर होता है क्योंकि उसका आर्थिक और सामाजिक लाभ मिलता है।

जहाँ तक गोंजा का सम्बन्ध है, साक्षरता के राजनैतिक लाभ बहुत कम थे लेकिन उससे सरदारों और मुस्लिमों के लिए दूर रह कर भी एक दूसरे से संपर्क स्थापित कर सकना संभव होता था।

साथ ही मौखिक परम्परा का कुछ लेखा-जोखा और गुजरे वर्षों का विवरण व्यक्तियों द्वारा रखा जा सकता था। कम से कम मुस्लिमों के लिए इतिहास, पुराण-प्रसूत माना जाता था और वह सद्यः वर्तमान की गतिविधियों के चिन्तन से उसी प्रकार कुछ अधिक था जिस प्रकार सरदारों और इमामों की सूचियाँ मात्र, जो सामाजिक संबंधों को प्रतिबिम्बित करने वाले वंश-वृत्त नहीं माने जा सकते थे।

साक्षरता के कारण मुखियात्त्व के अतिरिक्त भी श्रेष्ठत्व का एक और सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ। ज्ञान के क्षेत्र में भी विकास के पिरामिड-नुमा चरण बने और इस क्षेत्र में श्रेष्ठतम व्यक्ति अपने निजी प्रयासों से ऊँचा उठता था जब कि मुखियात्त्व के क्षेत्र में उसे उच्चता बाहर से प्रदान की जाती थी।

साक्षरता का क्या प्रभाव समझ के विभिन्न स्तरों पर, विशेषतः काल और स्थान की धारणाओं पर पड़ा? गोंजा में इन धारणाओं का स्तरीकरण सामाजिक समूहों द्वारा हुआ है। लिखित शब्द द्वारा मुसलमानों के क्षितिज का बहुत विस्तार हुआ। वे न केवल एक युग और वर्षों के सिलसिले के बारे में सोचते हैं, बल्कि त्यौहारों को मनाने के लिए दिनों और महीनों की ठीक-ठीक गणना अनिवार्य होती है। इसी प्रकार नमाज़ का समय निर्धारित करने के लिए घण्टों की गिनती भी आवश्यक है। इसी प्रकार व्यापार, तीर्थाटन और पुस्तकों के अध्ययन द्वारा स्थान सम्बन्धी धारणा का विस्तार हुआ। यद्यपि अरब भूगोल वेत्ताओं की कृतियों की जानकारी अन्यत्र नहीं थी, तथापि मुस्लिम समुदाय को दूर-दूर के प्रदेशों की अनिवार्य चिन्ता लगी रहती थी और वे वहाँ तक पहुँचने को उत्सुक रहते थे। लेकिन उनकी नक्शा-नवीसी एकदम सीधी-सादी होती थी: उसमें एक आयामी यात्रा का ही संकेत होता था।

लेखन का प्रभाव स्पष्टतः न केवल उसके माध्यम होने के कारण बल्कि उस विषय-वस्तु की वजह से भी था जो उस क्षेत्र को बाहर से पुस्तकों के रूप में उपलब्ध होती थी, विशेषतः जादू-टोने, धर्म और शरियत की पुस्तकों के रूप में। शरियत के अस्तित्त्व के कारण, जो अल्लाह के वचनों से निकटता से सम्बद्ध हो, कतिपय समाजों पर, और कम से कम उन समाजों के महत्त्वपूर्ण समूहों पर जोरदार

प्रभाव पड़ता था कि वे सामाजिक क्रियाशीलता के नए रूपों को अपनायें। मग़रिब की मालिकी शरियत की इन किताबों के सूडान के समाजों पर प्रभाव का जिक्र अनेक लेखकों ने किया है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि पारिवारिकता और विवाह-विधि, आनुवंशिक समूहों के गठन, मुखिया की स्थिति आदि में बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। लेकिन केन्द्रीय महत्त्व की बात इस्लाम का प्रसार नहीं है बल्कि यह है कि इस्लाम पुस्तक से सम्बद्ध धर्म है।

इससे मैं अपने निबन्ध के अन्तिम बिन्दु पर पहुँचता हूँ। अगर मान लिया जाय कि वर्णमालात्मक साक्षरता की इतनी विस्फोटक सम्भावनायें हैं, तो पश्चिमी सूडान में अन्य स्थानों की अपेक्षा उसका कम प्रभाव क्यों पड़ा? कारण यह था कि वह प्रमुखतः धार्मिक साक्षरता थी जिसके अन्तर्गत 'पवित्र पुस्तक' का अध्ययन ही प्रधान था। वस्तुतः पढ़ाई सीखने का अर्थ ही एक विदेशी भाषा-अरबी सीखना था और शिक्षण की पद्धति लिखित की बजाय मौखिक संस्कृति के लिए अधिक उपयुक्त थी। लेकिन ज्ञानार्जन के क्षेत्र में कमजोरी का मुख्य कारण पुस्तकों की जादू-टोने और धर्म से संबद्धता थी और यह सम्बद्धता ऐसे धर्म से थी जो ऐकान्तिक एवं एक मात्र सच्चा धर्म माना जाता था।

एक खानाबदोश सोमाली समाज में साक्षरता

अफ्रीका महाद्वीप के पूर्वी भाग का अध्ययन करते हुए डा० लेविस ने सोमाली चरागाहों के घुमन्तू लोगों में लेखन के प्रभाव पर विचार किया है। इस विकेन्द्रित खानाबदोश समाज में पूर्णतः साक्षर 'अल्पसंख्यक धार्मिक विद्वान' ही हैं जिनका कार्यक्षेत्र काफी सीमित होता है। फिर भी वे तटीय नगरों के मुसलमानों से सम्पर्क बनाए रखते हैं। वे उन तीर्थ यात्रियों से भी सम्बन्ध-सूत्र जोड़े रहते हैं जो मक्का की यात्रा करते हैं। वे कुरान के विद्वान होते हैं और अनेक झगड़ों को निपटाने के लिए सामान्य मुस्लिम नियमों को लागू करने के मामले में सलाह देते हैं। ये नियम कुछ अर्थों में स्थानीय रीति-रिवाज़ के विरुद्ध होते हैं जिससे दोनों में तनाव की स्थिति का जन्म होता है।

इन समाजों में लेखन का मुख्य रूप से उपयोग उन क़रारों के लिए होता है जो पितृ-वंशीय लोगों के समूह एक-दूसरे को वंशगत सहायता के रूप में पैसा देने के वास्ते करते हैं। उसका उपयोग उच्च स्तरीय, पितृ वंश-वृत्तों के लेखन के लिए भी किया जाता है। निम्न-स्तरीय वंशवृत्तों को ज़बानी ही याद रखा जाता है। (वस्तुतः सोमाली संस्कृति प्रमुखतः मौखिक है, हालांकि उसके अन्तर्गत दीर्घकाल से धार्मिक साक्षरता पायी जाती है।) अतः अधिक तात्कालिक स्तरों के सम्बन्ध में वे सब हेर-फेर और दुहराहटें पायी जाती हैं जो विशुद्ध मौखिक संस्कृतियों में मिलती हैं; लेकिन चूंकि करारों द्वारा सामूहिक सम्बन्धों का नियमन करने का विकल्प मौजूद रहता है, अतः वंश-वृत्त राजनैतिक पुनर्गठन से उतने प्रभावित नहीं होते जितने वे अन्यथा हो सकते।

लेविस ने यह भी कहा है कि लिखित वंश-वृत्तों में भी सामाजिक दृष्टि से हेर-फेर सम्भव है। इसी प्रकार का विचार हाल में फ्रीडमैन ने दक्षिण-पूर्व चीन के बारे में व्यक्त किया है। इस प्रश्न का उत्तर

देते हुए कि विशाल वंशावलियाँ ऐतिहासिक सत्य को व्यक्त करती हैं अथवा विभिन्न वंशावलियों के बीच सम्बन्धों का पुनर्निरूपण करती हैं, वह कहता है कि वे 'ऐतिहासिक तथ्य और सर्जनात्मकता का सम्मिश्रण' होती हैं। वंशावलियों में राजनैतिक कारणों से वंश-मूल के बारे में भ्रमपूर्ण दावे किए जा सकते हैं और इन दावों को प्रायः लिखित रूप भी दे दिया जाता है। लेकिन लिखित रूप ग्रहण कर लेने के बाद ये वंशावलियाँ अंशतः अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेती हैं। 'यदि एक बार सामान्य वंशावली निर्दिष्ट हो गई तो प्रायः लोग उसको आधार बना कर अपने सामाजिक सम्बन्धों का निर्धारण करते हैं। इस प्रकार लिखित रूप और सामूहिकता एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। जहाँ तक स्थानीय वंशावली का सम्बन्ध है, फ्रीडमैन का कहना है कि 'लिखित वंशावली प्रायः जालसाज़ी से मुक्त रही है।'

एक खानाबदोश सोमाली समाज में साक्षरता

आई० एम० लेविस

सोमाली लोग अरब प्रायद्वीप के इस्लामी केन्द्रों से समुद्र की एक पतली पट्टी द्वारा ही पृथक हैं। अतः पिछले लगभग एक हजार वर्ष से वे किसी न किसी हद तक उस सार्वभौम साक्षर संस्कृति के भागीदार रहे हैं। लेकिन इस्लाम के प्रभाव को उन्होंने जिस ढंग से ग्रहण किया है वह मोटे तौर पर उन की अपनी परम्परागत समाज-व्यवस्था और संस्कृति के अनुकूल है। इस तरह उत्तरी भाग के खानाबदोशों ने एक प्रकार के लोकप्रिय सूफ़ीवाद को अपनाया जिसके अन्तर्गत संतों के प्रति आदर-सम्मान की भावना होती है। यह बात उनकी पारम्परिक वंशावली और पूर्वजों के प्रति आदर-भाव से मेल खाती है। दक्षिणी भाग के खेती-बाड़ी करने वाले सोमालियों में भी सूफ़ी सम्प्रदायों (कादिरिया, अहमदिया और सालिहिया) का अच्छा प्रचार है। लेकिन यहाँ वंशगत और क्षेत्रीय सम्बन्धों में महत्व के लिए होड़ रहती है। अतः मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धों का निर्धारण पैतृक पूर्वजों द्वारा उतनी प्रधानता से नहीं होता। दोनों ही क्षेत्रों में हाल तक स्थानीय साक्षर संस्कृति की सब से महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ सूफ़ी परम्परा के अन्तर्गत हुई हैं। लेकिन उनके दीर्घकालीन इस्लामी इतिहास के बावजूद, वर्तमान जानकारी के अनुसार स्थानीय धार्मिक साहित्य का अधिकांश निकट अतीत की ही देन है। ऐसा प्रतीत होता है कि १९वीं शताब्दी के पूर्व बहुत कम साहित्य लिखा गया, और यदि लिखा भी गया हो तो वह लुप्त हो चुका है। सोमाली शेखों ने जो अरबी पाण्डुलिपियाँ या कुछ अन्य ग्रन्थ छोड़े हैं वे मुख्यतः सन्तों की वंशावली और जीवन गाथाएँ हैं, हालाँकि कुछ काननी किताबें भी हैं, कुछ कुरान की

व्याख्याएँ हैं, कुछ में आचार-व्यवहार का वर्णन है और कुछ अन्य अरबी व्याकरण की पुस्तकें हैं। अभी तक तिथि-वार वंशावलियाँ या इतिहास-ग्रन्थ नहीं पाये गए हैं।

स्थानीय साहित्य के इस अभाव से यह संकेत मिलता है कि धार्मिक व्यक्तियों में से केवल कुछ ही लोग अरबी भाषा में निष्णात होते थे। सामान्यतः पूर्ण साक्षरता की बजाय लोगों को अरबी पढ़ने का ही अभ्यास होता था। पूर्ण साक्षरता अभी हाल तक केवल एक छोटे से धार्मिक प्रबुद्ध वर्ग तक सीमित रहती थी। इस सामान्यतः विकेन्द्रित पारम्परिक समाज में साक्षरता के विभिन्न चरणों से युक्त धार्मिक व्यक्तियों का स्थान सीमित ही रहता था। बुनियादी तौर पर आशा की जाती थी कि ये शेख अथवा स्थानीय भाषा में 'वदाद', व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और ईश्वर के बीच मध्यस्थ के रूप में काम करेंगे। वे सामान्यतः राजनैतिक पदों पर नहीं होते थे और उनकी विशेषता यही मानी जाती थी कि वे शांति स्थापन तथा बीच-बचाव कराने में सक्षम हैं; शरियत के अनुसार चोट या मृत्यु पर मुआवज़े की सिफारिश कर सकते हैं; कुछ मामलों में मुस्लिम विरासत के सिद्धान्तों का पालन कराते हैं; विवाह, तलाक और तत्सम्बन्धी अन्य मामले निपटाते हैं। उन्हें धार्मिक मामलों और समारोहों के लिए प्रामाणिक नेता और नायक भी माना जाता है तथा वे बीमारी और बदकिस्मती दूर करने में समर्थ समझे जाते हैं जो वे कुरान के अनुसार करते हैं। इसी प्रकार नजूमी, ज्योतिषी और भविष्यवक्ता के रूप में भी उन पर यक़ीन किया जाता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, इन में से अनेक पारम्परिक कार्यों को विधिवत् स्वीकृति दे दी गई है।

इस प्रकार धार्मिक लोगों का योगदान मध्यस्थों के रूप में होता है। सोमाली इतिहास में कम से कम सोलहवीं सदी से स्थिर, केन्द्रीकृत इस्लामी साम्राज्यों का अभाव रहा है। इसलिए धार्मिक व्यक्तियों को सत्ता के पदों पर प्रतिष्ठित होने का कोई मौका नहीं मिला है। अरबी में साक्षरता भी उनके दायरे से बाहर नहीं फैल पाई है हालांकि व्यापार और इस्लाम में सम्बन्ध बना रहा है। कारण यह रहा है कि यद्यपि इन शेखों में से काफी तादाद में लोग शिक्षकों के रूप में काम

करते रहे हैं, और अक्सर घुमन्तू समूहों के साथ रह कर विद्यार्थियों को शिक्षा देते रहे हैं, फिर भी वे जनता को साक्षर करने के लिए यत्नशील नहीं रहे हैं। खानाबदोश जीवन के कारण ऐसे समूहों के लोगों के लिए एक जगह पर स्कूल में जाने का अधिक समय नहीं मिलता और इन स्कूलों में पढ़ाई कुरान की आयतों को कण्ठस्थ कराने तक सीमित रहती है। लिखना वहाँ नहीं सिखाया जाता। इसलिए पुरुषों में पारम्परिक साक्षरता की दर बहुत कम है, और स्त्रियों में तो साक्षरता है ही नही।

सोमाली लोगों के लम्बे समय तक इस्लाम धर्म के सम्पर्क में रहने के बावजूद अरबी साक्षर संस्कृति के उन में क्षीण प्रसार का एक और कारण यह प्रतीत होता है कि उनमें मौखिक सम्प्रेषण बहुत विकसित है। सोमाली भाषा बहुत समृद्ध और बहुमुखी माध्यम है और उसे बोलने वाले उस के साहित्यिक सौन्दर्य के प्रति बहुत सजग होते हैं। वह सौन्दर्य और समृद्धि सोमाली सामाजिक परिस्थितियों से सम्बद्ध होती है। जिस प्रकार समाज लोकतन्त्री और शासक-विहीन है उसी प्रकार भाषा भी काफ़ी उदार और व्यापक है। सोमाली भाषा में सम्मानसूचक पदवियों को व्यक्त करना बहुत कठिन होता है क्योंकि परम्परा से ऐसी पदवियाँ उस समाज में रही ही नहीं हैं। इस के साथ ही छन्द और काव्य-कला का बड़ा आदर होता है। इस प्रकार यह आकस्मिक नहीं है कि अधिकांश सफल नेता वे लोग रहे हैं जो अपने क्षेत्रों में बहुत ख्याति अर्जित कर चुके थे और जिनका काव्य अब भी स्मरणीय माना जाता है (उदाहरणार्थ, शेख़ मुहम्मद अब्दिल्ले हस्सन का) सोमाली, मौखिक सम्प्रेषण को न केवल एक उच्च कोटि की कला मानते हैं बल्कि अस्तित्त्व बनाये रखने के लिए बुनियादी ज़रूरत भी समझते हैं। यह भौंडी बात लग सकती है लेकिन मैं जोर देना चाहूँगा कि सोमाली मौखिकता का निश्चित और स्पष्ट महत्व है जैसा कि निम्नलिखित प्रसंग से ज़ाहिर हो जाता है। एक बार एक नितांत असाक्षर घुमन्तू सोमाली ने मुझे समझाया कि विदेशी भाषाएँ सीखने के क्या लाभ होते हैं और जिस देश में आप जायें वहाँ की भाषा क्यों सीखनी चाहिए। उसका कहना था कि अगर आप परदेश में वहाँ की भाषा नहीं जानते तो

आप को कैसे पता चलेगा कि लोग आप के बारे में क्या कहते हैं ? हो सकता है कि वे आपकी हत्या का षड्यन्त्र रच रहे हों और आप को इसकी भनक भी न मिले। निस्सन्देह, इस तर्क के पीछे सोमाली लोगों की यह धारणा काम करती है कि परदेश अनिवार्यत: एक खतरनाक स्थान है।

इस प्रकार पारम्परिक समझ-बूझ पर जोर होने के कारण मौखिक सोमाली का, विशेषत: काव्य के रूप में, प्रयोग जन-सम्पर्क के अत्यन्त महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में होता है। सोमाली संस्कृति में शत्रुता का भाव फैलाने या शत्रु का सामना करने के लिए प्रेरणा देने, समझौते के सन्देशों का प्रसार करने, किसी की ख्याति को समाप्त करने या किसी को आसमान तक उछाल देने आदि जन-प्रसार के कार्यों के लिए ज़बान अथवा 'उच्चरित शब्द' की क्षमता का बराबर प्रयोग होता है। तेज़ और प्रभावशाली मौखिक सम्प्रेषण, जिस के अन्तर्गत केवल संवाद-वहन ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक नवोत्थान का प्रसार भी आता है, इसलिए संभव होता है कि सोमाली समाज प्रधानत: घुमन्तू प्रकृति वाला समाज है। लम्बे-चौड़े चरागाहों में आबादी बिरल होते हुए भी चरवाहों के समूह संवाद और सूचनाएँ प्रभावशाली ढंग से फैलाते रहते हैं। ये संवाद छंदोबद्ध रूप में भी हो सकते हैं और गद्य में भी।

वस्तुत: मौखिक परम्परा इतनी अधिक विकसित है और उसका इतना आदर किया जाता है कि अरबी में और सोमाली भाषा में भी मौखिक काव्य-भण्डार पाया जाता है जिस का स्वरूप मुख्यत: धार्मिक है। इन दोनों भाषाओं में आदान-प्रदान भी चलता रहा है। यह क्रम कब आरम्भ हुआ इसका तो कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, परन्तु लम्बे समय से अरबी लिपि सोमाली भाषा के लिए भी काम में लायी जाती रही है। स्थानीय तौर पर सोमाली के लिए विभिन्न मिश्रित या संशोधित लिपियाँ भी विकसित की गई हैं। कई गैर-अरबी लिपियां भी काम में लाई गई हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'ओस्मानिया' है जिस का नामकरण उस के आविष्कारक इस्मान यूसुफ केनादीद के नाम पर हुआ है। यह वर्णमाला और लिपि १९२० से शुरू हुई। इसके कुछ अक्षर अहमरी से मिलते-जुलते हैं। आरम्भ में इसका

प्रचलन इस के आविष्कारकर्ता के परिवार वालों और मित्रों तक सीमित था। बाद में आधुनिक सोमाली राष्ट्रवाद से अपने सम्बन्ध के कारण इसका और प्रसार हुआ। कभी इस लिपि का भाग्योदय हुआ है और कभी भाग्यस्त। परन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि यह उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती जा रही है।

२

अगर अरबी में साक्षरता के प्रसार को बाधित करने वाला तत्त्व स्थानीय मौखिक संस्कृति की समृद्धि और अधिकांशतः खानाबदोश समाज-व्यवस्था के प्रति उसका अनुकूलन रहा है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि सोमाली समाज पर लेखन का कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं है। आगे मैं स्पष्ट करूँगा कि सोमाली समाज-व्यवस्था की वे कौन सी प्रमुख विशेषताएँ रही हैं जिन पर, मेरी समझ से, साक्षरता की उपस्थिति का प्रभाव पड़ा है। यद्यपि इस्लाम और अरबी के परस्पर सम्बन्ध को पृथक करके देखना हमेशा ही आसान नहीं होता, मैं उन प्रभावों का जिक्र करना चाहूँगा जो लेखन पर निर्भर हैं न कि केवल इस्लाम पर।

पहले हम सोमाली लोगों में झगड़ों को निपटाने की पद्धति को देखें। दृष्टव्य यह है कि कोई भी सोमाली चाहे किसी भी वंश का हो, सभी इसके लिए समान नैतिकता और पद्धति को मानते हैं। वस्तुतः इस एक तथ्य द्वारा ही सोमाली सीमा का निर्धारण होता है। इस प्रकार, यद्यपि परम्परा से सोमाली किसी एक राजनैतिक इकाई के अन्तर्गत एकीकृत नहीं हैं जिससे हर मामले में वे एक होकर कार्य कर सकें, तथापि अपराधों और गलतियों की समानता को वे मानते हैं और समझौते तथा मुआविज़े की रक़म का निश्चय समान पद्धति द्वारा किया जाता है। यह रक़म इस्लामी कानून की शफ़ी विचारधारा की पुस्तकों पर आधारित होती है और विशिष्ट मामलों में साक्षर शेखों द्वारा निश्चित की जाती है। इसका ब्यौरा इतना जटिल होता है और इतनी बातों पर निर्भर होता है कि मैं नहीं सोच पाता कि बिना लेखन के कैसे उसका निर्धारण सम्भव होता है। उपनिवेशन से पूर्व किसी क्षति के लिए इस प्रकार के मुआवज़े विभिन्न वंश वालों के बीच झगड़ों के निबटारे के लिए बातचीत का

आधार बनते थे और बीच-बचाव कराने वालों की सहायता ली जाती थी। इन निर्णयों को लागू करने का इसके सिवा कोई और उपाय नहीं होता था कि उभय पक्ष शान्ति की इच्छा प्रकट करें और यह उन पक्षों की शक्ति तथा तत्कालीन समग्र राजनैतिक स्थिति पर निर्भर होता था। अंततोगत्त्वा निबटारा बल-प्रयोग या बल-प्रयोग की धमकी द्वारा होता था। उपनिवेशवादी और उसके बाद के युग में ये निबटारे ऐसे निर्णय बन गए जिन्हें अदालतों के अधिकारी राज्य सत्ता के समर्थन से लागू किया करते थे।

आज की व्यवस्था इस प्रकार है: अगर किसी को शारीरिक चोट लगी है तो डाक्टर निश्चय करता है कि वह चोट किस प्रकार की है। फिर मामला काज़ी की अदालत में जाता है जहाँ वह क्षतिपूर्ति का अन्दाज़ा लगाता है। तब अदालत में मुआवजे की रक़म का दावा दायर किया जाता है। अदालत चाहे तो रक़म में कमी भी कर सकती है। वह ऐसा, सोमाली परम्परा का हवाला देकर करती है। इसी प्रकार, हत्या के मामले में जब हत्यारा पकड़ा जाता है और उसे सज़ा होती है तब भी क्षतिपूर्ति का दावा किया जाता है, विशेषत: तब जब कि यह महसूस किया जाय कि सज़ा हल्की दी गई है। और जब गवाही में कमी के कारण सज़ा नहीं दी जाती तो रक्त की क्षितपूर्ति का दावा किया जाता है जो अक्सर मान लिया जाता है। यह बात इन दिनों घातक ट्रैफ़िक दुर्घटनाओं के मामले में भी लागू होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रव्यापी आधार पर झगड़ों को निबटाने के लिए साक्षरता के प्रयोग का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है। एक अन्य समान पद्धति को देखने से भी यह बात स्पष्ट होती है। मेरा तात्पर्य इस तथ्य से है कि प्रत्येक सोमाली जन्म से या स्वयं चुनाव द्वारा किसी विशिष्ट 'रक्त-क्षतिपूर्ति' समूह का सदस्य होता है जो उसकी जान-माल की सुरक्षा प्रदान करता है। इस प्रकार का सुरक्षण देने वाली संस्थाओं के अन्तर्गत मुख्यत: वे लोग होते हैं जो वंशानुगत रूप में परस्पर सम्बद्ध होते हैं। उनके वंशगत बिखरे दायित्वों को सुनिश्चित परिभाषा दी जाती है। इस उद्देश्य से एक करार किया जाता है जिसमें उनकी समान जिम्मेवारी का उल्लेख

होता है। इन करारों में वह रक़म भी निर्दिष्ट होती है जो उस समूह के अन्तर्गत होने वाली क्षति की पूर्ति के लिए दी जानी चाहिए। यह भी उल्लेख होता है कि अगर बाहरी समूहों को कोई क्षतिपूर्ति करनी पड़े तो उसकी भरपाई समूह के अन्तर्गत किस प्रकार होगी, या अगर क्षतिपूर्ति प्राप्त हो तो उसका बंटवारा कैसे होगा। इस प्रकार के क़रार सम्बद्ध समूहों के ढाँचे की तस्वीर पेश करने वाले होते हैं। और समूह के अंतर्गत निर्धारित मुआवजे की वास्तविक रक़म, जो बाहरी समूहों को प्रदत्त या उनसे प्राप्त रक़म से कम मात्रा में रखी जाती है, लिखित परम्परा की शरियत की किताबों के अनुसार निर्धारित होती है। लेकिन इस मामले में इस्लामी नियमों की सोमाली व्याख्या विचित्र होती है और नियमों की भावना और शब्दों के अनुकूल नहीं होती। कारण यह है कि जब कि 'शफ़ी' नियमों के अनुसार केवल हत्यारा ही क्षतिपूर्ति के लिए जिम्मेवार माना जाता है, सोमालियों का कहना है कि क़रार के अन्तर्गत परिभाषित सम्पूर्ण समूह जिम्मेवार है। इस तरह उनकी व्यवस्था शरियत के विरुद्ध जाती है और इसके अहसास के कारण ही सोमाली संस्कृति में इस्लामी और पारम्परिक नैतिकता के बीच खिंचाव पाया जाता है। इस सम्बन्ध में मैं आगे चल कर और प्रकाश डालूँगा। लिखित परम्परा की यहाँ मौजूदगी का यह एक और पक्ष है जो आदर्श आचरण के मानदण्ड और अटूट संरक्षक के रूप में सक्रिय रहता है।

लेखन स्थिति को इससे भी अधिक बुनियादी तौर पर प्रभावित करता है। ये क़रार, जो सामान्यतः कुटुम्बियों के बीच स्वीकृति पर आधारित होते हैं, औपनिवेशिक युग से ही अरबी या अंग्रेजी अथवा इतालवी में लिखित रूप में मौजूद रहे हैं। लिपिबद्ध करने के बाद उन्हें उस क्षेत्र के जिला कार्यालय में दाखिल दफ्तर कर दिया जाता है जहाँ सम्बद्ध समूह के लोगों का आना-जाना लगा रहता है। प्रत्येक ज़िला सदरमुक़ाम में इन 'दिया'-भुगतान समूहों ('दिया'= रक्त-धन) के क़रारों के बारे में एक रजिस्टर रखा जाता है क्योंकि इन क़रारों द्वारा ही सम्बद्ध समूह के अलग-अलग सदस्यों की राजनैतिक और कानूनी हैसियत का निर्णय होता है। इस प्रकार

इन्हें कानूनों का रूप मिल गया है क्योंकि इन्हीं के सहारे झगड़े में उलझने वाले व्यक्ति की कानूनी हैसियत तय की जाती है। निस्संदेह ये उसी प्रकार अपरिवर्तनीय या स्थायी काग़ज़ात नहीं हैं जैसे सोमाली समाज व्यवस्था के अन्तर्गत स्वयं समूह स्थायी इकाई नहीं हैं। ये समूह झगड़े के संदर्भ में अपने हित या अहित पर विचार करके अपनी शत्रुता-मित्रता की भावनाओं को और अपने करारों को बदलते भी रहते हैं। पुराने क़रारों में संशोधन कर दिया जाता है या उन्हें खत्म भी कर दिया जाता है और नए क़रार ज़िला कार्यालयों में पेश किए जाते हैं जिनके सम्बन्ध में अब केन्द्रीय सरकार के स्थानीय प्रतिनिधि अंतिम रूप में मध्यस्थ और निर्णायक होते हैं।

यद्यपि इस बात के कुछ संकेत हैं कि उपनिवेशन से पूर्व इन क़रारों को प्रमुख संतों के मज़ारों पर शपथ लेकर पूरा किया जाता था और इस तरह उन्हें प्रामाणिकता एवं पवित्रता प्रदान की जाती थी, लेकिन मुझे संदेह है कि एक तीसरा तटस्थ पक्ष यानी केन्द्रीय सरकार इस प्रामाणिकता की स्वीकृति के लिए बाध्य होगी। अतीत में जो भी स्थिति रही हो, अब यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन क़रारों को लिखित रूप देकर उन्हें सरकारी दफ्तरों में जमा कराने से पहले के मुक़ाबले उनको अधिक मज़बूती और सुनिश्चितता मिली है। इस प्रकार आनुवंशिक आधार पर गठित एवं मान्य ये समूह समग्र सोमाली व्यवस्था के अन्तर्गत एक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं और उसके अनुकूल बैठते हैं। लेकिन सामाजिकता और मेल-जोल के अन्य स्तरों पर वे अलग-थलग पड़ जाते हैं। उत्तरी भागों के खानाबदोशों में इस प्रकार के समूहों की आनुवंशिकता निचले स्तर की है और पाँच से आठ पीढ़ी पीछे तक ही जाती है तथा उनके अन्तर्गत कुछ हज़ार व्यक्ति ही आते हैं जिससे व्यापकतर और उच्चतर स्तर पर उनकी संगठनात्मक क्षमता कम हो जाती है। इस प्रकार यह संकेत मिलता है कि जिन आनुवंशिक समूहों की संख्या काफ़ी अधिक होती है (प्रायः १ लाख तक), और जिन्हें मैं समूह की बजाय 'गोत्र' कहूँगा, वे आज के मुक़ाबले सामाजिक इकाइयों के रूप में अधिक अनमनीय थे।

परन्तु यहाँ की सामाजिक विशेषताओं और लिखित रिकार्डों के

बीच जटिल सम्बन्ध का संकेत उस विरोधाभास की स्थिति से मिलता है जो सोमाली के दक्षिणी भाग में कृषक समुदायों में पायी जाती है। यहाँ के समकक्ष संगठित समूह बड़े गोत्रों के रूप में हैं जिनमें से प्रत्येक के अन्तर्गत प्राय: १ लाख की आबादी आती है। इस विरोधाभास का कारण दक्षिण में राजतैतिक सुदृढ़ता का विस्तार तथा कृषि योग्य स्थायी क्षेत्रों पर निवास है। इस प्रकार मेरा यह मत है कि दोनों ही मामलों में लेखन ने सामूहिक संगठन के विभिन्न स्तरों को, जो अनुकूलन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं, सुदृढ़ और स्थिर बनाया है।

३

इस विचार-विमर्श के फलस्वरूप हमारा ध्यान सोमाली वंशावलियों के रूप और विषय पर लेखन के प्रभाव की ओर जाता है। यहाँ के समाज की एक दृष्टव्य विशेषता यह है कि यहाँ की वंशावलियाँ बहुत लम्बी होती हैं जिन्हें बच्चों को कम उम्र से ही रटाया जाता है। इनका प्रमुख उद्देश्य व्यक्तियों और समूहों की शिनाख्त को पक्की करना है। शिनाख्ती की प्रवृत्ति सोमालियों में इतनी तीव्र है कि अक्सर वे अपने महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए यूरोप की किसी सड़क की संख्या और मकान के पते को अपना लेते हैं। निस्संदेह सोमालियों में आनुवंशिक परिचयात्मकता के राजनैतिक और कानूनी लाभ होते हैं जो यूरोपीय पतों के द्वारा नही प्राप्त किए जा सकते। जब अजनबी एक दूसरे से मिलते हैं तो प्राय: सबसे प्रथम वे तब तक एक दूसरे के गोत्र की पूछ-ताछ करते हैं जब तक वे आनुवंशिक अतीत में किसी उभय-पक्षीय महत्व के बिन्दु तक न पहुँच जायें। यह दो प्रकार से किया जा सकता है। एक व्यक्ति दूसरे के पिता, पितामह और प्रपितामह का नाम पूछता रह सकता है जब तक कि कोई महत्वपूर्ण सन्दर्भ न मिल जाय। या, कोई किसी से पूछ सकता है कि वह किस समूह का है और इस प्रकार ऊपर से आरम्भ कर नीचे उतर सकता है जब तक कि दोनों ही के लिए महत्व वाला बिंदु न मिल जाय। यह बिन्दु क्या होगा, इसका विचार करना यहाँ संगत नहीं होगा। संगत यह है कि 'आप कौन हैं?' इस प्रश्न का उत्तर आनुवंशिक शब्दावली में दिया जाता है और व्यवहार का

अनुकूलन तदनुसार किया जाता है।

आज की शहरी व्यवस्था में भी इस पद्धति का महत्व इस बात से आँका जा सकता है कि जब कुछ वर्ष पूर्व यह मानना फैशन बन गया था कि 'कबीलावाद' का स्थान राष्ट्रीय उत्साह ले चुका है, तब भी लोग एक दूसरे के 'वंश' को न पूछ कर 'भूतपूर्व वंश' को पूछा करते थे। अभी हाल में यह विचित्र तरीका त्याग दिया गया है क्योंकि लोगों ने अनुभव किया है कि यह या वह कहने मात्र से कोई अन्तर नही आएगा और चूँकि लोगों की आस्था आनुवंशिक विभाजनों में बनी हुई है, अतः उसे जीवन का अप्रिय किन्तु बुनियादी तथ्य मानकर स्वीकार करना ही उचित है।

इस पृष्ठभूमि में और सोमाली राजनैतिक समूहीकरण की रमणीयता को देखते हुए प्रश्न यह उठता है : क्या ये वंशावलियाँ केवल ऐसे चार्टर हैं जिनमें वर्तमान राजनैतिक प्रतिबद्धता और पुनर्गठन प्रतिबिम्बित हुआ है तथा क्या वे परिवर्तनों का दर्पण हैं ? इस प्रश्न का उत्तर प्रथमतः इस बात पर निर्भर करता है कि क्या हम उत्तरी खानाबदोश सोमाली लोगों की बात सोच रहे हैं या दक्षिण के कृषक समुदाय की ?

खानाबदोशों के अन्तर्गत एक ही वंश के लोगों में असमान खंड और तदनुरूप वंशावलियाँ पाई जाती हैं। निस्संदेह जिन्हें 'लघु-शाखा' वंशावलियाँ कहा जाता है उनमें अनेक वंशों का घोल-मेल है या वे आनुवंशिक दृष्टि से आधी-अधूरी हैं। लेकिन जिन्हें 'दीर्घ-शाखा' वंशावलियां कहा जाता है वे गोत्र के अस्तित्व में आने तक पूर्वजों का प्रायः सही विवरण प्रस्तुत करतो हैं। उधर दक्षिणी सोमालियों की वंशावलियाँ कहीं अधिक समरूप हैं। वे प्रायः अधिक छोटी है और उनके अन्तर्गत संपार्श्विक समूहों के बीच अधिक विषमताएँ नहीं लक्षित होतीं। इन वंशावलियों के मामले में उन सभी उपायों और तौर-तरीके से काम लिया गया है जिनके द्वारा आनुवंशिक आदर्शों एवं वास्तविक सामाजिक सम्बन्धों में ताल-मेल बनाए रखा जा सके। उत्तरी और दक्षिणी भागों का यह अन्तर इसलिए है कि दक्षिण के खेतिहरों में वंशावलियों के अन्तर्गत नए लोगों को शामिल करते जाने की नियमित प्रथा है। वस्तुतः दक्षिणी कबीले विशाल

परिसंघ हैं जिसमें सभी वंशों के लोग शामिल हैं। उधर खाना-बदोशों में वंशावलियों में नए नामों को शामिल करना और नए लोगों को समूह में मिलाते जाना अपवाद ही है। उनके बीच नए राजनैतिक सम्बन्धों का निर्धारण उन करारों के आधार पर होता है जिनकी चर्चा मैं कर चुका हूँ। ऐसा वंशावलियों में परिवर्तन-परिवर्धन द्वारा नहीं होता। इस प्रकार दो प्रकार की विचार-धाराएँ अथवा नमूने पाए जाते हैं: वंशानुगत और करार सम्बन्धी। सामान्यतः वंशानुगत व्यवस्था से क्रियाशीलता के लिए मार्गदर्शन मिलता है। यह बात दक्षिणी भाग वालों पर भी लागू होती है। लेकिन उक्त दोनों विचारधाराओं की परिधि और प्रभाव दोनों क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न है। कृषकों की राजनैतिक इकाइयाँ अपेक्षाकृत बड़ी हैं, अनमनीय हैं और अस्थिर हैं और उन्हें स्थिरता अन्ततः भूमि संबन्धी हितों द्वारा मिलती है। करार कुल मिलाकर अन्तर्गोत्रीय स्तर पर ही प्रभावी होता है। लेकिन खानाबदोशों में वह प्रत्येक स्तर पर प्रभावी है और समूह-परिभाषा का अधिक व्यापक साधन है। इस प्रकार दाक्षिणात्यों के लिए क्रियाकलाप का अधिक विस्तृत सामाजिक दायरा है जिसमें संबन्धों का निर्णय वंशावलियों के सहारे होता है न कि करारों द्वारा और वंशावलियों में अधिक लचीलेपन से परिवर्तन-परिवर्धन होता रहता है। प्रत्येक मामले में, जहाँ स्थिति यह है कि सामाजिक सम्बन्ध अन्ततः करारों द्वारा निर्धारित होते हैं, न कि वंशानुगतिकता द्वारा, वहाँ वंशावलियों में समायोजन कम होता है।

इस सब का अगर लेखन से सम्बन्ध है तो किस प्रकार? अगर उत्तर की वंशावलियाँ दक्षिण की वंशावलियों के मुकाबले अधिक शुद्ध हैं तो यह माना जा सकता है कि उत्तर के लोग अधिक शिक्षित हैं। लेकिन बात ऐसी नहीं है, बल्कि सत्य संभवतः इसके विपरीत है। इसके अतिरिक्त मैंने जिन वंशावलियों की चर्चा की है उन्हें कम ही लिखित रूप में रखा गया है। वंशानुक्रम सम्बन्धी वंश-वृत्त मौखिक परम्परा का भाग है जो मुख्यतः जबानी सिखाया जाता है, सुरक्षित रखा जाता है और सम्प्रेषित होता है। मुख्यतः इसलिए कि एक दो मामलों में लिखित वंश-वृत्त भी पाए गए हैं। ये वे वृत्त हैं जो सोमाली समाज से बाहर पहुँचे हैं और उन अरब संबन्धों की ओर संकेत

करते हैं जो सोमालियों द्वारा इस्लाम को अंगीकार करने के संदर्भ में बने हैं। वस्तुतः मानक अरबी वंशावलि-पुस्तकों का सीमित प्रचलन है और विद्वान शेखों को प्रायः उनकी जानकारी रहती है। इसके अतिरिक्त स्थानीय संतों के जीवन-वृत्तों के अन्तर्गत गोत्र और गोत्र के पूर्वजों के यश का वर्णन होता है और उनका सम्बन्ध हजरत मुहम्मद से जोड़ा जाता है। उनमें यद्यपि उपदेश-कथाओं के रूप में ऐतिहासिक तथ्यों का जिक्र होता है, तथापि वे वंशावलियाँ प्रायः सबसे अधिक अशुद्ध होती हैं।

यह स्थिति उन अन्य समाजों की स्थिति से मिलती-जुलती है जिनमें विशिष्ट और सीमित साक्षर परम्परा है, जैसे चीन का समाज। इससे यह संकेत मिलता है कि जिस समाज में वास्तविक ऐतिहासिकता को बढ़ावा देने वाली तथ्यात्मक दृष्टि न हो, उसमें लेखन सत्य को यथावत व्यक्त करे, यह अनिवार्य नहीं है। सोमाली सभ्यता में, जहाँ लेखन परम्परा से 'पवित्र धर्म' और जादू-टोने से सम्बद्ध है, वह समाज के समग्र वंशमूलक उद्देश्यों को प्रामाणिक रूप देता है और इस अर्थ में वंश-वृत्त को सर्वोच्च स्तर पर सुरक्षित बनाए रखता है।

४

सोमाली व्यवस्था का जो विवरण मैंने दिया है उससे प्रकट होता है कि अल्प साक्षरता पर किस प्रकार पारम्परिक असाक्षर समाज-व्यवस्था का उग्र प्रभाव पड़ा है। यह स्थिति उस अल्प साक्षरता के वाहकों : शेखों और धर्माचार्यों—की गतिविधियों से मेल खाती है। ये गतिविधियां सामाजिक सम्पर्क को सुलभ बनाने तक सीमित रहती थीं। साक्षरता-प्रसार इनका उद्देश्य नहीं होता था। यह एक प्रकार की जटिल स्थिति है। कारण यह है कि ऐसी इस्लामी नैतिकता का लिखित रूप में अस्तित्व था जो अन्तिम सत्य और मानव-आचरण की चरम मार्ग-दर्शक मानी जाती थी। इसका तात्पर्य यह होता है कि वास्तविक आचरण और लोक-नैतिकता की लगातार समीक्षा होती रहती है जो लेखन के अभाव में संभव नहीं होता। निस्संदेह अन्य समाजों की तरह दुहरे मानदण्ड पाए जाते हैं और नैतिकता के अनेक स्तर हैं। उदाहरणार्थ, करान-सम्मत इस्लामी नैतिकता है; सोमाली 'प्रथा' द्वारा अनुमोदित प्रचलित नैतिकता है जिसके प्रति सोमाली

बहुत सजग रहते हैं, और अन्त में बास्तविक आचरण है। ये सब परस्पर सम्बन्धित हैं और अन्ततः प्रथम के मुकाबले बाद के दोनों स्तरों को तरजीह दी जातो है।

सोमाली प्रायः जानते हैं कि इन मुख्य रूपों में उनका व्यवहार और उनकी प्रथाएँ इस्लामी आदर्शों से भिन्न हैं। जीवन के कतिपय क्षेत्रों में, यथा युद्ध और आपसी झगड़ों तथा उनके धर्मविधानेतर पद्धति से क्षति-पूर्ति द्वारा समाधान के मामले में, इस्लामी विचारधारा और स्थानीय विचारों तथा आचरण में स्पष्ट खिचाव है। पारम्परिक व्यवस्था में इससे आधुनिकता की ओर बढ़ने के लिए दबाव पड़ता है जो राष्ट्रीय एकता और वंशगत शत्रुताओं तथा विरोधों की न्यूनता के रूप में व्यक्त होता है। लेकिन आज आदर्श इस्लामी विश्व-दृष्टि, आधुनिक सामाजिक परिवर्तनों से कुछ अस्पष्ट रूप से ही सम्बद्ध है। यहाँ यह याद दिलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि यद्यपि मुस्लिम ब्रह्माण्डिकी में युगान्त-विषयक उस सिद्धान्त पर बल दिया गया है जो कबाइली विश्व की संकुचित परम्पराओं से सर्वथा भिन्न है, लेकिन उसमें बहुत सी ऐसी भी बातें हैं जो अधिकांश आधुनिक धर्म-निरपेक्ष इस्लामी राष्ट्रों में पुरातन पंथी और अव्यावहारिक मानी जाती हैं। इस प्रकार, जहाँ कुरान की कुछ आयतों का हवाला देकर एक पत्नीत्त्व का पृष्ठ-पोषण किया जा सकता है जिसे पश्चिम में शिक्षा-प्राप्त युवक सोमाली पसंद करते हैं, वहीं अन्य लोग नए विचारों और सामाजिक परिवर्तनों का विरोध करते हैं। उदाहरणार्थ, जब रूस और अमरीका की अन्तरिक्ष यानों की उड़ान की होड़ के समाचार सोमालियों को मिले तो कुछ परम्परावादियों ने कहा कि यह कम्यू-निस्ट या कम्यूनिस्ट-विरोधी प्रचार के सिवा और कुछ नहीं है, क्यों कि कुरान में लिखा है कि सात बहिश्त हैं जिन तक कोई भी मनुष्य कभी नहीं पहुँच सकता।

इस प्रकार वस्तुतः एक साक्षर परम्परा अब अधिकाधिक दूसरी को चुनौती दे रही है और दोनों में सामंजस्य के प्रयत्न अंशतः ही सफल होते हैं। साथ ही अधिकांश सोमाली जनता रेडियो संचार और 'पाप' संगीत जैसे साधनों के जरिए आधुनिक संसार के दायरे में पहुँच रही है। विदेशी साक्षर परम्परा से नई-नई बातें लेकर उन्हें

पारम्परिक आवश्यकताओं और हितों के अनुकूल ढाला जा रहा है। इससे सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सहायता मिल रही है। प्रत्येक आयु-वर्ग और स्त्री-पुरुष सभी के द्वारा उनकी पारम्परिकता के बावजूद साक्षरता और शिक्षा के लिए माँग तेजी से बढ़ रही है। लिखित भाषा के रूप में अंग्रेजी को तरजीह मिल रही है और वह अरबी तथा इतालबी भाषाओं को दूसरे स्थानों से ढकेल रही है। इससे औपनिवेशिक शासन के फलस्वरूप प्राप्त भाषायी द्वैधता (इतालवी और अंग्रेजी) की कठिनाई हल होती जा रही है।

वर्तमान समय और परिवर्तन के सन्दर्भ में लेखन के महत्त्व पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। लेकिन निष्कर्ष रूप में मैं केवल इतना ही कहना चाहूँगा कि आप देखें कि आज सोमाली गणराज्य में किस प्रकार लोकतन्त्र और स्वाधीनता की भावना विकसित हुई है। और इसके लिए साक्षरता एक निर्णायक तत्त्व नहीं रहा है जैसा कि गूडी और वाट ने यूरोपीय लोकराज्यों के विकास के संदर्भ में कहा है। सोमाली समाज के मामले में, जहाँ वंशगत एकसूत्रता बहुत दृढ़ रही है, शायद जान स्टुअर्ट मिल का यह कथन अधिक लागू होता है : "सामान्यत: स्वतन्त्र संस्थाओं की एक आवश्यक शर्त यह होती है कि राज्य की सीमाएँ वही हों जो राष्ट्रीय समूहों की सीमाएँ हैं।"

मैडागास्कर में ज्योतिष और लेखन

डा० ब्लोच ने पूर्वी अफ़्रीका तट के और भी दक्षिणी भाग में स्थित मैडागास्कर के एक समाज का अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने मेरिना राज्य में इस्लामी लेखन के योगदान की समीक्षा की है। इस लेखन का उपयोग पहले प्रशासनिक तथा रहस्यवादी उद्देश्य से होता था। वर्तमान काल में उसका ज्योतिष के लिए उपयोग होता है। ब्लोच का कहना है कि नजूमी या भविष्यवक्ता यथार्थ की जिस जटिल व्यवस्था को काम में लाते हैं उसका मूल रहस्यवादी है (जिसका उद्‌गम मध्य पूर्व है) और वह गोपनीय तथा विशिष्ट जानकारी की एक कोटि में आता है। 'ज्योतिष सम्बन्धी ब्रह्मांडिकी सामान्य मेरिना की ब्रह्मांडिकी नहीं है।' उसके अंतर्गत प्रति दिन के जीवन को जानबूझ कर रहस्य के आवरण में प्रस्तुत किया गया है।

जो निष्कर्ष निकाला गया है वह, मेरी राय में, ऐसे समाजों में मिथकों, वर्गीकरणों और भविष्यवाणियों के अध्ययन के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वह निस्संदेह उत्तरी घाना के गोंजाओं की स्थिति के समान है जिसे मैं भूमिका में विस्तार से बता चुका हूँ।

मैडागास्कर में ज्योतिष और लेखन[1]

एम० ब्लोच

'लिखित वस्तु' के लिए मालागासी शब्द 'सोरा' है जो सीधे अरबी मूल का शब्द है। यह इस बात की ओर संकेत हैं कि मैडागास्कर में लेखन पहले पहल कहाँ से आया।

मैडागास्कर में अरबी संस्कृति और विशेषतः इस्लाम के इतिहास और प्रकृति से हमें वर्तमान मालागासी संस्कृति के कई पक्षों को समझने में सहायता मिलती है। इस समय जनता के दो वर्ग इस्लाम से निकट सम्पर्क का दावा करते हैं। कई कबीले, जो अपने को 'सिलामा' (इस्लाम-धर्मी) कहते हैं, घुर उत्तर-पश्चिम में रहते हैं और ऐसा ही दावा करने वाले कुछ कबीले कुरान और अरबी तंत्र-मंत्र से परिचित हैं। वे कुछ मुस्लिम कानूनों को भी मानते हैं। उनकी भाषा का शब्द भण्डार यद्यपि मूलतः मालागासी है, लेकिन उसमें अनेक स्वाहिली और अरबी शब्द भी हैं। उन्हें अरबी संस्कृति उन अनेक व्यापारिक चौकियों के जरिए प्राप्त हुई जो द्वीप के उत्तरी और पश्चिमी तट पर फैली हुई थीं और जिनके अवशेष आज भी पाए जाते हैं। इस तट पर अरबों से पहले पहल सम्पर्क सम्भवतः दसवीं शताब्दी में हुआ था। १७ वीं शताब्दी तक ये व्यापारिक चौकियाँ कोमोरो द्वीपों से भी सम्बद्ध थीं जिसमें रहने वाले लोग आज भी स्वाहिली बोलते हैं। वहाँ अरब शासकों का प्राधान्य है। मध्य युग में सम्भवतः कोमोरो द्वीपसमूह और मालागासी के बंदरगाह पूर्वी अफ्रीका के किलवा बंदरगाह से सम्बद्ध

---

(१) मैंने मैडागास्कर में १९६५-६६ में क्षेत्रीय अध्ययन किया। इसके लिए वित्तीय प्रबन्ध ग्रेट ब्रिटेन के नफील्ड फाउंडेशन ने किया, जिसका मैं आभारी हूँ।

थे। कुछ भी हो, हिन्द महासागर की अरबी व्यापारिक चौकियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में अवश्य थीं और कमोवेश आज भी हैं। वास्तव में कोमोरो और मैडागास्कर में नये सम्पर्कों के कारण हाल में उस क्षेत्र में इस्लामी संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ है।

अरब सभ्यता के ये अवशेष सुविदित हैं। लेकिन मालागासी मूल की वस्तुएँ अफ्रीका के पूर्वी तट में सर्वत्र पायी गई हैं। वे उन व्यापारिक मार्गों पर भी मिली हैं जो अरबों के बन्दरगाहों को जाते थे, उदाहरण के लिए ज़िम्बाबवे जाने वाले मार्ग पर।

लेकिन मैडागास्कर में अरबों की शक्ति पुर्तगालियों ने समाप्त कर दी। इन में ट्रीस्टन डा कुन्हा और उसके सहयोगी नाविक मुख्य थे। उन्होंने समुद्र तटवर्ती अरब नगरों को जलाया और बड़ी क्रूरता से मुस्लिम व्यापारी निवासियों को निर्मूल किया। १६वीं शताब्दी के नाविक लुडोविको बारथीमा ने मैडागास्कर के बारे में लिखा है: "मेरा विश्वास है कि वह पुर्तगाल के राजा का प्रदेश है क्योंकि पुर्तगाली दो नगरों को जला चुके हैं और लूट चुके हैं।" सीधे हमलों से भी अधिक महत्व का तथ्य यह है कि पहले पुर्तगालियों ने और फिर अन्य यूरोपीय देशों ने हिन्द महासागर में अरब व्यापार को नष्ट कर दिया। इस क्षेत्र में अरब व्यापारिक चौकियों के अन्तर्गत मैडागास्कर एक सबसे दूर का प्रदेश था और इसीलिए वह मुस्लिम पूर्वी अफ्रीका से अलग-थलग पड़ गया। सम्भव है कि अरबों और स्वाहिली भाषा-भाषियों ने स्वयं मैडागास्कर को छोड़ दिया हो या उन्हें मार दिया गया हो और वर्तमान 'सिलामा' मालागासी निवासी उन लोगों के वंशज हों जिन्हें बाद में इस्लाम धर्म में दीक्षित किया गया हो।

इसी घटनाक्रम द्वारा इस आश्चर्यजनक तथ्य को समझा जा सकता है कि यद्यपि जिस पश्चिमोत्तर प्रदेश की मैं चर्चा कर रहा हूँ वहाँ अरब और इस्लाम में तो निकटतम सम्बन्ध रहा है लेकिन अरबी लेखन का अभाव पाया गया है।

मैडागास्कर का मुस्लिम प्रभाव वाला एक अन्य क्षेत्र, जहाँ लेखन पाया गया है, दक्षिण पश्चिम का प्रदेश है जो वर्तमान मानान्जारी और मानाकारा नगरों के आस-पास है। इस प्रदेश के दो कबीले—

अंताम्बाहाओका तथा अन्तायमोरो— का अंशतः यह दावा है कि वे अरब मूल के हैं। इसी प्रकार का दावा पास पड़ोस के कुछ समूहों ने भी किया है जिनमें तनाला समूह भी है। इसका अध्ययन लिंटन ने किया है।

यह बात अभी भी स्पष्ट नहीं है कि इन लोगों और अरब संस्कृति के बीच सम्बन्ध किस रूप में था। हमें स्वतन्त्र सूत्रों द्वारा, विशेषतः फादर लुई मारियानो जैसे पुर्तगाली मिशनरियों द्वारा, मालूम हुआ है कि १६वीं और सत्रहवीं शताब्दियों में अरबी संस्कृति सुस्थापित थी। यह अवश्य सही प्रतीत होता है कि उस काल में लोग इस्लाम के जितने निकट थे उतने आज नहीं हैं। कुछ लोग अरबी भाषा के जानकार थे और रमजान के रोजे भी रखते थे, हालांकि प्रतीत होता है कि उनके मुस्लिम पूर्वज वहाँ काफी समय पहले से रह रहे थे। उनके अभिलेखों से मालूम हुआ है कि वे अलग-अलग समय में उत्तर की ओर से आए जो सम्भव प्रतीत होता है। इन अभिलेखों के अनुसार वे वहाँ पहुँचने के समय पश्चिमोत्तर प्रदेश के मुस्लिम केन्द्रों के सम्पर्क में थे। लेकिन जिस काल के आरम्भिक स्वतन्त्र अभिलेख उपलब्ध हैं, उसमें, ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी मैडागास्कर और सामान्यतः अन्य मुस्लिम केन्द्रों से उनका सम्पर्क टूट चुका था। वर्तमान समय में ये 'अरब' कबीले और अन्य मालागासी समूह एक दूसरे से पृथक नहीं पहचाने जा सकते और यह स्पष्ट है कि उनके पूर्वजों में से केवल कुछ ही लोग 'अरब' या गैर-मालागासी मूल के रहे होंगे। उनका इतिहास आज तक अनिश्चित है। उनकी अपनी परम्परा के अनुसार वे मक्का (इमाका) से आए थे और जिन अनेक स्थानों से होते हुए उन्होंने यात्रा की थी उनमें एक नगर को कुछ ने भारत का मंगलूर नगर कहा है तो कुछ ने अफ्रीका का बन्दरगाह मोगादीशू।

लेकिन सम्पर्क या मार्ग का जो भी स्वरूप रहा हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तायमोरो और अन्ताम्बाहाओका कबीलों के पूर्वज अरब संस्कृति के संवाहक थे और सांस्कृतिक तथा सम्भवतः आनुवंशिक दृष्टि से भी, अरब प्रायद्वीप से सम्बन्धित थे। पुरातत्व सम्बन्धी प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्भव व्यापारिक

समुदायों से हुआ होगा जिन पर गैर-मालागासी लोगों का शासन रहा होगा परन्तु जिनके अंतर्गत गैर अरब आबादी का प्राधान्य रहा होगा। इस प्रकार के समुदाय से हम अफ्रीका के सम्पूर्ण पूर्वी तटवर्ती प्रदेश में परिचित हैं। पुरातात्विक प्रमाणों के अतिरिक्त कुछ हद तक लिखित प्रमाणों से भी पता चलता है कि अरबों की बस्तियाँ दूर-दूर तक फैली थीं। परन्तु दक्षिण पूर्व में अरब सम्पर्कों के विषय में विस्तार से नहीं मालूम हो पाया है और इस सम्बन्ध में अधिकांश अनुमान बहुत क्षीण प्रमाणों पर आधारित है।

मैं यह निश्चयपूर्वक कह सकने की स्थिति में नहीं हूँ कि अन्तायमोरो और अन्ताम्बाहाओका के मूल से सम्बद्ध कौन सी धारणायें अधिक प्रामाणिक हैं। लेकिन एक बात विशेष दृष्टव्य है: इन समूहों की भौगोलिक स्थिति ऐसी है जिससे वे मैडागास्कर के पश्चिमोत्तर भाग के इस्लाम धर्मावलम्बी लोगों की अपेक्षा, अरबी बन्दरगाहों की श्रृंखला के अन्तर्गत, और भी दूरवर्ती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि इन कबीलों के सांस्कृतिक पूर्वजों पर अरब व्यापार का क्रम टूट जाने का और भी असर हुआ होगा। यह क्रम हिन्द महासागर क्षेत्र में यूरोपियनों के प्रवेश से आरम्भ हुआ था। इससे इन कबीलों के इस्लाम से प्रायः अस्पष्ट सम्बन्ध का, जो इस समय है, स्पष्टीकरण हो जाता है।

अन्तायमोरो और अन्ताम्बाहाओका अपने को भले ही मुस्लिम कहें, परन्तु वे सीमित अर्थों में ही मुस्लिम हैं। (हाल में उन्होंने मैडागास्कर में आ बसने वाले मुस्लिम कोमोरियनों और भारतीयों के सम्पर्क के कारण इस्लाम से अपने सम्बन्धों पर और भी जोर दिया है।) लेकिन वे बहुत कम मुस्लिम धर्मानुष्ठानों का पालन करते हैं और उन्हें मुस्लिम आचार-विचार का नगण्य ज्ञान ही है। कुरान की उन्हें प्रायः बिल्कुल ही जानकारी नहीं है हालांकि कुछ लोगों को उसकी आयतों का आधा-अधूरा ज्ञान है। इन कबीलों का कोई भी व्यक्ति हज के लिए मक्का की यात्रा नहीं करता। अरबी या मुस्लिम मूल का कुछ ही आचार-व्यवहार उन में प्रचलित है: जैसे जुमे को पवित्र दिन मानना और सुअर के मांस को त्याज्य समझना; कभी-कभी पवित्र अरबी शब्दावली का प्रयोग

और अभिजात वर्गों में मुख्यतः मालागासी भाषा में कुछ संक्षिप्त मुस्लिम प्रार्थनाएँ। इसी सूची में उन जादुई और ज्योतिष सम्बन्धी फार्मूलों को भी शामिल किया जा सकता है, जिन्हें अनुष्ठान-विशेषज्ञ, बिना अर्थ समझे, प्रयोग में लाते हैं और जो पहले अरबी भाषा में थे। इन कबीलों के लोग इस्लाम के इस अधूरे रूप के साथ-साथ अन्य ऐसे विश्वासों को भी जोड़ देते हैं जो गैर-इस्लामी माने जाते हैं। इन दिनों अधिसंख्यक लोग अपने को ईसाई मानते हैं और वे प्रोटेस्टेंट या कैथोलिक गिरजाघरों में नियमित रूप से जाते हैं। वे सभी उन जादू-टोनों को भी मानते हैं जो सम्पूर्ण मैडागास्कर में प्रचलित हैं और जो मूलतः न ईसाई धर्म से आए हैं, न मुस्लिम धर्म से।

लेकिन अन्तायमोरो और अन्ताम्बाहाओका लोगों को अरबी संस्कृति से विरासत में जो सब से अधिक मूल्यवान वस्तु मिली है वह है अरबी लिपि में लेखन की कला और पाण्डुलिपियाँ। इन पाण्डुलिपियों के कारण न केवल परम्परागत रूप में अरबी आचार-व्यवहार सुरक्षित रहा है बल्कि उसकी प्रामाणिकता भी सिद्ध की जा सकती है।

जो देश अभी १९वीं शताब्दी तक साक्षरता-पूर्व स्तर का माना जाता था उसके एक अपेक्षाकृत दूरवर्ती भाग में लेखन के दीर्घकालीन अस्तित्व के बारे में पहले के और आज के अनेक यूरोपीय लेखकों ने विचार व्यक्त किए हैं। इसीलिए इस विषय में हमारी जानकारी यथेष्ठ है। हम जानते हैं कि अरबी लिपि का प्रयोग १६वीं शताब्दी में हो रहा था। उदाहरण के लिए १७वीं शताब्दी के आरम्भ में, एक पुर्तगाली नाविक के अनुसार, उसने एक अन्तायमोरो शासक से सन्धि की और यह सन्धि मालागासी भाषा और अरबी लिपि में लिखी गई थी।

अन्तायमोरो प्रदेश में लेखन की स्थिति के बारे में पूर्ण विवरण हमें उस फ्रान्सीसी उपनिवेश के फ्रेन्च गवर्नर द्वारा प्राप्त हुआ है, जो फोर्ट डाफिन के इर्द-गिर्द स्थापित हुआ था और कुछ ही समय तक रहा। उसके विवरण को उन मालागासी शब्दों के अनुवाद के साथ दिया जा रहा है, जिनका प्रयोग उसने किया था :

यहाँ दो प्रकार के ओझा पाये जाते हैं : शुद्ध ओझा और नजूमी ओझा । शुद्ध ओझा लेखक अरबी लेखन में बहुत पटु होते हैं । उनके पास अनेक किता हैं जिनमें कुरान के कुछ अध्याय भी हैं । अधिकांशतः वे अरबी समझते हैं और उसे उसी तरह सीखते हैं जैसे यूरोपीय लोग लैटिन या ग्रीक सीखते हैं । वे बीमारों को ठीक करते हैं । वे 'हिरिद्जी', तिलिस्मान', 'मसर्रब' तथा अन्य लेखन तैयार करते हैं, जिन्हें उच्च पदों वाले या अमीर लोगों के हाथ बेचते हैं जिससे हजारों दुर्घटनाओं और बीमारियों से रक्षा हो सके और बिजली, आग, शत्रु और मौत तक उनका कुछ न बिगाड़ सके, हालांकि वे स्वयं अपनी रक्षा इन सब से नहीं कर पाते । ये धोखेबाज़ इन तरीकों से पशु, सोना-चांदी, कपड़े और अन्य हजारों चीज़ें प्राप्त करते हैं और स्वर्गिक सुख उठाते हैं । इन ओझाओं से लोग बेहद भयभीत रहते हैं : इन से न केवल सामान्य लोग डरते हैं क्योंकि वे इन्हें जादूगर समझते हैं, बल्कि अमीर-उमरा लोग भी, जो इन का प्रयोग फ्रेन्च लोगों के विरुद्ध करते हैं । इन जादूगरों ने फ्रेन्च लोगों के किले में लिखित कागज़ात की कितनी ही डालियाँ भेजीं, जुमे के दिन दिए गए अडे भेजे जिन पर आकृतियाँ और लेखन थे, और बिना पके मिट्टी के बर्तन भेजे जिन पर अक्षरादि अंकित थे । इन ओझाओं को मातोतानाना में शिक्षा मिली जहाँ बालकों के लिए स्कूल चलाए जाते हैं।

इसके बाद फ्लाकोर्ट अन्तायमोरो ज्योतिष का वर्णन करता है और संकेत देता है कि उस का सम्बन्ध अरबी पुस्तकों से है जिन की वह सूची देता है । वह यह भी बताता है कि पुस्तक-प्रणेता और नजूमी-ज्योतिषी दो भिन्न वर्गों के लोग हैं । हो सकता है कि अतीत में यह वर्गीकरण पाया जाता हो, लेकिन आज नहीं पाया जाता । पुस्तक-प्रणेताओं के बारे में कुछ विवरण देने के बाद वह उनकी पद्धति का और ब्योरेवार विश्लेषण करता है । वह लिखता है :

जिस लिपि का प्रयोग ओझा लोग करते हैं वह अरबों द्वारा प्रयुक्त लिपि के समान है जो दाहिने से बायें लिखो जाती है लेकिन कुछ अक्षरों का उच्चारण वही नहीं है जो अरबी भाषा

में होता है। ... इन भागों में लेखन-कला प्रायः दो सौ वर्ष पूर्व कुछ अरबों द्वारा लायी गई जो लाल सागर प्रदेश से आए थे और जिन्होंने बताया था कि उन्हें मक्का के खलीफा ने भेजा है। वे नावों में बैठ कर मातीतानाना आए और उन्होंने यहाँ विवाह किए। उन्होंने उन लोगों को अरबी भाषा और कुरान सिखायी जो सीखना चाहते थे और स्कूल चला रहे थे।

यह विवरण अनेक दृष्टियों से दिलचस्प है। इससे मालूम होता है कि आज की अपेक्षा उस समय अरब संस्कृति और भाषा में कहीं अधिक निकट का सम्बन्ध था। इससे यह भी प्रकट होता है कि अरबों से सम्पर्क टूट चुका था और लिपि को मालागासी के अनुकूल बना लिया गया था। इस विवरण में एक ऐसी विशेषता पर बल दिया गया है जो आज भी पाई जाती है, अर्थात् लिखित शब्द की धार्मिक, जादुई, ज्योतिष और चिकित्सा की दृष्टि से शक्ति, जो इस शक्ति को रखने वालों पर भी हावी थी और न रखने वालों पर भी। यह भी प्रकट होता है कि लेखन-पटु लोगों की सेवाओं की पास-पड़ोस के लोगों में बहुत माँग थी।

विशिष्ट लेखन के गुण और शक्ति पर यों बल दिए जाने की प्रवृत्ति इस्लामी संस्कृतियों की सामान्य विशेषता है। लेकिन मैडागास्कर में जिस ढंग से बल दिया जाता था वह अन्य अधिक रूढ़िवादी मुस्लिम देशों की अपेक्षा कुछ भिन्न है।

पहला अन्तर यह है कि लिपि को वास्तविक अरबी भाषा से पृथक किया गया है। फ्लाकोर्ट के विवरण से प्रतीत होता है कि उसके समय में अरबी का प्रयोग प्रचलित था हालांकि लिपि को मालागासी के लिए अनुकूल बना लिया गया था। लेकिन कम से कम १९वीं शताब्दी तक केवल मालागासी में ही लेखन हुआ है और ऐसा प्रतीत होता है कि यह क्रम काफी समय से चला आ रहा था क्योंकि मैडागास्कर में ऐसी किताबें नहीं पायी गई हैं जो पूरी तरह अरबी में लिखी गई हों, हालांकि काफी संख्या में प्राचीन पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं।

मालागासी के लिए अरबी लिपि को अनुकूल बनाने के कारण कई समस्यायें उठ खड़ी हुई हैं जिससे उसे पढ़ने में बहुत कठिनाई

पैदा होती है। अरबी लिपि की मुख्य धारा में जोड़े गए स्वर-चिन्ह कभी-कभी व्यंजनों से जुड़ गए हैं और इससे अरबी के विद्वान भ्रम में पड़ जाते हैं। अन्य चिन्हों को भी शामिल किया गया है और इसीलिए प्रत्येक चिन्ह का स्वनिक मूल्य उससे भिन्न है जो वह अरबी में है। इन परिवर्तनों के कारण अरबी विद्वानों ने अन्तायमोरो लिपि को एक प्रकार की चित्र-पहेली कहा है। लेकिन ऐसा सोचने का कोई भी कारण नहीं है और अगर लोग मालागासी से परिचित हों तो वे बिना किसी कठिनाई के इस लिपि को पढ़ सकते हैं। किसी विदेशी लिपि को किसी पहले की अलिखित भाषा के अनुकूल बनाने का कार्य बहुत कठिन होता है लेकिन हमें यह नहीं मालूम कि यह कार्य कब और किस ने किया।

साक्षरता की दृष्टि से मैडागास्कर के दक्षिण पूर्व में और किसी भी सामान्यत: कट्टरपंथी मुस्लिम देश में दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि मैडागास्कर में कुरान को बहुत ज्यादा महत्व नहीं मिला है। इसी कारण वहाँ अरबी भाषा नहीं प्रचलित हो पाई। कुरान के बिना इस्लाम का अस्तित्व सम्भव नहीं और अरबी के बिना कुरान का ज्ञान नहीं हो सकता, इसीलिए किसी भी कट्टर समुदाय के लिए भाषा और पुस्तक को पृथक रखना सम्भव नहीं होता। मालागासी लोगों द्वारा कुरान को उतना महत्व न देने के कारण वहाँ लेखन और अरबी के बीच सम्बन्ध टूट गया। कुरान का स्थान पवित्र लेखन की एक श्रृंखला ने ले लिया जिसे 'सोराबे' अर्थात् महान् लेखन कहा जाता है। इस पुस्तक माला को अन्तायमोरो और अन्ताम्बाहाओका के अभिजात वर्गीय लेखन-विशेषज्ञ रखते और उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार करते हैं। इनके विवरण प्राय: उपलब्ध हैं। इनमें कुछ प्राचीन हैं हालांकि उनकी निश्चित तिथि नहीं मिलती। कुछ हाल में लिखी गई हैं। ये दो प्रकार की हैं। प्रथम श्रेणी में समकालीन वंशवृत्त और इतिहास हैं जिनमें दक्षिण पूर्व के 'अरबी' लोगों के आदिम मूल का विवरण है। इन्हीं 'सोराबे' का अध्ययन प्राय: किया जाता है। दूसरी श्रेणी की पुस्तकें चिकित्सा, मृत्तिका-शकुन विचार, भविष्यवाणी और ज्योतिष सम्बन्धी हैं। ये भी बहु-प्रचलित हैं और

इन का विशेष महत्व इसलिए है कि इन्हीं के कारण उपनिवेश-पूर्व मैडागास्कर में लेखन के जानकारों को बड़ी प्रतिष्ठा मिली थी। इस ज्ञान-भण्डार के विषय में मैं बाद में विचार करूंगा। यहाँ मैं इतना ही कहना चाहूँगा कि ये कृतियाँ (अधिकांश 'सारोबे' की तरह) इन विषयों पर लिखित अरबी पुस्तकों में से अनुवाद हैं। प्राच्य विद्या विशारद जी० फेरेंड ने ज्योतिष सम्बन्धी इन पाण्डुलिपियों का अध्ययन करने के बाद पाया है कि मालागासी ज्योतिष का निश्चित रूप से अरबी मूल है और कुछ आरम्भिक मुस्लिम लेखकों की कृतियों से सम्बद्ध है। मिस्र और सीरिया में तैयार की गयी कुछ पाण्डुलिपियाँ भी दिलचस्प हैं। इन्हे मालागासी पाण्डुलिपियों के साथ 'बिबलियोथिक नेशनेल' में रखा गया है। अधिक गहराई से छान-बीन करने पर पता चलता है कि ये मूलतः मैडागास्कर की नहीं हैं। यह सम्भव प्रतीत होता है कि ये वे पाण्डुलिपियाँ हैं जो अन्तायमोरो लोगों के पास थीं और चूँकि वे अनेक दृष्टियों से 'सारोबे' से मिलती जुलती थीं, अतः उन्हें मैडागास्कर से ला कर मालागासी पुस्तकों के साथ रख दिया गया। यदि यह सच है तो उनके कारण मालागासी और मध्य पूर्व की ज्योतिष के बीच कड़ी पूरी हो जाती है, और हम जानते हैं कि ऐसी कड़ी का अस्तित्व अवश्य था।

अन्तायमोरो और अन्ताम्बाहाओका के अन्तर्गत लेखकों के अभिजात वर्ग का अस्तित्व हमारे लिए न केवल उस समाज और उसकी संस्कृति को समझने के लिए महत्वपूर्ण है बल्कि सम्पूर्ण मैडागास्कर की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति को समझने के लिए भी सहायक है। लेखन की प्रतिष्ठा और शक्ति, और उसके द्वारा प्रदत्त तन्त्र-मंत्रात्मक तथा धार्मिक जानकारी का प्रसार सम्पूर्ण मैडागास्कर में है। ऊपर उद्धृत फ्लाकोर्ट के विवरण से स्पष्ट है कि अन्तायमोरो लेखकों और चिकित्सकों की सेवायें अन्य लोगों द्वारा प्राप्त की जाती थीं। इसका अन्य प्रमाण १८वीं शताब्दी के एक फ्रेन्च यात्री के विवरण से मिलता है। उसने लिखा है कि तामातावे के निकट अन्तायमोरो लेखकों को भूमि-हस्तान्तरण और वंशवृत्त लिखने के लिए नियोजित किया था। दक्षिण पूर्वी प्रदेश के लेखन के

जानकार सम्पूर्ण मडागास्कर की यात्रा करते थे और कभी-कभी अन्य कबीलों के बीच बस जाते थे तथा चिकित्सा, जादू-टोना और शकुन-विचार का काम करते थे। इस सम्पर्क का परोक्ष प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि सम्पूर्ण मैडागास्कर में ज्योतिष सम्बन्धी तथा शकुन-विचार का ज्ञान जिस प्रकार लिखित रूप में मिलता है वह उसी ढंग का है जो 'सारोबे' में मिलता है।

परन्तु अन्तायमोरो ज्योतिषियों के अन्य कबीलों पर प्रभाव का प्रत्यक्ष प्रमाण हमें मेरिना सम्राट आन्द्रियानाम्पोयिनीमेरिना के शासन-काल में मिलता है। इसका समय १७८७ से १८१० ईस्वी माना जाता है। उसने अपने शासन में छोटे-छोटे कबीलों को एकीकृत करना आरम्भ किया। यह एकीकृत प्रदेश इमेरिना कहलाया। इसके बाद उसने गैर-मेरिना लोगों को भी मिला कर अपने साम्राज्य का काफी विस्तार किया। उसके पुत्र ने उस साम्राज्य को और भी विस्तृत बनाया। उसे मैडागास्कर के लेखकों ने रादामा और मालागासी लोगों ने लेहिदामा नाम दिया है। उसने एक केन्द्रीय शासन-तन्त्र स्थापित किया जिसके अन्तर्गत न्यायाधीशों, केन्द्र सरकार के स्थानीय प्रतिनिधियों और अन्य पूर्णकालिक सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति की। सौभाग्य से रादामा की शासन-प्रणाली के बारे में हमें ब्यौरेवार जानकारी उपलब्ध है।

जब प्रथम मेरिना सम्राट ने मध्य मैडागास्कर में अपना आधिपत्य पूर्ण रूप से स्थापित कर लिया तो उसने पहला काम यह किया कि उसने अनेक अन्तायमोरो ज्योतिषियों और शकुन-विचारकों को बुलाया और उनसे उसके दरबार में आ बसने का अनुरोध किया। इससे यह साबित होता है कि अन्तायमोरो ज्योतिषी पहले ही से मेरिनो लोगों के सम्पर्क में रहे होंगे क्योंकि मेरिनो सम्राट को उनके यश की जानकारी थी।

हमें विशेषतः एक अन्तायमोरो के सम्बन्ध में जानकारी है जो उस काल में मेरिनो दरबार में पहुँचा था क्योंकि उसने अपने प्रतिनिधिमण्डल का विवरण लिखा था। विवरण से स्पष्ट है कि इन अन्तायमोरो लोगों का काम ज्योतिष और अन्य तन्त्र-मन्त्रात्मक मामलों में परामर्श देना था। वे सम्राट के साथ उसके सैनिक अभि-

यानों में जाते थे और उसे आक्रमणों के लिए शुभ घड़ी आदि के बारे में बताया करते थे। वे सम्राट को जादू-टोने के तावीज़ आदि बना कर देते थे जिनमें से कुछ, बड़े सम्प्रदायों के लिए महत्व की चीजें बन गई थीं। बाद में इन तावीजों को लेकर मिशनरियों ने विरोधी प्रचार किया और जब महारानी ने धर्म-परिवर्तन कर लिया तो उन्हें बड़ी संख्या में जलाया गया। इसके बाद उनका प्रचलन रुक गया। अन्तायमोरो चिकित्सक भी थे और उन नुस्खों का प्रयोग करते थे जो 'सारोबे' में दिए गए हैं। वे 'सिकिडी' के नाम से विख्यात शकुन-विचार का प्रयोग करते थे और इसके लिए विख्यात थे। वस्तुतः अन्तायमोरो ज्योतिषी-शकुन-विचारक इन उद्देश्यों से आज तक भी मेरिनों द्वारा सेवा में लिए जाते हैं।

तन्त्र-मन्त्रात्मक और धार्मिक क्रियाओं की चर्चा मैं फिर करूँगा। यहाँ मैं इन ज्योतिषियों के प्रभाव से सम्बद्ध एक कम ज्ञात पक्ष की चर्चा करना चाहूँगा जो कम महत्वपूर्ण नहीं है।

आन्द्रियानामपोयिनीमेरिना के शासन-काल के अन्त में अनेक मेरिना अधिकारी अरबी लिपि का ज्ञान रखते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि ज्योतिषियों ने तानानारीव में एक स्कूल खोला था। इस के काफी प्रमाण हैं कि दरबार के अन्तायमोरो लोग मेरिना ज्योतिषियों और तन्त्र-मन्त्र विशेषज्ञों को प्रशिक्षण देते थे। साथ ही उन्होंने अवश्य ही लेखन-कला भी सिखायी होगी जिसका प्रयोग प्रशासनिक कार्यों के लिए किया जा सके। एक ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ जेम्स हैस्टी ने, जो मौरिशस से वहाँ १८१७ ई० में भेजा गया था, लिखा है कि इमेरिना में केवल सम्राट, सबसे बड़े राजकुमार और तीन अन्य व्यक्ति लिखना जानते थे। परन्तु बर्थियर ने बताया है कि यद्यपि अरबी-मालागासी लिखने वालों की संख्या सीमित थी लेकिन उतनी नहीं जिसका जिक्र हैस्टी ने अपने विवरण में किया है। इस कथन की पुष्टि में बर्थियर ने कुछ प्रमाण दिए हैं और कहा है कि रादामा के उत्तराधिकारी द्वारा ईसाई धर्म स्वीकार करने पर अनेक मूर्तियों आदि के साथ अरबी मालागासी पुस्तकें भी जलाई गई थीं।

इमेरिना में अरबी लिपि के प्रयोग से सम्बद्ध सबसे प्रत्यक्ष प्रमाण रादामा की स्कूल पुस्तिका है। यह ज्ञात तथ्य है कि उक्त शासक

आसानी से अच्छी तरह लिख सकता था और बाद में उसने पत्र भी लिखे। तथाकथित 'स्कूल पुस्तिका' में विभिन्न विषयों का समावेश था। उसके एक भाग में फ्रेन्च सीखने का तरीका बताया गया था जो रादामा ने राबिन नामक फ्रांसीसी राजदूत से सीखा था। वित्तीय और सैनिक मामलों को भी दिया गया था और एक भाग का संबंध ज्योतिष से था जिससे संकेत मिलता है कि रादामा के शिक्षक कौन थे।

इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं कि ब्रिटिश शासकों के आगमन और यूरोपीय लिपियों के प्रचलन से पूर्व सरकार का कुछ काम अरबी लिपि में या तो उन प्रशासकों द्वारा, जो स्वयं साक्षर थे, या अन्तायमोरो लेखकों द्वारा किया जाता था। ये लेखक शकुन-विचारक और ज्योतिषी भी थे और सचिवों के रूप में भी काम करते थे। मेरिना लोग ब्रिटिश द्वीपों से भी आकार में बड़े साम्राज्य को किस प्रकार नियन्त्रण में रखते थे और उस पर अपना शासन बनाए हुए थे, इसे समझने के लिए अन्तायमोरो लेखकों के महत्व को समझना आवश्यक है।

इमेरिना के इतिहास में अरबी लिपि का केवल सामान्य स्थान ही है क्योंकि जैसे ही उसका प्रचलन बढ़ना आरम्भ हुआ, उसकी जगह यूरोपीय लिपि ने ले लिया। यदि हम तानानारीव में अन्तायमोरो स्कूल की स्थापना की तिथि के सम्बन्ध में अनुमान लगायें तो कह सकते हैं कि वह लगभग १८०० ई० में स्थापित हुआ। लेकिन १८२० ई० तक लन्दन मिशनरी स्कूल के दो मिशनरियों-डेविड जोन्स और डेविड ग्रिफिन्स ने राबिन नामक एक फ्रांसीसी के सहयोग से माला-गासी के लिए रोमन लिपि तैयार की। डेस्चेम्प्स के अनुसार, जिसने अपनी जानकारी के स्रोत को नहीं बताया है, १८२७ ई० तक चार हजार से अधिक लोग इमेरिना में लिख-पढ़ सकते थे और नए कानून और आदेश राजमहल के फाटक पर चिपका दिए जाते थे। १८६८ तक मेरिना विधि संहिता छप कर तैयार हो गई थी और यह सुस्पष्ट है कि लेखन का काफी प्रचार हो चुका था। इस तिथि के बाद लेखन के प्रचार का विवरण मैं नहीं देना चाहूँगा लेकिन उसकी स्वीकृति और प्रसार बड़ी ही तेजी से हुआ। यह संभव है कि अन्तायमोरो

ज्योतिषियों ने मिशनरियों के आगमन से पहले, संभवतः शताब्दियों पूर्व से मेरिना लोगों को लेखन कला की जानकारी दे कर पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। यह दृष्टव्य है कि आज इमेरिना 'तीसरे विश्व' का वह क्षेत्र है जहाँ साक्षरता की दर सर्वोच्च है।

एक बात ऐसी है जिसके विषय में हम अधिक निश्चय के साथ कुछ कह सकते हैं। रोमन लिपि में मालागासी की वर्तमान वर्तनी के ब्यौरे से यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अनेक तकनीकी दृष्टियों से यह अनुकूलन इससे पूर्व के अरबी लिपि के अनुकूलन का परवर्ती था। दूसरे शब्दों में, यह सम्भव है कि ग्रिफिथ्स, जोन्स, राबिन और उन्हें जानकारी देने वालों में कुछ लोग अरबी मालागासी लेखन से परिचित थे और उन्होंने उसका इस्तेमाल किया।

इस प्रकार अन्तायमोरो ज्योतिषियों और ओझाओं ने इमेरिना में एक ऐसे उपकरण का प्रचलन किया जिसका उपयोग राज्य के धर्म-निरपेक्ष प्रशासन के लिए भी किया जाता था। पूछा जा सकता है कि वे कौन से संगत तत्व थे जिन्होंने लेखन के इस धर्म-निरपेक्षीकरण को बढ़ावा दिया ? प्रथम, जो लेखन मेरिना सम्राटों आन्द्रियानाम-पोयिनीमेरिना और रादामा के समय में अनुकूलन की प्रक्रिया से गुजरा वह कम से कम चार शताब्दियों तक उपलब्ध रहा। लेकिन वह एक विशिष्ट प्रकार का लेखन था। विशुद्ध अरबी लिपि की तुलना में वह भद्दा दिखता था। लेकिन दो बातें उसके पक्ष में थीं। प्रथम तो वह मालागासी के लिए पूर्णतः अनुकूल बना लिया गया था (और यहाँ यह भी बता दिया जाए कि अन्तायमोरो प्रदेश की बोली मेरिना लोगों की बोली से बहुत भिन्न नहीं है, अतः भाषा सम्बन्धी एक और दीवार नहीं पाई जाती); द्वितीय, उसका सम्बन्ध इस्लाम से नहीं था। वस्तुतः ये दोनों बातें परस्पर सम्बद्ध हैं क्योंकि कुरान से लेखन का सम्बन्ध ही अरबी से सम्बन्ध बनाए रखता है। ज्योतिष, शकुन-विचार और चिकित्सा—ये सभी आधिदैविक ज्ञान हैं लेकिन उनके विशेषज्ञों के सम्मुख तात्कालिक लौकिक उद्देश्य होते हैं। यह सर्वथा सम्भव है कि इससे लेखन को विशुद्धतः लौकिक या व्याव-हारिक कार्यों के लिए अनुकूल बनाने में सहायता मिलती हो। दूसरी ओर इससे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि लेखन जिस काल में प्रच-

लित हुआ उसी में आखिर क्यों ऐसा सम्भव हुआ ? परन्तु इस संबंध में अन्य निर्णायक प्रमाण उपलब्ध हैं। लेखन का प्रचलन तब हुआ जब एक विशाल, शक्तिशाली और केन्द्रीकृत साम्राज्य का उदय हुआ। ऐसे साम्राज्य में लेखन की आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है। उसकी आवश्यकताओं में से कुछ को इमेरिना के उदाहरण द्वारा देखा जा सकता है, जहाँ पहले अरबी और फिर यूरोपीय लिपि का प्रचलन हुआ। इनमें से कुछ उपयोग इस प्रकार हैं :—

(१) सरकारी कर्मचारियों के प्रमाण-पत्र

(२) केन्द्र सरकार द्वारा उसके दूरवर्ती प्रतिनिधियों को संदेश

(३) लिखित कानून

इस प्रकार अन्तायमोरो पूर्वजों द्वारा जो ज्योतिष विद्या और लेखन कला लाई गई थी वह पूरे द्वीप में फैली और उसके प्रवर्तकों को प्रतिष्ठा मिली। परतु इमेरिना में १९वीं शताब्दी में अन्तायमोरो लोगों ने सीधे शिक्षा देना आरम्भ किया जिसके दो परिणाम हुए। एक तो लेखन का प्रयोग धर्म-निरपेक्ष कार्यों के लिए होना शुरू हुआ और इस क्षेत्र में शीघ्र यूरोपीय मिशनरियों और उनके स्कूलों का प्रवेश हो गया। यह धर्म-निरपेक्ष लेखन मेरिना लोगों के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए निस्संदेह बहुत महत्व का है, लेकिन वह भिन्न परम्परा का है और ऐसे प्रश्नों को जन्म देता है जिन पर यहां नहीं विचार किया जा सकता। अन्तायमोरो शिक्षण का दूसरा परिणाम यह था कि लेखन और ज्योतिष द्वारा कुछ विशेषज्ञों को विशेष प्रतिष्ठा का दर्जा मिला। यह स्थिति भी बनी हुई है और मेरिना के भीतरी, देहाती भागों में अन्तायमोरो ज्योतिष विद्या का आज भी आदर है। अब मैं ज्योतिषियों, उनके ज्ञान और लेखन की चर्चा करना चाहूँगा और दिखाना चाहूँगा कि उनके विज्ञान की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से हमें आज उसकी कुछ विशेषताओं को समझने में किस प्रकार सहायता मिलती है।

लेखन का धर्म-निरपेक्ष उद्देश्यों से प्रयोग होने के बावजूद इसमें कोई सन्देह नहीं कि राज दरबार में अन्तायमोरो विशिष्टतः अनुष्ठान-विशेषज्ञ होते थे और इस क्षेत्र में उनका प्रभाव मेरिना में आज भी बना हुआ है।

ज्योतिष के कुछ पक्षों को, जिन्हें मैंने अपने १९६४-६६ के क्षेत्रीय अध्ययन के दौरान पाया, आज भी लेखन के निकट सम्पर्क के संदर्भ में समझा जा सकता है। लेकिन इस विषय को उठाने से पूर्व मैं एक अन्य प्रतीक-व्यवस्था का वर्णन करना चाहूँगा जो ज्योतिष के काफी निकट है, लेकिन मूलतः उससे भिन्न है।

दिशा सम्बन्धी मालागासी धारणाएँ कुतुबनुमे के निशानों पर आधारित हैं न कि दायें और बायें की दूरी पर। कुतुबनुमे के दिशा-चिन्हों का प्रयोग उनके व्यावहारिक मूल्य पर आधारित है, परन्तु उन्हें नैतिक मूल्य भी दिया गया है। बुनियादी रूप में यह एक सरल पद्धति है। पूर्वोत्तर को विशेष रूप से अच्छा माना जाता है और उसको मृतकों से या ईश्वर से सम्बद्ध माना जाता है जबकि इससे उल्टी दिशा दक्षिण-पश्चिम को गुणहीन माना जाता है। इससे मध्य की दिशाओं को विभिन्न मात्राओं में धार्मिक या नैतिक मूल्य प्रदान किया जाता हैं। मूल्यों का यह स्थिरीकरण विभिन्न प्रकार से संकेतित होता है जिनमें सबसे महत्वपूर्ण मकानों और मकबरों के माध्यम हैं। मकान के माध्यम का अर्थ यह है कि रहने का कमरा रसोई से उत्तर दिशा में होता है जब कि दरवाजा दक्षिण पश्चिम में। घर के मुखिया और उसकी पत्नी की चारपाई रिहायशी कमरे में उत्तर-पूर्व की ओर होती है और बच्चे तथा नौकर मुख्य चारपाई के दक्षिण पश्चिम में सोते हैं। मकान के उत्तर-पूर्वी सिरे पर एक मौसम के फल अगले मौसम तक रखे जाते हैं और वहीं दवाइयों तथा अन्य आधिदैविक वस्तुओं का भी भण्डार होता है। जब किसी घर में कुछ लोगों का समूह साथ होता है, तो वे अपनी हैसियत के अनुसार दीवालों के पास स्थान ग्रहण करते हैं : सबसे ऊँची हैसियत वाला पूर्वोत्तर में और सबसे निम्न वर्ग वाला दक्षिण-पश्चिम में स्थान ग्रहण करता है। इस व्यवस्था को विशेष रूप से अनुष्ठानों के समय देखा जा सकता है, जैसे विवाह, खतना, या जनाजे के समय, जबकि अनुष्ठान की विभिन्न क्रियाओं को व्यक्त करने के लिए दिशा संबंधी संकेतों का सहारा लिया जाता है। इन सब तरीकों से तथा अन्य प्रकार से भी दिशाओं से सम्बद्ध व्यवस्था मेरिनाओं के जीवन के कुछ पक्षों को विशेष प्रभावित करती है। लेकिन सभी कार्यों के लिए

सामान्यतः दिशाओं की यह सरल व्यवस्था संगत है। इसके विपरीत इस व्यवस्था के विस्तृत रूप (जिन पर नीचे विचार किया जाएगा) ज्योतिष से सम्बद्ध होते हुए भी प्रतिदिन के जीवन से सम्बद्ध नहीं हैं। यह भी दृष्टव्य है कि यद्यपि दिशा सम्बन्धी व्यवस्था की जानकारी प्रायः सभी को होती है और सभी उसे स्वीकार करते हैं, लेकिन उसे बहुत ज्यादा महत्व नहीं दिया जाता। मैंने जिन जानकारों से इस विषय पर बातचीत की उन्होंने बताया कि अगर कोई घर दिशाओं का ध्यान न रख कर भी बनाया जाय तो कोई दण्ड की व्यवस्था नहीं है। इसे प्रायः शिष्टाचार का विषय ही माना जाता है जिसकी अपेक्षा, पूरा जोर देकर अनुष्ठान-काल में की जाती थी क्यों कि उस काल में यही सही तरीका माना जाता था।

मेरिना ज्योतिष इस दिशा-व्यवस्था से सम्बद्ध है। यह विश्वासों की वह व्यवस्था है जो अब भी बुनियादी तौर पर अन्तायमोरो 'सोराबे' के, अतएव मध्ययुगीन अरब ज्योतिषियों और तन्त्र-मन्त्र लेखकों के, अत्यन्त निकट है। मालागासी संस्कृति के विभिन्न पक्षों के अन्तर्गत ज्योतिष सम्बन्धी व्यवस्थाओं के बहुत पूर्ण और तथ्यपरक वर्णन उपलब्ध हैं। इसका कारण यह है कि मेरिनाओं के ज्योतिष सम्बन्धी विश्वासों को उपलब्ध करना काफी आसान होता है! इस प्रकार का एक सबसे स्पष्ट विवरण जे० रुड ने अपनी पुस्तक 'टैबू' में दिया है। संक्षेप में ज्योतिष व्यवस्था इस विश्वास के इर्द-गिर्द केन्द्रित है कि किसी भी व्यक्ति का भाग्य—'विन्ताना'—चाहे वह शुभ हो या अशुभ, औरों के लिए अधिक खतरनाक हो या कम, उसके जन्म की घड़ी द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार चान्द्र मास या तो सबल होते हैं या निर्बल। यही बात महीने के दिनों, सप्ताह के दिनों या किसी दिन के किसी समय पर लागू होती है। ज्योतिष का सम्बन्ध न केवल किसी व्यक्ति के जन्म के समय से होता है बल्कि उस समय से भी जब कोई व्यक्ति किसी क्रिया को सम्पन्न करता है। किसी क्रिया को करने का सही समय पूर्व-निश्चित नहीं होता बल्कि उसके व्यक्तिगत 'विन्ताना' से सम्बद्ध होता है। इस प्रकार अगर ज्योतिष को मार्ग-दर्शक माना जाय तो समय के दो विकल्पों पर विचार करना होगा। यह व्यवस्था तब और जटिल हो

जाती है जब किसी क्रिया का सम्बन्ध एक से अधिक व्यक्ति से होता है क्योंकि ऐसे सभी व्यक्तियों की शुभ घड़ियाँ आपस में टकराती हैं। इस प्रकार विवाह की घड़ी निकालने के लिए यह देखना होता है कि किस समय, दिन और महीने में विवाह करने वालों के भाग्य का मिलन शुभ होगा। दूसरे शब्दों में तीन परिवर्तियों पर विचार किया जाता है।

यह पद्धति अभी भी बहुत जटिल नहीं है लेकिन इसे अनेक प्रकार से घटा-बढ़ा कर जटिल बना दिया जाता है। प्रथम, बुनियादी योजना को ज्योतिषीय काल के विभाजन और उप-विभाजन द्वारा और भी

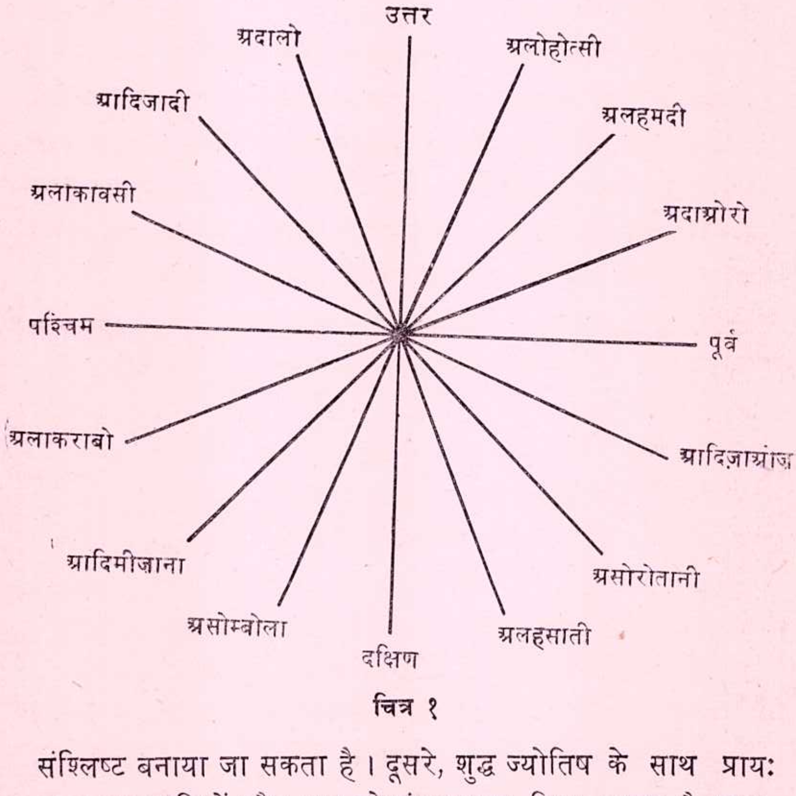

चित्र १

संश्लिष्ट बनाया जा सकता है। दूसरे, शुद्ध ज्योतिष के साथ प्रायः अन्य जानकारियों और ज्ञान को संयुक्त कर दिया जाता है यथा, विभिन्न रंगों या विभिन्न प्रकार के पत्थरों आदि को विशिष्ट ज्योतिषिक कालों का प्रतीक मान लिया जाता है। इसी प्रकार सामाजिक, जातीय या राजनैतिक, भौगोलिक विभाजनों को एक ही वर्गीकरण

पद्धति के अन्तर्गत मान लिया जाता है और यह उन पद्धतियों की याद दिलाता है जिनका विवरण डर्कहाइम और मौस ने आदिम वर्गीकरण सम्बन्धी अपने निबन्ध में दिया है।

एक विशिष्ट उदाहरण दिशा सम्बन्धी उपर्युक्त व्यवस्था और ज्योतिष पद्धति का समन्वय है। यह विभिन्न महीनों और उनके भाग्य को दिशाओं से एकीकृत कर के किया जाता है, जिससे वे घर के विभिन्न हिस्सों से भी एकीकृत हो जाते हैं क्योंकि प्रत्येक मालागासी भवन की दिशा व्यवस्था एक सी होती है। इस प्रकार हमें चित्र १ में उल्लिखित महीनों और दिशाओं का स्वरूप प्राप्त होता है।

महीने और भाग्य घर के विभिन्न भागों से सम्बद्ध किए जाते हैं जिससे किसी पारम्परिक मेरिना भवन में, जो पश्चिमाभिमुखी हो, दीवालों के विभिन्न भाग चान्द्र महीनों का संकेत करते हैं। इस प्रकार सामान्य भवन चित्र २ के अनुसार विभाजित किया जाता है और भवन के इन भागों में भंडारित कतिपय वस्तुओं तथा उनके प्रयोग को भी विभिन्न भागों से सम्बद्ध माना जाता है।

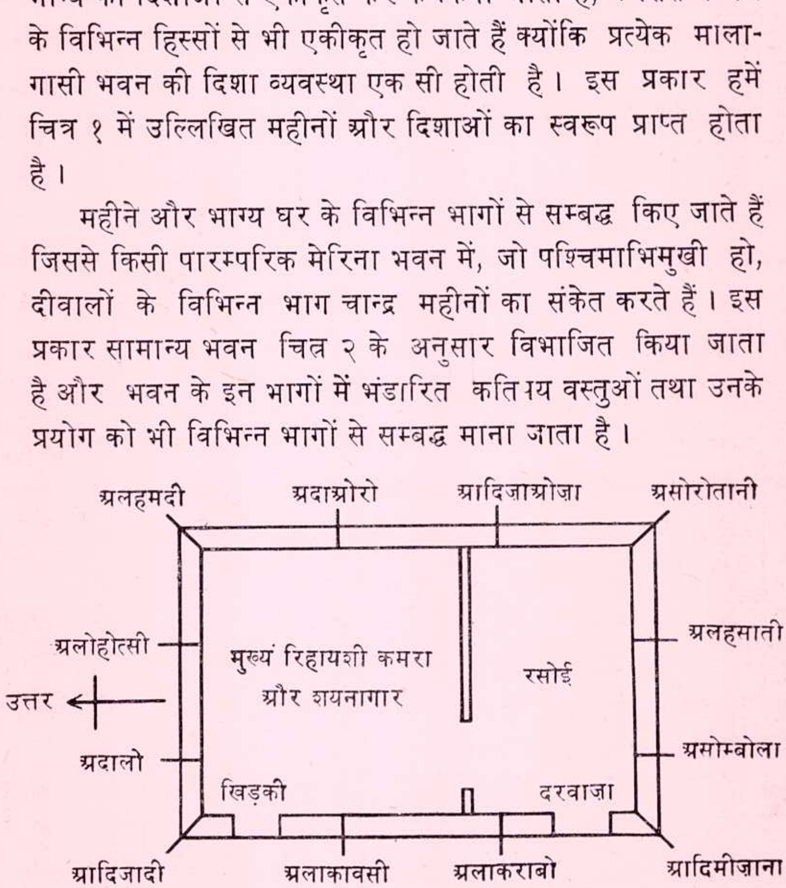

चित्र २

इस प्रकार बुनियादी तौर पर सरल ज्योतिष पद्धति के संश्लेषण के इतने अनन्त उदाहरण हमें मिलते हैं कि प्रायः सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उनके अन्तर्गत आ गया है। इसीलिए मैडागास्कर के सम्बन्ध में लिखने वालों को इस ब्रह्माण्डिक वर्गीकरण ने अत्यधिक आकर्षित

किया है। लेकिन हम इस पद्धति के महत्व को तभी भली भाँति समझ सकते हैं जब यह देखें कि इसका प्रयोग कब, किसने, किस उद्देश्य से किया। तभी हम मेरिनाओं के जीवन के लिए इसके मूल्य को समझ सकते हैं। मैं यह दिखाने का प्रयास करूंगा कि ब्रह्माण्ड के गठन की ऐसी पूर्व-धारणा अनिवार्यतः मेरिनाओं की बोध-प्रक्रिया का अंग नहीं था।

प्रथम तो यह ध्यान देने योग्य है कि मेरिनाओं के लिए ज्योतिष केवल विवरणात्मक ही नहीं है बल्कि भविष्यवाणी भी है। ज्योतिष की मूल धारणा यह होती है कि वह व्यक्तियों और वस्तुओं के बारे में ऐसे गुणों का उद्घाटन करती है जो प्रच्छन्न होते हुए भी, व्यक्त गुणों की अपेक्षा अधिक मूलभूत होते हैं क्योंकि वे ही व्यक्त गुणों का निश्चय करते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि हमें किसी व्यक्ति के 'विन्ताना' का पूर्ण ज्ञान हो सके तो हम उस व्यक्ति के भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जान सकते हैं। ज्योतिषी विन्तानाओं का जानकार होने के नाते भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानता है और इन सबमें जाहिर है कि भविष्य का ज्ञान अधिक ध्यान खींचता है। इसलिए सामान्य मेरिना यह जानने के लिए ज्योतिषियों के पास जाता है कि अपने विन्ताना के अनुसार वह क्या कार्य करे जिससे उसका भविष्य सुधरे और वह उन कठिनाइयों को पार करे जो वैसा न करने पर उठ खड़ी होंगी। इस प्रकार, ख़तने से पहले ज्योतिषी से उसके लिए सही घड़ी पूछना आवश्यक होता है जो लड़के के 'विन्ताना' के अनुसार निकाली जाती है। इसी प्रकार मुर्दनी के पहले मृत व्यक्ति और मातम मनाने वालों के विन्तानाओं के अनुसार निश्चय किया जाता है कि जिन पशुओं का मांस खाया जाना है उन्हें किन रंगों में रंगा जाय। कोई यात्रा शुरू करने या कीमती समान खरीदने से पूर्व भी ज्योतिषी से सलाह ली जाती है। वस्तुतः जब कभी भी किसी खतरे की आशंका होती है तो ज्योतिषी को याद किया जाता है।

यह सब कुछ प्रत्याशित है। लेकिन आश्चर्यजनक यह है कि जब ज्योतिषी से परामर्श किया जाता है तो वह अपने यजमान के जन्म के ठीक समय की तलाश के लिए कोई विशेष यत्न नहीं करता, या

उसके विषय में कोई विशेष ज्योतिषिक तथ्यों को नहीं एकत्र करता। वह किसी कार्य के लिए सही समय का निर्धारण उन अनेक पद्धतियों के अनुसार करता है, जिनमें से कुछ अरबी मूल की हैं।

पहले पहल यह तथ्य आश्चर्यजनक लगता है कि ज्योतिषी प्रायः सदा ही नजूमी भी होता है और चिकित्सक भी क्योंकि किसी कार्य को सही समय में सही ढंग से करने के लिए ज्योतिष की सहायता लेना बिरोधाभास प्रतीत होता है। यदि किसी अर्ध-गणित की गणना के तार्किक परिणामों तक नहीं पहुँचना है और भविष्यवाणी द्वारा निष्कर्ष निकालने हैं तो इस प्रकार की गणना का सहारा ही क्यों लिया जाय ? इसका उत्तर पाने के लिए हमें ज्योतिषी-नजूमी की सामाजिक स्थिति पर विचार करना होगा। इसी से हमें उसके गुह्य ज्योतिष ज्ञान का भी पता चल सकेगा।

कोई स्त्री या पुरुष विभिन्न प्रकार से ज्योतिषी-नजूमी बन सकता है। उदाहरण के लिए उसे इस विद्या का कोई जानकार सिखा-पढ़ा सकता है और उसका परिचय अन्य ज्योतिषी-नजूमी समूहों से करा सकता है जो अपनी धाक जमाए रखने के लिए कुछ अनुष्ठान नियमित रूप में करते रहते हों। यह भी सम्भव है कि कुछ रहस्यात्मक अनुभूतियों को प्राप्त कर या कुछ शक्तियों को रखने का दावा करके भी कुछ लोग ज्योतिषी-नजूमी बन जायें। मेरिना ज्योतिष की ही तरह, किसी का ज्योतिषी-नजूमी होना संश्लिष्ट जानकारी उपलब्ध करने या आधिदैविक शक्ति प्राप्त करने पर निर्भर करता है।

लेकिन यथार्थतः इस व्यवसाय में प्रवेश के लिए कोई सुनिश्चित अर्हता न होने के कारण बहुत बड़ी संख्या में लोग ज्योतिषी-नजूमी होने का दावा करते हैं। इस तरह महत्व इस बात का नहीं है कि कौन इस व्यवसाय के योग्य है बल्कि इसका है कि कौन कितने यजमान जुटा पाता है।

लेकिन जब हम इस समस्या को उक्त दृष्टिकोण से देखते हैं तो एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य उभरता है। जहाँ तक सामाजिक हैसियत का प्रश्न है, वास्तव में दो प्रकार के ज्योतिषी नजूमी होते हैं। इन में से एक को मैं व्यावसायिक कहूँगा। इनकी संख्या अधिक

नहीं है और इनके अन्तर्गत ऐसे लोग हैं जो शकुन-विचार, रोगों की चिकित्सा और भविष्यवाणी द्वारा रोजी कमाते हैं। अब तक इनमें अधिकांश अन्तायमोरो हैं। अन्य, जो अधिक संख्या में हैं, शौकिया लोग होते हैं जो इस कला को प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनाते हैं। मैंने जिस क्षेत्र में अध्ययन किया वहाँ देखा कि प्रायः सभी प्रभावशाली वयोवृद्ध व्यक्ति किसी न किसी रूप में ज्योतिषी नजूमी थे।

इसका कारण यह है कि अब मेरिना समाज में प्रतिष्ठा के उतरदायित्वपूर्ण पद बहुत कम हैं। इसीलिए जो व्यक्ति महत्व या सत्ता के पदों का आकांक्षी होता है उसे उसको प्राप्त करने के लिए जोड़-तोड़ करना पड़ता है। प्रतिष्ठा प्राप्त करने के अनेक तरीके होते हैं। लेकिन उन तरीकों को अपनाने से पहले आवश्यक यह होता है कि व्यक्ति वरिष्ठ माना जाय। वरिष्ठता अंशतः तो आयु के साथ मिलती है और अंशतः धन के साथ, लेकिन ज्ञानोपलब्धि भी वरिष्ठता देने वाली होती है। यह परम्परागत ज्ञान होता है जिसे 'फोम्बा' कहते हैं। इस ज्ञान की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार से की जा सकती है। किसी वरिष्ठ व्यक्ति के लिए सब से महत्व की बात यह है कि उसे अच्छा वक्ता होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि उसमें मेरिनाओं के ढंग पर अत्यन्त जटिल परम्परागत भाषण देने की क्षमता तो होनी ही चाहिए, उसे अधिसंख्य कहावतों और किंवदंतियों तथा आख्यानों की भी जानकारी होनी चाहिए। ये सब पारम्परिक भी हो सकती हैं और पौराणिक भी। जितना ही अधिक कोई व्यक्ति इनकी जानकारी रखेगा उतना ही दिलचस्प भाषण वह दो-दो, तीन-तीन घंटे तक दे सकेगा।

इसके साथ ही 'फोम्बा' विशेषज्ञ से आशा की जाती है कि उसे ज्योतिष का भी ज्ञान होगा, अतः उसका दखल शकुन-विचार, भविष्यवाणी और आधिदैविक चिकित्सा में भी होगा। इस प्रकार इन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के ज्ञानकोष में ज्योतिष की जानकारी आवश्यक मानी जाती है। वरिष्ठ व्यक्ति और ज्योतिषी एक ही व्यक्तित्व के दो पहलू हैं, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि मुझे जानकारी देने वाले अनेक व्यक्ति यह निश्चयपूर्वक नहीं बता सके कि शक्तिदायी लकड़ी की छड़ी वरिष्ठ व्यक्ति की प्रतीक है या ज्योतिषियों

की। उन्होंने कभी एक बात कही तो कभी दूसरी, क्योंकि उनकी दृष्टि में दोनों ही कार्य एक समान थे। उनके अनुसार महत्वपूर्ण व्यक्ति वह है जो बुद्धिमान हो और बुद्धिमान वह है जो मुख्यतः ज्योतिषी हो।

यद्यपि शौकिया ज्योतिषी मुख्यतः राजनैतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए सचेष्ठ रहता है, उसकी जानकारी अतिरिक्त आय का भी साधन है। पारिवारिक ज्योतिषी को कुछ वार्षिक पुरस्कार मिलता है और विशेष अवसरों के लिए विशेष धनराशि मिलती है। इमेरिना के उत्तरी भाग में, जहाँ का मैंने अध्ययन किया, किसी बड़े समारोह पर ज्योतिषी को सामान्यतः या तो विशिष्ट प्रमाणपत्र या लगभग साढ़े सात पौंड के बराबर धनराशि दी जाती थी। परन्तु नियमित उपहार प्राप्त करना भी किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति की स्थिति का अविच्छिन अंग है, और चूँकि सभी महत्वपूर्ण व्यक्तियों को उन से नीची हैसियत वाले लोग उपहार में कुछ न कुछ देते हैं, अतएव उन्हें काफी अच्छी राशि प्राप्त हो जाती है। मेरिनाओं की दृष्टि में किसी ज्योतिषी को इतनी अधिक धनराशि मिलना इस बात का प्रमाण है कि उसकी हैसियत काफी ऊँची है।

अगर ज्योतिषी के इस ज्ञान को वरिष्ठ व्यक्ति का विशिष्ट चिन्ह होना है, जो उसे सामान्य व्यक्तियों से पृथक करे, तो अवश्य ही उसकी उपलब्धि कष्टसाध्य होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त वरिष्ठता की प्राप्ति प्रतियोगी प्रयास होगा इसलिए यह ज्ञान जितना ही जटिल हो, उतना ही हितकर होगा। अपने अध्ययन के दौरान मुझे इस प्रतियोगी दृष्टिकोण के बारे में अनेक बार बताया गया। यह तुरन्त मान लिया गया कि मैं जिस चीज को जाँच कर रहा हूँ वह वयोवृद्ध वरिष्ठ व्यक्तियों द्वारा उपलब्ध रहस्यात्मक ज्ञान है क्योंकि मालागसी समाज में इसे ही अधिक दिलचस्प और महत्वपूर्ण माना जाता है। इसके परिणामस्वरूप जब मैंने सामान्य लोगों से सूचनाएँ एकत्र करने का प्रयास किया तो महत्व वाले लोगों ने बहुत नाराजगी दिखाई क्योंकि उनके अनुसार 'सामान्य लोगों को कुछ पता नहीं है।' इसके अलावा जब मैं किसी एक महत्वपूर्ण व्यक्ति से कुछ जानकारी लेकर किसी अन्य व्यति के पास जाता था तो वह व्यक्ति

पहले यह मालूम करता था कि पहले व्यक्ति ने क्या बताया है और फिर उसी जानकारी में वह श्रोताओं को प्रभावित करते हुए अपनी ओर से कुछ जोड़ देता था। एक बार तो मुझे दो महत्वपूर्ण व्यक्तियों में होड़ देखने का भी अवसर मिला। वे दोनों, जो एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे, एक विवाह से पहले शास्त्रार्थ में भिड़ गए थे। यह शास्त्रार्थ उन्होंने मुझे प्रभावित करने और मेरे ल भ के लिए किया। इसका तथा ऐसे ही विवादों का उद्देश्य यह सिद्ध करना नहीं था कि कौन सही है और कौन ग़लत, बल्कि यह दिखाना था कि कौन अपने विषय की गूढ़ और जटिल बातों को अधिक जानता है। ऐसी स्थिति में यह समझ में आ जाता है कि ज्योतिष सम्बन्धी धारणाओं को कितना विस्तार दिया जा रहा है। अधिकाधिक जटिलता और रहस्यात्मकता के लिये इस होड़ को देखते हुए यह बात भी समझ में आ जाती है कि क्यों कोई ज्यौतिषी प्रस्तुत प्रश्नों के समाधान के लिए आधिदैविक उपायों को काम में लाता है। जब कोई व्यक्ति ज्योतिषी की सलाह लेने जाता है तो वह ज्योतिषी पहले अपने यजमान को भाग्य या नियति सम्बन्धी अनेक जटिल एवं असंगत तथ्यों के ताने-बाने द्वारा चमत्कृत करना चाहता है। स्वाभाविक है कि इन असंगत बातों का उपयोग वह प्रस्तुत समस्या या प्रश्न के हल के लिए नहीं कर सकता। इसीलिये वह छोटा रास्ता पकड़ता है, जिसका वर्णन मैं ऊपर कर चुका हूँ।

ज्योतिष और दिशाओं सम्बन्धी जिस पद्धतियों की चर्चा मैंने की है उनमें जटिलता और रहस्यात्मकता का एक मुख्य कारण विद्वानों के बीच वाद-विवाद और प्रतिद्वन्द्विता है। लेकिन यह सोचना सही नहीं होगा कि विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विस्तार और जटिलताएँ उनकी अपनी कल्पना का परिणाम हैं।

प्रथम, ज्योतिष सदा ही एक समान और प्रायः सरल व्यवस्था पर आधारित रही है। दूसरे, जिन सूचनाओं को ज्योतिषी अपनी ज्योतिष सम्बन्धी व्यवस्थाओं में जोड़ते हैं वे सुविज्ञ स्रोतों से मिलती हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त सूचनाओं में कुछ सुविदित हैं, जैसे किसी भवन का दिशा-निर्धारण, और उनसे स्पष्ट हो जाता है कि दिशा-पद्धति प्रायः वही है जो ज्योतिष-पद्धति है।

जिस पद्धति का ऊपर वर्णन किया गया है उसमें दो प्रकार के पदार्थों को विशेष स्थिति में रखा गया है। एक ओर तो अजूबा विदेशी जानकारी है जो लिखित स्रोतों से प्राप्त हुई है। जैसाकि गूडी और वाट ने बताया है, यह संयोग की बात है कि विचित्र विदेशी जानकारी का स्रोत लिखित कृतियां हैं क्योंकि यदि कोई जानकारी अधिकांशतः अपने मूल विदेशी रूप को बनाए हुए है तो संभव यही है कि उसका सम्प्रेषण मौखिक न होकर लिखित रूप में ही हुआ हो, क्योंकि मौखिक परम्परा की यह विशेषता होती है कि सम्प्रेषण और पुनर्सम्प्रेषण के क्रम में वह अपना रूप बदलती रहती है।

ये अभिलेख दो स्रोतों से उपलब्ध हैं। प्रथम तो वरिष्ठ व्यक्तियों के पास कम से कम एक फेरी पुस्तिका होती है जिसमें वे सभी तरह की सूचनायें और जानकारी उतारते रहते हैं। इसमें ज्योतिष संबंधी जानकारी भी शामिल है। इन पुस्तिकाओं को बहुत मूल्यवान माना जाता है और इन्हें परिवार के एक मुखिया द्वारा अपने उत्तराधिकारी मुखिया को सौंपा जाता है। इन पस्तिकाओं में अधिक से अधिक संश्लिष्ट सूचनाओं और जानकारी को लिखना संभव होता है, जैसे कहावतों, किंवदंतियों और बाइबिल के उद्धरणों को दीर्घकालीन श्रृंखला, जिन्हें उचित समय पर दुहराया जा सके। वस्तुतः ये व्यक्ति भाषण देने से पहले अनेक संदर्भों को पढ़ लेते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे अधिक से अधिक जटिल और रहस्यात्मक जानकारी को भी सहज रूप में याद कर सकते हैं।

लेकिन इन फेरी पुस्तिकाओं से ही संतोष न करके अब इन लोगों ने अपने पास छोटी-छोटी मुद्रित पुस्तकें रखना भी शुरू किया है जिनमें कहावतें, संस्मरणात्मक कथाएँ, नमूने के भाषण और ज्योतिष संबंधी काफी जानकारी होती है। प्रार्थना पुस्तकों के अलावा जो कुछ पुस्तकें दूरदराज के स्थानों में पढ़ी जाती हैं उनका विषय प्रायः ज्योतिष ही होता है। इन पुस्तकों का विषय अनेक स्रोतों से लिया जाता है। प्रथम, 'सोराबे' से अनुवादित अंश होते हैं। द्वितीय, मेरिना विश्वासों, कहावतों आदि के मिशनरियों द्वारा प्रस्तुत विवरण होते हैं। तृतीय, विदेशीय कृतियों से, जो अधिकांशतः ज्योतिष सम्बन्धी और फ्रेंच भाषा में होती हैं। वस्तुतः जो लोग फ्रेंच पढ़ सकते हैं वे ज्योतिष

सम्बन्धी अपनी जानकारी उन बहुसंख्यक फ्रेंच पुस्तकों को पढ़ कर बढ़ा सकते हैं जो तानानारीव में आसानी से उपलब्ध हो जाती हैं और उन फ्रेन्च अखबारों से भी लाभ उठाते हैं जो मेडागास्कर में वेष्ठन कार्यों के लिए बड़ी मात्रा में मँगाए जाते हैं।

ऐसी कृतियों को अंशतः इसलिए प्रतिष्ठा मिलती है कि वे अपरिचित विषयों से युक्त होती हैं और अंशतः इसलिए कि वे लिखित रूप में होती हैं। गांव वालों की दृष्टि में ये दोनों बातें एक ही हैं क्योंकि वे भविष्य उसके लिए अपरिचित होते हैं और किसी आधिदैविक या अलौकिक स्रोत से उपलब्ध प्रतीत होते हैं। वस्तुतः यह माना जाता है कि इस प्रकार की शक्ति सभी लिखित कृतियों में होती है। मेरे अध्ययन के दौरान लोग मेरी पुस्तकों की ओर घण्टों टकटकी लगाए देखते रहते थे, और शब्द-कोष की ओर वे विशेष रूप से बड़े सम्भ्रम से ताकते थे। मेरिना ग्रामवासी के लिए सभी प्रकार की लिखित जानकारी एक ही प्रकार की लगती थी अर्थात् वह जो किसी की 'बुद्धि' में वृद्धि करने वाली हो, और जो ऐसी गुह्य विद्या हो जिसकी उपलब्धि से कोई व्यक्ति वरिष्ठ बन सके।

विदेशी लिखित ज्ञान किसी को विशिष्ट बौद्धिक वर्ग में रखने में विशेष रूप से सक्षम होता है क्योंकि वह अलभ्य होता है और उसे चार प्रकार से ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रथम तो फेरी-पुस्तिकाएँ होती हैं जो इस प्रकार के ज्ञान का प्रमुख स्रोत हैं और जैसा कि हम देख चुके हैं, ये पुस्तिकाएँ परिवार के एक मुखिया द्वारा दूसरे को विरासत के रूप में दी जाती हैं। विदेशी ज्ञान का एक और स्रोत वे पुस्तकें हैं जो तानानारीव के पुस्तक-विक्रेताओं से खरीदी जा सकती हैं और इसीलिए इन पुस्तकों तक पहुँच केवल उन्हीं की होती है जो तानानारीव के सम्पर्क में रहते हैं। तीसरे, लिखित विदेशी स्रोतों से ज्ञानोपलब्धि उन्हीं की हो सकती है जो आसानी से पढ़ सकते हों। चौथे, महत्वपूर्ण बात यह है कि यह 'ज्ञान' इतना जटिल और दुसाध्य है कि इसको प्राप्त करने के लिए लम्बे समय तक अभ्यास, मनोयोग और दक्षता की जरूरत है। वस्तुतः जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, उसे जानबूझ कर जटिल और रहस्यात्मक बनाया जाता है जिससे उसे 'अलभ्य' विद्या बनाया जा सके।

ज्योतिष सम्बन्धी पद्धति में प्रति दिन के जीवन से सम्बद्ध सूचनाएँ भी शामिल की जाती हैं। पारम्परिक मकान का दिशा-निर्धारण और लोगों की नैतिक विशेषताओं का उल्लेख ऐसे ही विषय हैं। इस दृष्टि से ज्योतिषी को प्रतिष्ठा एक भिन्न कारण से मिलती है। उसे इसलिए प्रतिष्ठित माना जाता है कि वह अपने संभाषणों और प्रवचनों में ऐसे सम्बन्धों का विवेचन करता है जिनके विषय में यह सोचा जाता था कि उनका अस्तित्व ही नहीं है। ये, व्यक्ति के अपने परिवेश और विदेशी ज्योतिष के अजूबा संसार के बीच सम्बन्ध हैं। ज्योतिषी किसी एक विशिष्ट परिवेश और उद्देश्य के लिए तैयार सामग्री का किसी अन्य संदर्भ में उपयोग करके अपना सिक्का जमाता है। दूसरे शब्दों में, ज्योतिष-व्यवस्था के प्रति सामान्य लोगों की दिलचस्पी इसलिए होती है कि वह व्यवस्था सामान्य जीवन से अलग होती है और रहस्यात्मक, काल्पनिक या अलौकिक दिखती है और उसके इन्हीं गुणों के कारण उसका मूल्य और महत्ता मानी जाती है।

मैंने ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान का उक्त विवरण इसलिए दिया है जिससे यह मालूम हो सके कि मेरिनाओ की ज्योतिष-पद्धति को किस रूप में देखना चाहिए। हो सकता है कि चीनी वर्गीकरण के सन्दर्भ में डर्कहाइम और मॉस की तरह, हम मान लें कि मेरिनाओ का विश्व या ब्रह्माण्ड के प्रति ज्योतिषीय दृष्टिकोण ही व्यक्ति के कार्यों का निर्देशन करता है। लेकिन मैं यहाँ जिस विषय पर विचार कर रहा हूँ, वे पद्धतियाँ प्रतिष्ठा की खोज में लगे व्यक्तियों द्वारा किए गए विस्तार या रहस्य हैं। इसकी पुष्टि में मैं फादर ड्यूबाइस का एक उद्धरण देना चाहूँगा जिनके, पड़ोसी बेटसीलियो की ज्योतिष सम्बन्धी धारणाओं पर व्यक्त विचार वैसे ही हैं जो मैरिनो के हैं :

> ज्योतिष के सम्बन्ध में दृष्टव्य है कि भविष्यवाणी करने वालों की तरह व्यावसायिक ज्योतिषियों ने जानबूझ कर अपने तौर तरीके ऐसे बनाए हैं जिससे वे सिद्धान्तों और पद्धतियों की कतिपय एकरूपता बनाए रखकर सम्बद्धता की संभावनाएँ बढ़ाते रहें। विभाजन, उपविभाजन, और उपविभाजनों के विभाजनों के विभाजन एक ही नमूने पर निरूपित किए जाते हैं लेकिन

पद्धति को बहुगुणित करने के लिए ही वैसा किया जाता है। इससे उनको कार्यक्षमता के लिए अधिक स्वतन्त्रता रहती है और जो इस विषय के ज्ञाता नहीं हैं उन पर अधिक प्रभाव डाला जा सकता है।

ज्योतिष को हम ऐसी कला कह सकते हैं जो मेरिना सस्कृति के मूल वर्गीकरणों का प्रयोग करतो हैं। यह प्रयोग सामान्य रूप में नहीं बल्कि जानबूझ कर जटिलता लाने के लिए किया जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि समस्त व्यवस्था सामाजिक क्रियात्मकता से शून्य है। उससे लोगों को वरिष्ठता के लिए सक्षम बनाने तथा नेताओं में प्रतियोगी भावनाएँ उकसाने के कारण उसका सामाजिक महत्व होता ही है। इसके अलावा, उसके अन्तर्गत दिशा सम्बन्धी व्यवस्था जैसी पद्धतियों का समावेश होने से प्रति दिन का जीवन भी उसमें प्रतिबिम्बित रहता है। फिर भी यह तथ्य है कि ज्योतिषिक ब्रह्मांडिकी सामान्य मेरिना की ब्रह्मांडिकी नहीं है। इसका कारण तब स्पष्ट हो जाता है जब हम ज्योतिषियों के ज्ञान के मूल स्रोत, संप्रेषण के तरीके और सूत्रीकरण को ध्यान में रखें।

न्यूगिनी और मैलेनीशिया में साक्षरता का उपयोग

अगले दो अध्यायों में अधिक आधुनिक अर्थों में साक्षरता पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में प्रोफेसर मेगिट ने एक पूर्णतः असाक्षर समाज पर साक्षरता के प्रभाव का विवरण दिया है। न्यूगिनी प्रशान्त महासागर के उस प्रदेश से बाहर स्थित है, हालांकि अधिक बाहर नहीं, जहाँ आरम्भ से ही साक्षरता का निर्णायक प्रभाव पड़ा। मेरा तात्पर्य इन्दोनेशियाई द्वीप समूह से और उन द्वीपों से है जो एशियाई मुख्यभूमि के निकटतम हैं। वहाँ मुख्यतः यूरोपीयों के द्वारा लेखन पहुँचा, विशेषतः उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, जब उपनिवेशवादी प्रसार सक्रिय हुआ।

मेगिट ने तटवर्ती भाग के मैलेनीशियनों और पहाड़ी भाग के पापुवा लोगों के लेखन के प्रति दृष्टिकोण की तुलना प्रस्तुत की है। मैलेनीशियन लोग शब्द को रहस्य-चिन्ह मान कर उस पर दैवी आस्था रखते थे और मानते थे कि अक्षर या 'पास' पर नियन्त्रण के द्वारा वे अलौकिक विश्व पर नियन्त्रण कर सकते हैं, अतः मनचाही समृद्धि के स्वामी बन सकते हैं। दूसरी ओर पर्वतीय प्रदेश में लेखन के प्रति दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक था और यूरोपीय शिक्षा के प्रति इसलिए आकर्षण था कि वह सांसारिक सफलता दिलाने वाली है। जो भी दैवी आस्था दिखाई दी, वह अल्पकालिक थी और उसे भी व्यावहारिकता की कसौटी पर कसा गया।

मेगिट के अनुसार दृष्टिकोण का यह अन्तर दोनों समूहों के धार्मिक विश्वासों का भी अन्तर है। इसके बाद वह यूरोपियनों के सम्पर्क से पूर्व और उसके बाद की स्थिति की तुलना करता है। शायद यह ध्यान देना संगत होगा कि इन तटवर्ती क्षेत्रों का यूरोपीयों से तब सम्पर्क हुआ जब उपनिवेशवाद का सबसे कष्टप्रद काल था और

यूरोपीय उपनिवेशवादी बड़ी कठोरता का प्रदर्शन कर रहे थे। इस परिस्थिति में आनुष्ठानिक स्वरूप पर जोर दिया जाना दमन के शिकार लोगों की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। लेकिन पार्वत्य क्षेत्रों पर अधिकार काफी बाद में किया गया और तब तक उपनिवेशवादियों के दृष्टिकोण में काफी नरमी आ चुकी थी। उन्हें तब आर्थिक शोषण की बजाय आर्थिक विकास की चिन्ता थी और स्थानीय लोगों की प्रगति के प्रभावशाली द्वार खुल चुके थे। उपनिवेशवादियों के दृष्टिकोण में इस परिवर्तन का स्थानीय निवासियों पर किस हद तक प्रभाव पड़ा ?

यह दृष्टव्य है कि धन-मानद उपासना-समुदाय नए संचार साधनों के नमूनों को अपनाने में झिझकते नहीं। जब यह देखा जाता है कि वायरलेस टेलीग्राफी यूरोपीय प्रशासन की कुंजी है तो नकली ट्रांसमीटर लगाए जाते हैं। जब हवाई पटरियाँ यूरोपीय परिवहन का अविच्छिन्न अंग बन जाती हैं तो उन्हें भी समुदाय की उपासना का अंग बना दिया जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। मनुष्य के जीवन के बड़े हिस्से का सम्बन्ध पारस्परिक आलाप से है। धार्मिक-तन्त्र-मन्त्रात्मक क्रियाओं के अधिकांश का सम्बन्ध मनुष्य और ईश्वर के बीच संचार से है।

न्यू गिनी में साक्षरता से सम्बद्ध दो और बातें उल्लेखनीय हैं। वहां लेखन का उपयोग, वहाँ के अन्य नए आन्दोलनों की तरह, धार्मिक-आनुष्ठानिक भी है और व्यावहारिक भी। अगर कभी कोई पुस्तक वांछित धन-मान नहीं उपलब्ध कराती तो दोष पुस्तक की अपूर्णता का माना जाता है और समझा जाता है कि पुस्तक के गोरे स्वामी ने उसके कुछ पृष्ठों को फाड़ कर कहीं छिपा दिया है जिससे गुप्त ज्ञान उसी तक सीमित रहे। ठीक इससे उल्टी बात पश्चिमी अफ्रीका में पाई जाती है, जहाँ प्रायः अदालतें गवाह से कहती हैं वे बाइबिल, कुरान या किसी स्थानीय पूजास्थल की शपथ ले कर गवाही दें। साक्षर अदालतों में साक्षर विकल्पों की शपथ का जोर होता है और मैंने शिक्षित गैर इसाइयों को अक्सर बाइबिल की शपथ लेते हुए देखा है। अनेक लोगों के लिए बाइबिल जादुई शक्ति से पूर्ण होती है और प्रतिष्ठा का स्रोत है और यह माना जाता है कि अगर बाइबिल अपूर्ण

हो तो वह शक्ति भी उसी अनुपात में क्षीण हो जाती है।

एक अन्य बात, जो ध्यान देने योग्य है, यह है कि जिन समाजों का आधुनिकीकरण हो रहा है वहाँ साक्षरता सम्बन्धी विविधताएँ बहुत अधिक संख्या में पाई जाती हैं। मैंने ऐसे कुशाग्र किन्तु असाक्षर लोगों को देखा है जिन्होंने न्यूनतम अक्षर-बोध प्राप्त किया ताकि वे अपने कार्य से सम्बद्ध लेखा-जोखा रख सकें। अगर कोई लान्स-कार्पोरल अपनी शाखा के नामों की सूची रख सकता है तो उसकी योग्यता में चार चाँद लग जाते हैं। सीमित अंक ज्ञान रख कर कोई व्यापारी अपनी आय-व्यय का अधिक अच्छा हिसाब रख सकता है। उस रसोइये को अधिक कुशल माना जाता है जो दुकानदारी से सम्बद्ध सूची रख सके। इस प्रकार की विशेष साक्षरता भले ही बहुत सीमित हो लेकिन रोजमर्रा के काम में उसकी बहुत उपयोगिता होती है।

न्यूगिनी और मैलेनीशिया में साक्षरता का उपयोग

एम० मेगिट

इस निबन्ध में मैं संक्षेप में उन सहस्राब्दिक आन्दोलनों या 'धन-मानद उपासनाओं' (कार्गो कल्ट्स) के बारे में बताना चाहता हूँ जो पिछले पचास वर्षों में मैलेनीशिया में पनपते रहे। इस सन्दर्भ में हम विचार करेंगे कि किस प्रकार इन सम्प्रदायों के अनुयायी लेखन को एक प्रकार का अनुष्ठान मानते थे या कम से कम उसके प्रति आनुष्ठानिक दृष्टिकोण रखते थे।

मैं यह दावा नहीं करना चाहता कि मैंने जो बातें पायीं वे पहले किसी के ध्यान में नहीं आई थीं। कुछ मानव-विज्ञान वेत्ताओं ने विशिष्ट उपासना-पद्धतियों के अध्ययन के बाद इस प्रवृत्ति पर पहले भी विचार व्यक्त किए हैं। मैं तो केवल यह बताना चाहता हूँ कि इस प्रकार की उपासनाओं के विकास के क्रम में लेखन के प्रति आनुष्ठानिक दृष्टिकोण का क्या योगदान रहा और इस विषय में तटवर्ती निवासियों और भीतरी भागों के पार्वत्य प्रदेश के निवासियों में क्या अन्तर रहा। मैं व्यापारिक सम्प्रदायों से सम्बद्ध प्रचुर साहित्य पर विचार नहीं करूँगा; मैं तो केवल उन विशिष्ट ब्यौरों की चर्चा करूँगा जो मेरी धारणाओं की पुष्टि के लिए उपयुक्त हैं।

२

मानव विज्ञान वेत्ताओं और मिशनरियों ने मैलेनीशिया के, वहाँ यूरोपीयों के पहुँचने से पूर्व के धर्मों के विभिन्न पक्षों का वर्णन प्रस्तुत किया है और उनकी जो भी दिलचस्पी रही हो, वे इन धर्मों की कुछ

अपनी विशेषताओं के बारे में काफी हद तक एक राय रखते हैं। उन्होंने इन धर्मों के अन्तर्गत आस्थाओं और धारणाओं की सापेक्ष सरलता की ओर ध्यान दिया है। इन धर्मों को मानने वालों ने इनकी मूलभूत धारणाओं का इस ढंग से संयोजन-पुनर्संयोजन किया है जिससे वे उनके अनिवार्यतः लौकिक अस्तित्व के व्यावहारिक उद्देश्यों को परिभाषित कर सकें। वहां के मूल निवासियों का मुख्य जोर सीमित संख्या वाले विचारों और आनुष्ठानिक पद्धतियों के ऐसे व्यावहारिक समायोजन पर था जिससे उन्हें सामाजिक-आर्थिक लाभ मिल सके। इस भौतिक वातावरण में गहरी आध्यात्मिकता के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए इन धर्मों के अनुयायी पारलौकिक सत्ता की चिन्ता या मरणोत्तर मुक्ति अथवा निर्वाण की चाह नहीं करते थे। वस्तुतः उनके लिए धर्म एक वैकल्पिक टैक्नोलाजी के समान था जिसका लक्ष्य प्रस्तुत और मानवकेन्द्रित विश्व की चिन्ता करना हो जिसके अन्तर्गत उसका अपना 'नैसर्गिक' परिवेश भी आता हो और समान तात्कालिक 'अनैसर्गिक' परिवेश भी।

इस प्रकार ठोस रूप में सृष्टि सम्बन्धी स्थानीय धारणा के अंतर्गत भौतिक दृष्य जगत, उसके निवासी, मृतकों की आत्मायें और देवताओं तथा सांस्कृतिक नायक जैसे सृजनात्मक तत्व आते थे। सामान्यतः यह माना जाता था कि सांस्कृतिक नायकों द्वारा ही विश्व को स्वरूप प्रदान किया गया है और उसमें मनुष्य की स्थापना की गई है और साथ ही उसे विभिन्न संस्कृतियाँ प्रदान की गई हैं यथा बाग़बानी, शिकार, मछली मारने, पशु पालन, मकान बनाने और औजार तैयार करने, व्यापार करने तथा समारोहों के आयोजन की कलाएँ। मिथकों में बताया गया है कि किस प्रकार सृष्टि कर्ताओं ने स्वप्न और कल्पना द्वारा मनुष्यों को ऐसी बुनियादी और रहस्यात्मक जानकारी दी; साथ ही ऐसा गुप्त ज्ञान भी दिया (यथा देवो-देवताओं, तन्त्र-मन्त्र या अनुष्ठानों के गुप्त नाम) जिसके बिना किसी व्यक्ति या समूह को प्रति दिन के सामाजिक या तकनीकी कार्यों में सफलता मिलना संभव था।

दूसरी ओर मृतात्माएँ इस प्रकार रचनात्मक नहीं मानी जाती थी बल्कि यह माना जाता था कि वे अन्य जीवित कुटुम्बियों के

दैनिक हितों की रक्षा करती हैं बशर्ते कि वे कुटुम्बी उनके प्रति अच्छा व्यवहार करें और इसके प्रमाण स्वरूप विशेष उत्सवों और समारोहों पर उन्हें खाद्यपदार्थ, बहुमूल्य वस्तुएँ, सेवायें या सार्वजनिक आदर प्रदान करें। जिन लोगों को प्रेतात्माओं की सुरक्षा अपेक्षित थी वे उसे या तो भौतिक सम्पत्ति की शत्रु से रक्षा के रूप में प्राप्त करते थे या स्वप्न में भविष्य की घटनाओं को देखने के रूप में।

इस प्रकार इन सब विश्वासों के अन्तर्गत महत्व की बात थी ऐसे आधिदैविक तत्वों से सम्पर्क की भावना, जैसे देवता और प्रेत आदि, जिससे वह रहस्यात्मक ज्ञान प्राप्त हो सके जिसकी शक्ति से सफलता या संदिग्ध स्थितियों में सुरक्षा मिल सके। लेकिन सफलता या आकस्मिकता के कारणों को स्पष्ट करने के लिए इन पारम्परिक पद्धतियों के अन्तर्गत स्वप्न, दिव्यदर्शन, प्रेतमाध्यम आदि द्वारा सम्पर्क का सहारा भी लिया जाता था और इस प्रकार इन पद्धतियों में बद्धमूल संदिग्धता की भावना का लाभ उठाया जाता था। इस प्रकार मैलेनीशिया में भी आधिदैविक तत्वों से सम्पर्क अनिवार्यतः उतना ही रहस्यमय, आनुष्ठानिक और भ्रमपूर्ण निर्वचन के योग्य होता था जितना वह डेल्फी में या क्यूमाए में था।

मैलेनीशियाई धर्मों की इन प्रवृत्तियों के कारण यह समझना बहुत आसान हो जाता है कि जब पहले पहल ईसाई मिशनरी वहाँ गए तो लोगों की क्या प्रतिक्रिया हुई। उन्होंने सर्वत्र देखा कि मिशनरियों के पास दक्षता है, शक्ति है और धन है जो परिमाण में उनसे बहुत अधिक है और अवश्य ही उन्हें इतनी प्रचुरता से धन, कुशलता आदि इसीलिए मिली होगी कि उनका वह ईश्वर अधिक शक्तिशाली होगा जिसका वे प्रचार करने आए हैं। इसके साथ ही मिशनरियों ने लोगों को आश्वासन दिया कि वे भी चर्च की प्रार्थनाओं में शामिल हो कर या धर्म-परिवर्तन स्वीकार कर के चाहें तो प्रभु-कृपा या मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

यह स्वाभाविक था कि अधिकांश स्थानीय श्रोताओं ने मिशनरियों के अनुरोध का यह अर्थ लिया कि उन्हें भी वही शक्ति और धन मिल जाएगा जो मिशनरियों को मिला हुआ है। उनसे चूँकि यह कहा गया था कि ईश्वर के साम्राज्य में सभी भाई-भाई होंगे, अतः

उन्होंने कल्पना की कि मैलेनीशिया के तटवर्ती भागों में जो मिश्रित समाज पनप रहा है उसके अन्तर्गत उन्हें भी बराबरी का दर्जा मिलेगा। अतः वे सभी मिशनों के अन्तर्गत जाने और उनकी सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। लोग अपने पुत्रों को (पुत्रियों को शायद ही कभी) मिशन स्कूलों में पढ़ना-लिखना सीखने के लिए भर्ती करने को भी तैयार रहते थे जिससे वे और भी तेजी से उन रहस्यों तक पहुँच सकें जिनके बारे में मिशनरी दावा करते थे कि वे बाइबिल तथा प्रार्थना-पुस्तकों में निहित हैं। स्थानीय लोगों का ख्याल था कि यदि वे इस प्रकार के रहस्यात्मक ज्ञान को प्राप्त कर लेंगे तो वे नए देवता को भी उसी प्रकार नियंत्रित कर सकेंगे जैसे अपने देवता को करते हैं।

इस प्रकार मिशनों से अपने सम्पर्क के आरम्भ से ही उन्होंने साक्षरता के प्रति एक विचित्र आनुष्ठानिक दृष्टिकोण अपनाया जिसे व्यावहारिक दृष्टि से समझना कठिन नहीं है। उन्होंने लेखन को भी उन अस्पष्ट पद्धतियों में से एक माना जिनके द्वारा वे आधिदैविक तत्वों से सम्पर्क स्थापित करने का यत्न किया करते थे। इस दृष्टि से लेखन की विशेषता यह थी कि वह उन्हें एक ऐसा माध्यम लगा जिसे वे एक सुनिश्चित आनुष्ठानिक तरीके से अपने वश में ला सकते थे और उसके द्वारा मिशन के देवता को अपना रहस्य उगलने के लिए बाध्य कर सकते थे। वस्तुतः कालान्तर में स्वयं लेखन ही धन और सत्ता का प्रतीक माना जाने लगा जिसके लिए वे आकांक्षी होते थे। बहुत से लोग शब्दों को केवल एक अंशी 'शब्द' का अंश, एक आसन्न सहस्राब्दि और 'धन-मान की ओर जाने वाली राह' (रोड टू कार्गो) मानते थे। 'माल-सामान' या 'कार्गो' का तात्पर्य केवल सामान न हो कर नई सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में दृश्य सत्ता और धन का समन्वित रूप माना जाता था। कुछ भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि लेखन को सीधी-सादी धर्म-निरपेक्ष पद्धति शायद ही माना जाता हो और शायद ही ऐसी चीज स्वीकार किया जाता हो जिसका बार-बार प्रयोग किया जा सके और जो विभिन्न परिस्थितियों में स्पष्ट सम्प्रेषण का माध्यम हो।

जैसा कि हमें विदित है, मैलेनीशियनों ने ईसाई मिशनों से जो

आशायें लगाई थीं वे अधिकांशतः पूरी नहीं हुईं। उन्होंने चाहे जितनी हार्दिकता से मिशन के अनुष्ठानों में भाग लिया हो, चाहे जितनी सावधानी से मिशनरियों के उपदेशों को कान दिया हो और उनके पुत्रों ने चाहे जितनी मेहनत से स्कूलों की प्राइमरें रटी हों, उनकी गरीबी दूर नहीं हुई और राजनैतिक दृष्टि से वे पिछड़े ही बने रहे। वे कितना ही चर्च जाते रहे लेकिन उनके और यूरोपीयों के बीच सामाजिक दूरी कम नहीं हुई। साथ ही, उन्होंने अनुभव किया कि वे ऐसी आदतें सीख रहे हैं जिनकी पूर्ति के लिए उन्हें कम मजदूरी पर नगरों या बागानों में काम करने पर विवश होना पड़ता है। संक्षेप में, वे जिस धन-मान को पाना या नियन्त्रण में लेना चाहते थे उसका उपाय मिशनों के द्वारा नहीं निकल सका। अतः उन्होंने सोचा कि प्रत्यक्षतः मिशन धोखेबाज हैं और वे उस फार्मूले को छिपा रहे हैं जो उनके असली ईश्वर तक पहुँचाता है। उदाहरण के लिए, कुछ स्थानीय निवासियों के अनुसार, मिशनरी पूरी बाइबिल नहीं सिखा रहे थे और वे कुछ अन्तिम पृष्ठ छिपा जाते थे जिनमें उनके देवताओं के नामों की सूची थी।

स्थिति की इस व्याख्या का नतीजा यह हुआ कि मिशनों के गिरजाघरों और स्कूलों से आम तौर पर स्थानीय लोग वापस होने लगे जिसके साथ ही कुछ क्षेत्रों में लोगों ने दावा करना शुरू किया कि उन्हें 'धन-मान की राह' का पता लगाने के लिए अधिक प्रभावशाली तरीके मालूम हैं। इन लोगों ने जो नारे दिए और जिन बातों का प्रचार किया उन में आम तौर पर यह कहा गया कि लोगों को अपने पुराने धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों की ओर लौटना चाहिए और साथ ही समन्वयात्मक रूप से ईसाई धर्म की कुछ बातों को भी ले लेना चाहिए। इन गतिविधियों के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है लेकिन यह दृष्टव्य है कि यूरोपीयों से इस पलायन के परिणामस्वरूप एक बार फिर दैवी शक्तियों से सम्पर्क स्थापित करने की परम्परागत पद्धतियों का महत्व हो गया। माल-सामान का पता-ठिकाना लगाने और उसे जनता के लिए उपलब्ध करने के उद्देश्य से प्रेत-आवाहन, स्पप्न-निरूपण, दिव्य-दर्शन आदि क्रियाओं और इसी प्रकार के अटपटे उपायों का फिर

जोर हो गया। लेकिन साथ ही दैवी घटनाओं और गतिविधियों को समझने के उपायों के अंतर्गत लेखन के आनुष्ठानिक प्रयोग को भी शामिल कर लिया गया, यथा वस्तुनिष्ठ दृष्टि से असंगत पत्रों और पुस्तकों की पूजा आदि।

मैलेनीशियाई उपासना-पद्धति के अंतर्गत 'अक्षर' के प्रति इस दृष्टिकोण की ओर अनेक मानव शास्त्रीय अध्ययनों में ध्यान दिया गया है। लेकिन इस का सब से अच्छा वर्णन शायद बरिज की पुस्तक 'माम्बू' में है जिसका एक उद्धरण वहुत संगत होगा :

> प्रति दिन के जीवन में 'तांगू' लोग यूरोपीय धन-मान की उपलब्धि का सम्बन्ध 'पास' या 'अक्षर' से जोड़ते हैं। जो लोग यूरोपीयों के अधीन सेवा करते थे उन्हें प्रायः व्यापारिक स्टोरों में किसी 'पास' या आज्ञा-पत्र के साथ भेजा जाता था और 'पास' मिलने के बाद उन्हें माल दे दिया जाता था। प्रशासनिक अधिकारी, मिशनरी, बागान मालिक और व्यापारी, जिन्हें अपने उपयोग के लिए सामान की आवश्यकता होती थी, आज्ञा-पत्र प्रेषित करते थे और वे चीजें उन्हें मिल जाती थीं। इस लेन-देन के दौरान पैसे को लेते-देते नहीं देखा जाता था। प्राप्त सामान का इस्तेमाल होता रहता और उसके चुकते ही नया सामान लिखित रुक्के के बल पर आ जाता। इस तरह सब काम में लिखित रुक्के का महत्व दिखाई देता।
>
> इस प्रकार तांगू लोगों ने लिखित शब्द का सम्बन्ध कार्यशीलता से, कष्टों से या नये घटना-क्रमों से जोड़ा। हालांकि सभी जानते थे कि जो कुछ रुक्के में लिखा होता है वह मौखिक संवाद का विकल्प है, फिर भी यह धारणा बन गयी कि लिखित का जो जादुई महत्व है वह कथित का नहीं है। 'धन-मान' का जो भी मूल रहा हो, उसे प्राप्त करने का एक उपाय 'पास' अवश्य ही है।

मैलेनीशिया के अनेक भागों में यह स्थिति आज तक चलती जा रही है, यानी लोगों की यूरोपीयों के प्रति भावना अच्छी नहीं रह गयी क्योंकि उनका विचार है कि उन्हें धोखा दिया गया है और वह धन-मान नहीं प्राप्त करने दिया गया जिसकी उन्हें आकांक्षा थी। 'धन-मानद-उपासना' के समकक्ष उपासकों का समूह यत्र-तत्र जन्म

लेता रहता है हालाँकि प्रशासक और मिशन इन को दबाने के लिए उपाय करते रहते हैं, यथा बलप्रयोग, कैद की सजा, प्रचार-आन्दोलन तथा समझाना-बुझाना आदि और देर से ही सही, आर्थिक और राजनैतिक रियायतें भी दी गई हैं। जब तक गाँवों में सृष्टि के प्रति इस प्रकार की 'सहस्राब्दिक' या स्वर्ण युग की धारणा प्रचलित है, अधिकांश जनता के लिए यूरोपीयों द्वारा प्रवर्तित शिक्षा का वस्तुनिष्ठ मूल्य नगण्य होगा और साक्षरता को जिस अर्थ में विदेशी लेते हैं उस अर्थ में नहीं लिया जा सकेगा।

लेकिन सभी उपासना पद्धतियाँ अपरिवर्तित नहीं रही हैं। कुछ स्थानों में ऐसे प्रतिभा वाले लोग भी मिलते हैं जिन्होंने लोगों को तथा उपासना-समूहों के सदस्यों की शक्ति को धर्म-निरपेक्ष आर्थिक और राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति की दिशा में प्रेरित किया है, जिससे धन और सत्ता के अभीष्ट लक्ष्य तक पहुँचा जा सके। आम तौर पर ऐसे लोग अधिकांश जनता के विचारों को बदल सकने में सफल नहीं हो पाते और वे ही कुछ लोग उनकी बात मानते हैं, जो पारम्परिक उपासना पद्धतियों द्वारा वांछित 'धन-मान' के लक्ष्य तक पहुँचने में असफलता का आभास कर चुके हैं।

महत्व की बात यह है कि उपर्युक्त परिस्थिति में एक बार फिर शिक्षा के लिये माँग पैदा हुई है हालाँकि वह सीमित ही है। यह माँग मिशन स्कूलों के लिये न हो कर प्रशासनिक क्षेत्र में कार्य के संदर्भ में उठ रही है। लेकिन इससे साक्षरता के प्रति दृष्टिकोण बदल रहा है। अब यह माना जा रहा है कि लेखन प्रतिदिन के महत्वपूर्ण निर्णयों और घटनाओं को सुरक्षित रखने का माध्यम है जिससे उक्त सूचनाओं में फेर-बदल न हो सके और उन्हें भुलाया न जा सके बल्कि यत्र-तत्र बिखरे समर्थकों तक पहुँचाया जाय या आने वाली पीढ़ियों के लिये सुरक्षित बनाया जाय। इस परिवर्तन का जिक्र श्वार्ट्ज ने 'पैलियाऊ' आन्दोलन के अपने विवरण में किया है। यह आन्दोलन ऐडमिरेल्टी द्वीप समूह के 'मानुस' लोगों में फैला। श्वार्ट्ज़ ने बताया है कि किस प्रकार पैलियाऊ आन्दोलन के प्रवर्त्तक ने अपने देशवासियों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास किया और इस उद्देश्य से कठोर परिश्रम और

द्वीप समूहों के सीमित साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के लिए कहा। साथ ही उसे उन लोगों से भिड़ना पड़ा जो यह मानते थे कि लोगों की समस्या का एकमात्र समाधान 'धन-मानद उपासना-पद्धति' द्वारा ही हो सकता है। इस उपासना-पद्धति के नेताओं के सम्बन्ध में उसका कहना था कि 'मैं जो कुछ कहता हूँ, वे उसे विकृत रूप में पेश करने लगते हैं।' यह दृष्टव्य है कि इस सम्पूर्ण प्रयास के दौरान उसने और इस आन्दोलन के समर्थकों ने साक्षरता के धर्म निरपेक्ष प्रयोग को अपना एक सब से प्रबल साधन बनाया, विशेषत: सम्प्रेषण के मूलत: अपर्याप्त और अस्पष्ट साधनों की त्रुटियाँ दिखा कर और प्रेत-आवाहन तथा स्वप्न-निरूपण की कमजोरियों का भंडाफोड़ कर के। इस प्रकार उसके दल के कुछ लोगों ने न केवल उन कानूनों को लिखित रूप दिया जिन्हें पैलियाऊ लोगों ने सामाजिक हित के लिए बनाया था बल्कि अभ्यास पुस्तकों में अपने आन्दोलन के 'इतिहास' को भी लिखा जिससे 'उनके वंशजों को पता चल सके कि आन्दोलन के दौरान उन्होंने क्या किया।' यह स्थिति उससे कहीं भिन्न है जब 'पास' को केवल इसलिए महत्व दिया जाता था कि वह धन-मान का दाता है।

मैलेनीशियाई 'धन-मानद-उपासना पद्धति' सम्बन्धी बहुत कम विवरण उतने स्पष्ट और असंदिग्ध हैं जितने बरिज, श्वार्ट्ज़ और लारेंस के हैं। फिर भी, इन विश्लेषणों के आधार पर मैं अपने तर्कों का सार नीचे दे रहा हूं जो आम तौर पर सम्पूर्ण मैलेनीशिया पर लागू होता है :

(१) यूरोपीय, वहाँ पहुँचने पर एक ऐसी स्थानीय उपासना पद्धति को पाते हैं जिसके अंतर्गत धन की उपलब्धि और दैवी शक्तियों से सम्पर्क पर जोर दिया जाता है।

(२) आरम्भ में स्थानीय लोग ईसाई धर्म को यह मान कर स्वीकार करते हैं कि उसके जरिए माल-सामान तक पहुँच हो सकती है और लेखन दैवी सम्पर्क का एक और माध्यम है।

(३) ईसाई धर्म की 'धन-मान' तक पहुँचाने की असफलता के बाद उसे अस्वीकार कर के 'धन-मानद उपासना' के किसी अंग को अंगीकार किया जाता है जिसके अन्तर्गत लेखन को भी सम्प्रेषण का

ग्रानुष्ठानिक तरीका मान लिया जाता है।

(४) उक्त उपासना की धन-मान प्रदान करने में ग्रसफलता के कारण कुछ दूरदर्शी व्यक्तियों द्वारा परिवर्तन के लिए एक राज-नैतिक और आर्थिक आन्दोलन चलाया जाता है जिसके अन्तर्गत लेखन को सम्प्रेषण के माध्यम के रूप में उसका यूरोपीय ढंग का धर्म-निरपेक्ष दर्जा मिलता है।

३

मैं समझता हूँ कि मैंने जिस पद्धति का निरूपण ऊपर किया है वह मैलेनीशिया में आम तौर पर लागू मानी जा सकती है लेकिन वह उन गैर-मैलेनीशियाई या ापुआई समाजों पर लागू नहीं होती जो आस्ट्रेलियाई न्यूगिनी के पार्वत्य प्रदेशों में रहते हैं। अतः दोनों प्रदेशों की स्थितियों में भिन्नता पर विचार करना लाभदायक होगा।

यह सही है कि पार्वत्य प्रदेश वालों की धार्मिक व्यवस्था इस अर्थ में तटवर्ती लोगों की व्यवस्था से मिलती-जुलती है कि दोनों ही व्यवस्थायें वैचारिक दृष्टि से सरल हैं और दोनों ही के अन्तर्गत भौतिक लाभ पर जोर दिया जाता है। लेकिन जब कि तटवर्ती व्यवस्था के अन्तर्गत दैवी शक्तियों को झुकाने के लिए गुप्त ज्ञान उपलब्ध करने पर जोर दिया जाता है, जिससे वे शक्तियां या देवता वांछित धन-मान प्रदान करें, पार्वत्य प्रदेशों में इस आशा से मृतात्माओं को प्रसन्न किया जाता है या उनसे सौदा किया जाता है कि वे धन-मान प्राप्त करने में सहायक बनेंगी या कम से कम बाधक नहीं होंगी। वस्तुतः अनेक पार्वत्य धर्मों के अन्तर्गत, कतिपय सांस्कृतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कठोर परिश्रम और सामान्य दक्षताओं का कोई विकल्प नहीं प्रस्तुत किया जाता। अनुष्ठान या उपासना का अधिक से अधिक इतना ही योगदान होता है कि वह मानव के कार्य-कलाप के आड़े आने वाली दैवी बाधाओं को दूर रखे और उस उपासना को मानने वाले सर्वेन्टीज के शब्दों में, कह सकते हैं: 'कठोर परिश्रम शुभ नियति का जनक है और आलस्य उसका शत्रु है जो किसी भी शुभेच्छा की पूर्ति नहीं होने देता।'

इसलिए अति सरलीकरण के आरोप को झेलते हुए भी हम तटीय

धर्मों को अर्ध-तकनीकी कह सकते हैं जिनके द्वारा किसी भी स्थिति में सफलता की आशा की जाती है जबकि पार्वत्य धर्मों को हम अर्ध-समाजशास्त्रीय कह सकते हैं जिनके भविष्य वचन हमेशा संदिग्ध होते हैं लेकिन जिनके विश्वासी के लिए उनका मूल्य इस बात में है कि वे महत्वपूर्ण सामाजिक घटनाओं की घटनोत्तर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस मोटे अन्तर से सम्बद्ध यह तथ्य भी है कि यद्यपि दोनों ही उपासना-पद्धतियों में प्रेत-आवाहन, स्वप्न-निरूपण और भविष्य-वाणी सम्बन्धी अन्य अनुष्ठान दैवी शक्तियों से सम्बन्ध बनाने के लिए समान रूप में प्रयुक्त होते हैं, इन का दोनों पद्धतियों में अलग-अलग ढंग से प्रयोग होता है। तटीय प्रदेशों में इन को अस्पष्ट और रहस्यात्मक मान कर इनका प्रयोग किया जाता है अन्यथा दैवी शक्ति के बावजूद भविष्यवाणियों के कई बार झूठी साबित होने का कोई स्पष्टीकरण देना संभव न हो। पार्वत्य प्रदेशों में इन उपायों को भ्रमजाल मानने की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि असफलता का कारण उन प्रेतों को माना जाता है जो मनुष्य की भाँति कार्य करते हैं और जब उनकी मौज होती है, वे मनुष्य को गुमराह करते हैं।

जैसी कि आशा की जा सकती है, पार्वत्य प्रदेशों के लोगों की यूरोपीय संस्कृति से सम्पर्क होने पर भिन्न प्रतिक्रिया हुई। यह सही है कि कुछ क्षेत्रों में जब पहली बार यूरोपीय माल सामान पहुँचा, या विदेशी महामारी फैली या स्थानीय लोगों की तटीय पुलिस पहुँची तो कहीं-कहीं प्रतिक्रिया स्वरूप सहस्राब्दिवादी उपासकों का उदय हुआ। प्रायः इनका जन्म मिशनों की शिक्षा से सम्पर्क होने से पूर्व ही, और यूरोपीयों के उस क्षेत्र में बसने से पहले ही हुआ। इसके अतिरिक्त इनमें से कुछ उपासकों ने मुख्य रूप से धन-मान को अपना लक्ष्य नहीं बनाया बल्कि अपने अनुयायियों को अच्छे स्वास्थ्य और रोगों से मुक्ति का वचन दिया। पार्वत्य प्रदेशों की व्यावहारिकता का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि ये उपासना समूह अधिक समय तक नहीं चल पाए। वे कुछ महीने ही चलते और जब कोई लाभ नहीं दिखाई देता तो वे मुरझा जाते। पहली या दूसरी असफलता के बाद उनके प्रवर्तक उन्हें फिर जीवित करने का प्रयास

नहीं करते थे। इसके बजाय लोग कहा करते थे, जैसे कि ऐंगा लोगों ने मुझ से कहा कि 'यह सोचना हमारी मूर्खता थी कि हम इस तरीके से सुअरों को प्राप्त कर सकेंगे। सभी जानते हैं कि सुअरों को पाने के लिए परिश्रम करना होता है।'

यह मेलेनीशिया सम्बन्धी स्थिति से नितान्त भिन्न स्थिति है। मैलेनीशिया में कुछ जिलों में ५० वर्ष या उससे भी अधिक समय तक यूरोपीयों के विरोध के बावजूद 'धन-मानद उपासना' अनेक रूपों में बार-बार शुरू हुई है। वहाँ वालों का विचार यह प्रतीत होता है कि अगर उपासना के नेताओं द्वारा निर्दिष्ट घटनाएं नहीं घटतीं तो दोष उपासना का न होकर उपासकों का है जो किसी न किसी रूप में नैतिक शक्ति से हीन होंगे। दूसरे शब्दों में उपासना को किसी व्यावहारिक कसौटी पर कसने का कोई प्रावधान नहीं होता और इसीलिए तटीय उपासना-पद्धतियाँ समाप्त नहीं होतीं, उनका केवल रूप-परिवर्तन होता है।

इसलिए यह आश्चर्यजनक नहीं कि हमने तटीय भागों में लेखन के जिस अनुष्ठानीकरण को देखा वह पार्वत्य प्रदेशों में न तो सहस्राब्दिक उपासना के अंग के रूप में पाया जाता है, न प्रशासन या मिशनों के शिक्षा-प्रयासों की प्रतिक्रिया के रूप में। इसकी जगह, लोगों ने साक्षरता का आम तौर पर एक अन्य ऐसे उपकरण के रूप में सोत्साह स्वागत किया है जो उनके कठोर परिश्रम का एक भाग बनेगा और उन्हें जीवन में आगे बढ़ाने वाला सिद्ध होगा। इस प्रकार १९५७ में पश्चिमी पहाड़ियों के बवागा क्षेत्र में जब प्रशासनिक अधिकारियों ने एलान किया कि अगले वर्ष तक नये स्कूल खोले जायेंगे तो ऐंगा लोग मीलों से चलकर अपने बच्चों का नाम भर्ती के लिए दर्ज कराने विभिन्न केन्द्रों में पहुँचे। जहाँ तक मुझे मालूम है, उनमें से कोई भी यह विश्वास ले कर नहीं आया कि इससे उसके पुत्रों को कोई 'रहस्य' ज्ञात होगा जिसके कारण वह दैवी शक्तियों पर नियन्त्रण करके धन प्राप्त कर सकेगा। इसके विपरीत इन लोगों ने, उनमें कुछ ठेठ देहाती थे, साक्षरता को केवल यूरोपीयों के यहाँ नौकरी पाने का साधन समझा जिससे यथेष्ठ परिश्रम का प्रदर्शन करके उनके बच्चे अपेक्षाकृत धनी और क्षमतावान बन सकें।

इस घटना से पूर्व ही जब ऐंगा लोगों की पहुँच कुछ अपर्याप्त मिशन स्कूलों तक ही थी तो भी बालकों को (बालिकाओं को शायद ही कभी) प्रेरित किया जाता था कि वे अपने अंग्रेजी के अल्पज्ञान को बड़ों के लिये काम में लायें। इस प्रकार जब माल के बड़े पैमाने पर विनिमय का कार्य होता था तो वे परम्परागत ढंग से छड़ियों के सहारे गिनती करने की बजाय अपने लड़कों पर निर्भर करते थे कि वे सुअरों या सुअर के मांस के लेन-देन को मिशन स्टोरों से खरीदी गई अभ्यास पुस्तिका में दर्ज कर लें। १९५६ के बाद अनेक युवक यहाँ से तटवर्ती प्रदेशों में जा कर यूरोपीयों के यहाँ काम पर लगे हैं या सेना और पुलिस में भर्ती हुए हैं। ऐसे युवक जो पत्रादि बड़ों को भेजते हैं, उनको पढ़ना इन स्कूली बालकों की जिम्मेवारी है और वे ही उत्तर भेजते हैं। उदाहरण के लिए १९६० में एक ऐसे कबीले के एक समूह द्वारा छै सप्ताह की अवधि के लिए पत्रों के आदान-प्रदान का जो रेकार्ड रखा गया था, उसका विवरण इस प्रकार है :

	विवाहित व्यक्ति			अविवाहित व्यक्ति			
	पार्वत्य गश्ती केन्द्रों पर		तटवर्ती प्रदेशों में सेना में	तटवर्ती भागों में श्रमिक कार्य पर		पार्वत्य प्रदेशों के स्कूलों में	योग
	क	ख	ग	घ	च	छ	
पत्नी							
प्राप्त पत्र	२	...	२	...	...	...	४
प्रेषित पत्र	...	...	१	...	...	...	१
पिता							
प्राप्त पत्र	१	...	१	...	१	१	४
प्रेषित पत्र	...	...	१	...	१	१	३
भाई							
प्राप्त पत्र	१	१	...	१	...	...	३
प्रेषित पत्र	...	१	...	१	...	...	२
योग							
प्राप्त पत्र	४	१	३	१	१	१	११
प्रेषित पत्र	...	१	२	१	१	१	६

मैंने इन में से कई पत्रों को पढ़ा है और पाया है कि वे विषय, शैली और भावाभिव्यक्ति में ऐंगाओं की अनेक विशेषताओं से युक्त हैं। वे सूचना-सम्प्रेषण के गद्यात्मक और प्रभावी संवाहक हैं जिनमें जिज्ञासाएँ व्यक्त की गई हैं, तथ्यों का उल्लेख है और परामर्श दिए गए हैं। उदाहरण के लिए यह पत्र देखा जा सकता है :

"प्रिय भाई ताल,

मैं अब आप से बात करने वाला हूँ। इससे पहले क्रिसमस पर मैंने उस मुर्गी की बात की थी। मैंने कहा था कि मैं नहीं जानता कि सॉरी कब आऊँगा लेकिन अगर आया तो हम दोनों बात कर सकते हैं। लेकिन अगर मैं सॉरी नहीं आऊँ तो मैं पत्र भेज सकता हूँ। तब मैंने उस मुर्गी को (रखने के) बारे में ज़रूर कहा था। लेकिन तुमने कहा था कि तुम नहीं राज़ी हो। मुझे (इससे) गुस्सा हुआ है। मैं समझ-बूझ कर बोला था। लेकिन तुमने सिर्फ कहा कि तुम नहीं राजी हो और तुमने उसे (मुर्गी को) बेच दिया। अब बताओ कि क्यों ऐसा किया? बस इतना ही। मेरा नाम पिराई है। मैं माम्बिसांदा में रहता हूँ।"

इस प्रकार इस प्रदेश में शब्द पर उसके आनुष्ठानिक रूप में कोई निर्भरता नहीं होती, उसे रहस्यात्मक नहीं समझा जाता। लेखन का यहाँ लौकिक अर्थों में प्रयोग होता है और उसको देश और काल की सीमाओं को पार कर सम्प्रेषित किया जाता है ताकि वह प्रेषक के आशय को प्राप्तकर्ता तक स्पष्ट रूप में पहुँचा सके। यह न्यू गिनी के पार्वत्य निवासियों की व्यवहार-बुद्धि का ही परिचायक है जो उन्हें तटवर्ती निवासियों से पृथक करती है।

४

अन्त में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि एक समूह में विश्व के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण और दूसरे में उसके अभाव से ही उनके साक्षरता के उपयोग के प्रति दृष्टिकोण के अन्तर को नहीं समझा जा सकता। लेकिन दुर्भाग्य से इन प्रदेशों के समाजों के विषय में हमारा ज्ञान अभी भी अपर्याप्त है और हम भली भाँति नहीं जानते

कि यूरोपीयों के प्रथम बार सम्पर्क में आने तक उनकी सामाजिक स्थिति क्या थी। अतएव बाद की घटनाओं से होने वाले परिवर्तनों का तुलनात्मक मूल्यांकन संभव नहीं है।

औद्योगीकरण-पूर्व के इंग्लैंड में साक्षरता की माप

डा० शोफील्ड के निबन्ध में भी आधुनिकता की ओर बढ़ते हुए विश्व में साक्षरता की स्थिति का निरूपण किया गया है। यह विश्व, औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व का इंग्लैंड है। उनका निबन्ध इंग्लैंड के सामाजिक ढाँचे से सम्बद्ध अनुसंधान का परिणाम है। यह अनुसंधान उन्होंने लैस्लेट और रिग्ली के साथ मिल कर किया था। उनकी समस्या वह है जो इस पुस्तक में अनेक बार उठी है, अर्थात् साक्षरता की माप। कोई समाज-विशेष कितना साक्षर था (अथवा है) ? यह कहना कि कोई साक्षरता 'व्यापक' अथवा 'सीमित' है, दूसरे दर्जे का ही श्रेणीकरण है। शोफील्ड के निबन्ध में एक तुलनात्मक माप प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

परन्तु वे इंग्लैंड में साक्षरता की प्रकृति पर भी विचार व्यक्त करते हैं और हमें याद दिलाते हैं कि उसकी पद्धति कितनी निकटता से धार्मिक और नैतिक मतवाद के प्रचार से सम्बद्ध है और किस प्रकार, जैसे कि ताम्बिया ने भी कहा है, पठन और लेखन को पृथक् दक्षताएँ समझने की आवश्यकता है। कुछ अन्य औद्योगीकरण पूर्व के देशों की भाँति इंग्लैंड में भी पढ़ सकने की क्षमता को प्राथमिक स्थान दिया जाता था।

औद्योगीकरण-पूर्व के इंग्लैंड में साक्षरता की माप

आर० एस० शोफील्ड

मानव-विज्ञान की भाँति इतिहास में भी व्यक्तियों, समूहों और संस्कृतियों को एक दूसरे से भिन्न दिखाने वाली एक विशेषता साक्षरता है। मानव विज्ञान साक्षर और असाक्षर अथवा मौखिक समाजों के ढाँचे में जो बौद्धिक अन्तर दिखाता है वह इंग्लैंड के इतिहासकार के लिए बहुत महत्वपूर्ण होता है।

"मौखिक समाजों में सांस्कृतिक परम्परा का सम्प्रेषण प्राय: पूर्णत: आमने-सामने के वार्तालाप द्वारा होता है। उसकी विषय-वस्तु में परिवर्तन मानव की उस सहज प्रवृत्ति का परिणाम है जो परम्परा के उन अंशों को बदलती रहती है या नए रूप देती रहती है जो आवश्यक या संगत नहीं रह जाते। दूसरी ओर साक्षर समाजों में अतीत को इस प्रकार से त्यक्त, ग्रहीत या सम्प्रेषित नहीं किया जा सकता। उन समाजों के सदस्यों को अतीत और उसके विश्वासों के स्थाई रूप में लिखित रूपों का सामना करना पड़ता है। और चूँकि इस प्रकार अतीत वर्तमान से पृथक निर्धारित रहता है, इसलिए ऐतिहासिक खोजबीन संभव हो सकती है। इससे संदेहवाद का जन्म होता है—न केवल पौराणिक अतीत के प्रति सन्देह का बल्कि विश्वजनीन समग्र उपलब्ध विचारों के प्रति भी।" (गूडी और वाट)

किसी इतिहासकार के लिए यह मान लेना शायद बहुत सरल है कि मध्ययुग के बाद से इंग्लैंड एक साक्षर समाज रहा है। इस खोज की शायद उसे आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती कि क्या वहाँ कोई मौखिक संस्कृति भी रही है जिसका अधिकांश में इतिहास को कोई ज्ञान न हो क्योंकि इतिहास लिखित रेकार्ड से नि:स्रत होता है और

लिखित रेकार्ड साक्षर व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं। परन्तु यदि ऐसा वास्तव में है तो कई दिलचस्प ऐतिहासिक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यदि इतिहास की अनेक लिखित घटनाओं का, यथा राजनीतिक, धार्मिक और साहित्यिक गतिविधियों का, जिनमें सम्प्रेषण का सामान्य माध्यम साक्षर रहा हो, अनुभव कुछ लोगों द्वारा ही परोक्ष ढंग से कुछ अन्य लोगों के माध्यम से किया गया हो, तो अनेक प्रकार के इतिहासकारों के लिए यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है कि किस अनुपात में ऐसे लोग थे जिन्होंने परोक्ष अनुभव किया और कितने ऐसे थे जो वह अनुभव कराने के लिए माध्यम बने। इसके साथ ही किसी समाज में बड़े समूहों का सम्प्रेषण की मौखिक स्थिति से लिखित स्थिति में पदार्पण अनेक प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययनों के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है।

साहित्य के इतिहासकारों के लिए शायद साक्षर दक्षता के प्रसार का सबसे अधिक महत्व है क्योंकि उनके कार्य के लिए पाठक वर्ग की प्रकृति और आकार—दोनों ही बहुत संगत हैं। परन्तु राजनीति के इतिहासकारों के लिए साक्षरता का महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि वे साक्षरता को किस हद तक राजनैतिक जागरण के लिए वांछनीय मानते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि पढ़ने की योग्यता द्वारा ही बहुसंख्यक निरक्षर लोगों में उन मूल्यों और आकांक्षाओं की चेतना जाग्रत हो सकती है जो अल्पसंख्यक साक्षरों के मूल्य और आकांक्षायें है और इस प्रकार बहुसंख्यकों को अहसास हो सकता है कि उन्हें उनके अधिकारों से वंचित रखा जा रहा है, वे अवश्य ही साक्षर दक्षता के सामाजिक वितरण में परिवर्तनों पर विचार करना चाहेंगे। धार्मिक इतिहास के अन्तर्गत भी धार्मिक विचारों के सम्प्रेषण का अध्ययन करने वालों के लिए साक्षरता का अध्ययन संगत प्रतीत होता है। किसी असाक्षर समाज में धर्माधिकारियों की प्रकृति द्वारा धार्मिक विचारों की गुणवत्ता और प्रसार का निर्धारण होता है जबकि साक्षर समाज में, जिसमें पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से धार्मिक विचारों तक लोगों को सीधी पहुँच भी होती है, यह निर्धारण उतना सरल नहीं होता। तब प्रश्न यह उठता है कि धार्मिक विचारों के प्रसार के लिए कौन अधिक महत्वपूर्ण है—धर्म-प्रचारक या

धार्मिक पुस्तकें ? उदाहरण के लिए, क्या अठारवीं शताब्दी में जनता की न्यू टेस्टामेंट तक सीधी पहुँच भी थी, और यदि थी तो क्या उसने उस पवित्र पुस्तक से कोई क्रान्तिकारी सामाजिक और धार्मिक विचार ग्रहण किए ? जहाँ तक आर्थिक इतिहास का प्रश्न है, साक्षरता की संगति अवश्य ही प्रतीत होती है हालांकि इसके बारे में विचार बहुत कम किया गया है। आज आर्थिक विकास के लिए साक्षरता को एक आवश्यक पूर्व-शर्त माना जाता है। लेकिन इतिहासकार को पूछने का अधिकार है कि क्या इंग्लैंड में १८वीं शताब्दी के अन्त में भी ऐसी ही स्थिति थी ? यद्यपि अनेक प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययनों के लिए साक्षरता संगत प्रतीत होती है तथापि ऐतिहासिक विवेचनों में उसे प्रायः कोई स्थान नहीं दिया जाता और जब दिया भी जाता है तो उसके सम्बन्ध में अस्पष्ट धारणायें बनाई जाती हैं। यह अस्पष्टता प्रायः इतिहासकारों पर ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा थोपी जाती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से स्थिति इसलिए भी जटिल बन गई है कि यद्यपि इंग्लैंड लम्बे समय से न तो पूर्णतः साक्षर रहा है और न पूर्णतः असाक्षर, कम से कम सोलहवीं शताब्दी से साक्षरता केवल उस समूह तक सीमित नहीं रह गई थी जो विदेशी भाषा जानता हो जैसा कि आज अनेक विकासशील देशों में है, और देशी साहित्य के अस्तित्व के कारण समस्त निवासियों के लिए यह संभव था कि वे यदि पढ़ाई की कीमत अदा कर सकने की स्थिति में हों तो साक्षर संस्कृति के सदस्य हो सकते थे। ऐसी स्थिति में आवश्यकता इतनी ही होती है कि सामान्यतः असाक्षर समूह के एक या दो सदस्य पढ़ सकते हों। वे अपने मित्रों या पड़ोसियों को पढ़ कर सुना सकते हैं और इस प्रकार किसी समाज के पूर्णतः साक्षर क्षौर असाक्षर वर्गों के बीच सेतु-निर्माण कर सकते हैं। इस प्रकार के सेतु-निर्माण का ऐतिहासिक प्रमाण किंवदंतियों के रूप में ही मिलता है इसलिए यह कहना कठिन है कि इस प्रकार की स्थिति कब-कब पाई जाती थी। वर्तमान समय में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि यह स्थिति तब पाई गई जब किसी विषय में जनता की दिलचस्पी बहुत गहरी थी। उदाहरणार्थ 'सुधार' आन्दोलन के युग में, जबकि बाइबिल पहली बार देशी भाषा में उपलब्ध हुई, एक प्रत्यक्षदर्शी ने लिखा—

"तुरन्त ही चेम्सफोर्ड नगर में अनेक निर्धन व्यक्तियों ने भी बाइबिल खरीदी और प्रत्येक रविवार को वे गिरजाघर के पिछले हिस्से में बैठ कर उसे पढ़ने लगे और बड़ी संख्या में जनता उसे सुनने के लिए जुटने लगी।" वस्तुत: सार्वभौम साक्षरता की बजाय इसी प्रकार की साक्षरता के सेतु-निर्माणात्मक प्रभाव से आशंकित हो कर हेनरी अष्टम और उसके मन्त्रियों ने आदेश जारी किया था कि बाइबिल केवल उच्च सामाजिक वर्ग वाले ही पढ़ सकते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं जब कि आम लोगों की रुचि धर्मशास्त्र की बजाय समाचारों और राजनीति में अधिक थी। श्रमिक प्राय: अपने हिस्से के अलावा भी काम सँभाल लेते थे, जिससे वे अपने एक साथी को पढ़ कर सुनाने के लिए मुक्त कर दें। सार्वजनिक संस्थानों में समाचार पढ़ कर सुनाने के लिए वेतनभोगी व्यक्तियों को रखा जाता था। इसी प्रकार घरों में भी साक्षरों और असाक्षरों के बीच की दीवार टूट जाती थी।

दूसरी ओर आबादी के ऐसे समूह भी थे, जैसे देश के कुछ भागों में खेतिहर मजदूर, जो साक्षर संस्कृति से पूर्णत: कटे हुए थे। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि असाक्षरों के वर्ग में से बहुत बड़े समूह का सम्पर्क कुछ क्षेत्रों में साक्षर संस्कृति से बना रहता था। लेकिन चूँकि इस सम्पर्क की सीमा निश्चित रूप से ज्ञात नहीं थी, इसलिए इतिहासकारों ने समाज के साक्षर और असाक्षर वर्गों के बीच भिन्नताओं को स्पष्ट करने से हिचक दिखाई है और सामान्य सांस्कृतिक संदर्भ में साक्षरता पर विचार व्यक्त करते हुए ठीक ही सतर्कतापूर्ण निष्कर्ष व्यक्त किए हैं।

दुर्भाग्य से इतिहासकारों ने साक्षरता के आशय को ठीक से व्यक्त न कर के अपने लिए और अधिक समस्यायें तथा कठिनाइयाँ पैदा कर ली हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी ऐतिहासिक संदर्भ में साक्षरता के समुचित स्तर का अपर्याप्त निर्देश किया गया है। यह आश्चर्यजनक नहीं है क्योंकि यह कहना प्राय: आसान नहीं होता कि स्तर क्या होना चाहिए। उदाहरणार्थ प्रश्न उठता है कि राजनीति के इतिहास में साक्षरता के योगदान पर विचार करते हुए क्या लेखन-क्षमता पर विचार करना संगत हैं? या, क्या पढ़ सकने

की क्षमता ही यथेष्ट है ? और यदि है, तो किस स्तर तक ? क्या इतना ही काफी है कि कोई पर्ची पढ़ी जा सके, या लाक के सिद्धान्तों को पढ़ सकना भी आवश्यक है ? आर्थिक इतिहास के क्षेत्र में कठिनाइयाँ और भी अधिक हैं। उदाहरण के लिए अगर साक्षरता और औद्योगीकरण के बीच सम्बन्ध का मूल्यांकन किया जाना है तो एक ओर तो यह देखना होगा कि कृषि और नए-नए उद्योगों के लिए आवश्यक नई तकनीकों के वास्ते साक्षरता के किस स्तर की अपेक्षा है, दूसरी ओर उपभोग के पारम्परिक तरीकों के स्थानान्तरण तथा बड़े पैमाने पर बाजारों द्वारा मांग पैदा करने की ज़रूरत होगी। कम से कम इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति के संदर्भ में कहा जा सकता है कि वांछित साक्षरता स्तर, अर्थ-व्यवस्था के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग था। इस प्रकार साक्षरता की परिभाषा अलग-अलग संदर्भों में बदलती रहती है और यह इतिहासकार का दायित्व है कि वह अपनी समझ के अनुसार साक्षरता के स्तरों का निर्धारण करे।

इतिहास में साक्षरता की धारणा के अस्पष्ट प्रयोग का एक और परिणाम यह हुआ है कि साक्षरता की व्यापकता के बारे में अनु-संधान एक विस्तृत और प्रायः अपरिभाषित, क्षेत्र में हुआ है। इस प्रवृत्ति को सबसे अधिक उन अध्ययनों के मामले में देखा गया है जिनमें संस्मरणात्मक ढंग की साक्षरता को लिया गया है। ऐसे अध्ययनों में, कितने लोग पढ़ने की क्षमता रखने हैं इसका निर्णय किसी सम-सामयिक टिप्पणी के आधार पर किया जाता है और यह नहीं परखा जाता कि उक्त टिप्पणी कहाँ तक प्रतिनिधित्वपूर्ण है, अर्थात् सम्बद्ध साक्षर पुरुष हैं या स्त्रियाँ, उनकी हैसियत क्या है और वे कहाँ रहते हैं, या उनकी पढ़ सकने की क्षमता किस स्तर की है। दुर्भाग्य की बात यह है कि विभिन्न समुदायों को विभिन्न प्रकार की दक्षता के स्तर के सम्बन्ध में सम-सामयिक प्रमाण उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही उपलब्ध हैं जबकि एक अयथेष्ट शैक्षिक व्यवस्था के हानिकर प्रभावों को देखते हुए अनेक शैक्षिक और नैतिक सर्वेक्षण किए गए।

साक्षरता की पारम्परिक अनिश्चित धारणा का एक और परिणाम,

जो मुख्यतः साहित्य के इतिहासकारों और संदर्भ-सूचीकारों में पाया जाता है, यह प्रवृत्ति है कि किसी नए प्रकाशन या वर्तमान प्रकाशनों की संख्या में वृद्धि को साक्षरता के स्तर में वृद्धि मान लिया जाय। उदाहरण के लिए १८वीं शताब्दी के प्रान्तीय अखबारों के इतिहासकार ने लिखा है कि सन् १७०० और १७६० के बीच प्रान्तीय समाचारपत्रों की वृद्धि से 'उस काल की एक बड़ी विशेषता अर्थात् साक्षरता में वृद्धि सामने आयी।' दुर्भाग्य से दो कारणों से यह मानना ठीक नहीं कि साहित्यिक प्रकाशनों की प्रकृति या परिमाण में वृद्धि तथा साक्षरता के स्तर में वृद्धि अवश्य ही परस्पर सम्बद्ध हैं। पहला कारण तो यह है कि प्रकाशनों की संख्या और पाठकों की संख्या में सम्बन्ध हो ही, यह आवश्यक नहीं क्योंकि यह नही माना जा सकता कि किसी निश्चित समय में या दो प्रकाशनों के बीच की अवधि में प्रति पुस्तक पाठकों की संख्या स्थिर रहेगी। दूसरा कारण यह है कि प्रकाशनों की संख्या में वृद्धि, साक्षरता में वृद्धि के अलावा अन्य कारणों से भी हो सकती है यथा तकनीकी आविष्कारों के कारण, जैसे पन्द्रहवीं शताब्दी में छापाखाने के आविष्कार की वजह से और उन्नीसवीं शताब्दी में भाप से चलने वाले छापाखानों की वजह से, या कानूनी स्थिति में परिवर्तन हो जाने से जैसे सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मुद्रकों और प्रकाशकों तथा संस्करणों के आकार सम्बन्धी प्रतिबन्धों की समाप्ति के कारण, और राजकोषीय नीति में परिवर्तनों की वजह से, जैसे अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में स्टाम्प शुल्क में अनेक परिवर्तन होने से।

इंगलिश इतिहास में साक्षरता के प्रति तीसरा सामान्य दृष्टिकोण उन सुविधाओं का अध्ययन है जो साहित्यिक विधाओं को सिखाने के लिए उपलब्ध हैं। यद्यपि ऐसे अध्ययनों से यह तो पता नहीं चल पाता कि वास्तव में किस दर्जे की साहित्यिक उपलब्धि हुई है, वह साक्षरता के किसी भी अध्ययन के लिए आवश्यक है क्योंकि संभवतः शैक्षिक प्रणाली द्वारा ही यह पता चलता है कि कितनी साहित्यिक दक्षता उपलब्ध हो सकती हैं और इसका महत्व साक्षरता के ऐसे स्तर की खोज के लिए है जो अपनाया जा सके। दूसरी ओर

यह संभव है कि आरम्भिक अक्षरबोध के लिए अनौपचारिक शिक्षा चाहे वह माता-पिताओं द्वारा दी जा रही हो या पादरियों और मित्रों द्वारा, उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी औपचारिक शिक्षा। वर्तमान समय में उसके मूल्यांकन की कोई सम्भवाना नहीं है लेकिन वह एक वास्तविकता है और शिक्षा के औपचारिक रूप पर विचार करते हुए उसे बराबर दृष्टिपथ पर रखना होगा।

कम से कम मध्य युग के उत्तरार्ध में सार्वजनिक शिक्षा ग्रामर स्कूलों द्वारा ही दी जाती थी जो विद्यार्थियों को यथेष्ट व्याकरण के साथ-साथ लैटिन पढ़ना और लिखना भी सिखाते थे और इस प्रकार उन्हें विश्वविद्यालयों में प्रवेश के लिए तैयार करते थे। यह व्यावसायिक पद्धति थी जिसका उद्देश्य पादरियों को तैयार करना था, हालांकि नौकरशाही के सदस्य भी इसी प्रकार तैयार होते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी तक इस शिक्षा को पाने वालों में ऐसे अभिजात वर्ग के लोगों की भरमार हो गई जो पादरी बनने को उत्सुक नहीं थे लेकिन जो लैटिन में इतनी यथेष्ट योग्यता प्राप्त कर लेते थे कि वे विश्वविद्यालयों में जाने की बजाय बैरिस्टरी की पढ़ाई के लिए जा सकें जिसके अन्तर्गत वे उस सामान्य विधि का ज्ञान प्राप्त कर लेते थे जो उन्हें सार्वजनिक सेवा के साथ-साथ निजी लाभ के लिए भी योग्य बनाता था। इसके बाद अन्य वर्गों के लोगों ने भी शिक्षा की धर्माभिमुखी पद्धति से लाभ उठाया लेकिन उन्होंने अपनी आवश्यकता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने के बाद बीच ही में स्कूल छोड़ दिए। कभी-कभी इस प्रकार की शिक्षा न्यूनतम ही हुआ करती थी और सोलहवीं शताब्दी में अनेक ऐसे छोटे-छोटे स्कूल खुल गए जो पढ़ना सीखे हुए लोगों को लिखना भी सिखाते थे। १६वीं शताब्दी के अन्त तक पढ़ाई लैटिन पाठ्य पुस्तकों की बजाय अंग्रेजी पुस्तकों की सहायता से सिखाई जाने लगी लेकिन उच्चतर शिक्षा तब भी क्लासिकी भाषा की पढ़ाई के साथ सम्बद्ध थी।

क्लासिकी शिक्षा वाली यह पब्लिक ग्रामर स्कूल पद्धति १९वीं शताब्दी तक चलती रही। १७वीं शताब्दी से ग्रामर स्कूलों के पूरक के रूप में अनेक प्राइवेट स्कूल खुल गए थे जो अधिक व्यापक विषयों को पढ़ाते थे। लेकिन ये स्कूल महँगे पड़ते थे और इन में अमीर

घरों के बच्चे ही पढ़ने जाते थे। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक गरीब लोगों के लिये शिक्षा की सुविधाओं के अभाव के कारण यह चिंता उत्पन्न हो गई कि ईसाई धर्म-सिद्धान्तों के अन्तर्गत शिक्षा प्राप्ति सम्बन्धी अनुच्छेद न होने से सामाजिक और नैतिक परिणाम शुभ नहीं होंगे। इस के निराकरण के रूप में चन्दे से धन एकत्र कर दातव्य स्कूल खोले गए। इन स्कूलों में विशेष बल नैतिक और धार्मिक शिक्षा पर दिया जाता था। वहाँ के शिक्षकों के लिए जो आदेश पुस्तिकाएँ निकाली गईं उन में कुछ भागों को तो बहुत विस्तार दिया गया और पढ़ाई-लिखाई सिखाने की ओर कोई खास जोर नहीं दिया गया। 'छोटे' स्कूलों की तरह इनमें भी लिखाई उन लोगों को सिखाई जाती थी जो 'अच्छी तरह' पढ़ सकते थे और अंक-शिक्षा उन्हीं को दी जाती थी जो लिखाई सीख चुकते थे। सन् १७८० के बाद गरीबों को नैतिक शिक्षा देने के लिए रवि-वारीय स्कूल खोले गए। इन स्कूलों में नैतिक और धार्मिक शिक्षा पर और भी ज्यादा जोर दिया गया और केवल थोड़ी बहुत पढ़ाई सिखाने की व्यवस्था की गई। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में दो समितियों द्वारा, जो एक दूसरे की प्रतियोगी थीं, अनेक स्कूल खोले गए, जिससे शिक्षा सुविधाओं में काफी वृद्धि हुई। ये समितियाँ थीं : नेशनल समिति और ब्रिटिश एंड फारेन समिति। इन स्कूलों में भी पाठ्यक्रम आरम्भिक शिक्षा के लिए उपयुक्त था। ब्रिटिश एंड फारेन स्कूलों में जोर आरम्भिक साक्षरता और संख्यात्मक दक्षता पर था और नेशनल स्कूलों में नैतिक और धार्मिक शिक्षा पर भी कुछ बल दिया गया क्योंकि वे इस आशंका के कारण खोले गए थे कि धर्मविहीन शिक्षा के परिणाम बहुत हानिकर तथा नैतिक दृष्टि से विनाशकारी होंगे।

प्रबोधक स्कूलों में भी पहले पढ़ाई की शिक्षा दी जाती थी, फिर लिखना सिखाया जाता था और अन्त में अंकगणित की शिक्षा दी जाती थी। उन्नीसवीं शताब्दी में स्कूल, संस्थाओं से भी, जैसे कार्य-शालाओं और उद्योगों से, सम्बद्ध होते थे। यह आशा की जाती थी कि औद्योगिक स्कूलों के लिए मालिक बच्चों को मुक्त कर देंगे लेकिन मालिकों और बच्चों की भी अनिच्छा के कारण

इन स्कलों में हाजरी अनियमित रहती थी। दोनों ही प्रकार के संस्थात्मक स्कूलों में पढ़ाई सिखाने के अतिरिक्त और कोई प्रगति नहीं दिखाई देती थी।

सभी समय प्रायः ऐसे स्कूल भी पाये जाते थे जिनमें कोई महिला अपनी ही ओर से पढ़ाने का काम करती थी। लेकिन ऐसे स्कूल अधिक समय तक नहीं चल पाते थे। इनमें प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी और प्रायः, विशेष रूप से नगरों में, ये दिन के समय चलने वाले नर्सरी स्कूलों से अधिक कुछ नहीं थे।

शिक्षा सम्बन्धी इन सुविधाओं की दो मुख्य विशेषताएँ थीं। एक तो यह कि शिक्षा-पद्धति ऐसी थी कि पहले पढ़ाई सिखाने का प्रबन्ध था, फिर लिखाई, और अन्त में अंकगणित। चूँकि सभी बच्चे पूरे समय तक पढ़ने के लिए स्कूलों में नहीं हाजिर रहते थे इसलिए लिखाई की बजाय पढ़ने की क्षमता ही सब से ज्यादा विकसित हो पाती थी। उदाहरण के लिए लंदन के बरो रोड स्कूल के प्रधानाध्यापक का अनुमान था कि किसी बच्चे को पढ़ाई सिखाने में एक वर्ष लग जाता है और लिखाई तथा अंकगणित सीखने के लिए उसे तीन या चार वर्ष और लगाने पड़ते हैं। इस स्कूल में बच्चों की उपस्थिति का औसत समय तेरह महीने होता था जो अपेक्षतः अच्छी औसत मानी जाती थी। इस अवधि में बच्चा केवल पढ़ाई सीख सकता था और लिखाई से वंचित ही रहता था।

रविवारीय स्कूलों और संस्थात्मक स्कूलों को छोड़, अन्य स्कूलों की एक और सामान्य विशेषता यह थी कि बच्चों को शुल्क देना पड़ता था जो महिलाओं द्वारा संचालित स्कूलों में सबसे कम और प्राइवेट स्कूलों में सबसे अधिक होता था। ऊपरी तौर पर देखने से अनेक स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा-व्यवस्था थी, लेकिन वास्तव में निःशुल्क स्कूल बहुत कम होते थे। लंदन सांख्यिकी समिति के १८३७-३८ में किए गए एक सर्वेक्षण से मालूम होता है कि वेस्टमिंस्टर में कोई बच्चा किसी स्कूल में कितने दिन रहता था, यह उसके माता-पिता की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता था। आर्थिक परिस्थितियों के कारण अक्सर जब बच्चे को कोई काम मिल जाता था तो वह स्कूल छोड़ देता था। इसी सर्वेक्षण से यह भी

प्रकट हुआ है कि स्कूलों में प्रवेश लेने वाले कुल बच्चों में से किसी एक समय में केवल एक तिहाई बच्चे ही हाजिर रहते थे। इसी कारण दाखिले की संख्या में जहाँ-कहीं वे उपलब्ध हैं, न केवल शिक्षा सुविधाओं की बढ़ी-चढ़ी तस्वीर मिलती है बल्कि महत्वपूर्ण सामाजिक भिन्नताओं को भी छिपाया गया है।

इस प्रकार जहाँ तक औपचारिक शिक्षा के आधार पर साक्षरता के स्तर का निश्चय करने का प्रश्न है, यह संभव है कि वह स्तर विभिन्न सामाजिक और आर्थिक वर्गों में विभिन्न रहा हो और इसीलिए विभिन्न समुदायों और अंचलों में भी अलग-अलग रहा हो। इतिहासकार के लिए यह सम्भावना स्वागत योग्य है क्योंकि अधिकांश ऐतिहासिक विवेचनों में समग्र स्तर की चर्चा न हो कर समूहों के स्तर की चर्चा होती है और उनके बीच अन्तर का उल्लेख किया जाता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक इतिहासकार को यह जानने में रुचि होगी कि औद्योगीकरण के दौरान सामान्य साक्षरता में वृद्धि हुई या नहीं, लेकिन उसे यह जानने की कहीं अधिक उत्सुकता होगी कि विभिन्न व्यावसायिक समूहों में साक्षरता का स्तर क्या रहा और जो समूह औद्योगीकरण से प्रभावित हुए तथा जो नहीं प्रभावित हुए, उनमें स्तरों का क्या अन्तर रहा, क्योंकि ऐसी जानकारी उसके लिए कहीं अधिक लाभदायक होगी। इस प्रकार इतिहासकार न केवल साक्षरता की माप चाहता है बल्कि वह तुलनात्मक निष्कर्ष भी निकालना चाहता है।

अतीत में साक्षरता के प्रति पारम्परिक दृष्टिकोणों द्वारा यद्यपि समग्र शैक्षिक एवं सांस्कृतिक सन्दर्भ के बारे में सामान्य संकेत मिलता है, तथापि उनसे इतिहासकार को साक्षरता सम्बन्धी विभिन्न स्तरों की समुचित तथा यथेष्ट जानकारी नहीं मिल पाती, यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ होते-होते ऐसी जानकारी मिलने का क्रम आरम्भ हो गया था। इन दृष्टिकोणों से ऐसे प्रमाण भी नहीं मिल पाते जिनके आधार पर तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके और निष्कर्ष निकाले जा सकें। चूँकि साक्षरता सम्बन्धी जिन स्तरों को ले कर इतिहासकार अपना काम करना चाहेगा, उनकी संख्या बहुत अधिक है, और चूँकि जो जानकारी एक इति-

हासकार के लिए सन्तोषप्रद है वह दूसरे के लिए व्यर्थ हो सकती है, इसलिए भविष्य में इस आवश्यकता की पूर्ति की जाये कि वह विभिन्न जन-समूहों एवं सामाजिक और आर्थिक वर्गों, विभिन्न अंचलों तथा इतिहास के विभिन्न कालों में साक्षरता के स्तरों का तुलनात्मक अध्ययन कर सके और किसी निष्कर्ष पर पहुँच सके।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि साक्षरता के उस स्तर की तुलना में, जो तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त है, वह स्तर अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण है जो वास्तविक स्तर है। यदि ऐसा तुलनात्मक स्तर खोजा जा सके तो साक्षरता के स्तरों की ऐतिहासिक तुलना सम्भव हो सकती है। यह तुलना केवल साक्षरता के उस स्तर के लिए वैध होगी जिसकी माप की जा रही है और हो सकता है कि वह स्तर किसी एक इतिहासकार की आवश्यकताओं की पूर्ति न कर सके। लेकिन कम से कम इस प्रकार का तुलनात्मक प्रमाण तो उसके सामने रहेगा जिससे वह इतिहासकार अपनी आवश्यकताओं को सम्बद्ध कर सके बजाय इसके कि वह, जैसे कि आजकल होता है, ऐसी जानकारी से काम चलाये जो मूल्यांकन-हीन तथा अप्रामाणिक है।

ऐतिहासिक तुलनाएं सम्भव बनाने के लिए साक्षरता-प्रसार की माप दो शर्तों के साथ की जानी चाहिए। प्रथम तो यह पूरे देश में विभिन्न आयु, आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक दशाओं के लोगों पर लम्बे समय के लिए लागू होनी चाहिए। दूसरे, उसे माप के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के लिए, एक समूह से दूसरे समूह के लिए, एक अंचल से दूसरे अंचल के लिए और इतिहास के एक काल से दूसरे काल के लिए मानक माप होना चाहिए।

ये अनिवार्यताएँ कठोर हैं और इन की कसौटी पर कसने से उपलब्ध सभी ऐतिहासिक साक्ष्य, जिनमें सांख्यिकी समितियों के सर्वेक्षण भी हैं, त्यक्त हो जाते हैं। ये सर्वेक्षण-रिपोर्टें, अन्य प्रमाणों से अधिक श्रेष्ठ होते हुए भी, केवल उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक काल की अवधि से सम्बद्ध हैं। लेकिन अगर ऐसी ही रिपोर्टें अन्य कालों के लिए भी उपलब्ध होतीं तो भी कहना होगा कि वे साक्षरता की क्षमता के सीधे परीक्षण पर आधारित न हो कर प्रश्नावलियों

के माध्यम से प्राप्त उत्तरों पर आधारित होतीं। साक्षरता के बारे में अधिकांश आधुनिक खोजों के समान, इन रिपोर्टों की सूचनाएं साक्षरों की अपनी योग्यता के बारे में अपनी निजी धारणाओं और प्रमाणों पर आधारित हैं और ऐसी सूचनाएँ अपरिचितों को दी गई थीं। अतः वे उनकी योग्यता का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हैं। ऐसे मामलों में, विशेषतः जबकि व्यक्ति की हैसियत की निर्णायक उसकी साक्षरता सम्बन्धी योग्यता मानी जाये, बढ़ी-चढ़ी सूचनाएँ मिलना अस्वाभाविक नहीं। इसीलिए साक्षरता की माप न केवल सार्वभौम और मानक होनी चाहिए, उसे प्रत्यक्ष भी होना चाहिए।

साक्षरता सम्बन्धी योग्यता की एक ऐसी कसौटी है जो उसकी सार्वभौम मानक और प्रत्यक्ष माप सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यह है व्यक्ति द्वारा अपना नाम लिख सकने की क्षमता। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हस्ताक्षरों के छुट-पुट नमूने एकत्र करना यथेष्ट नहीं है। पर अतीत में अनेक ऐसे अवसर आए हैं जब किसी समूह के सभी व्यक्तियों से कहा गया है कि वे किसी अभिलेख पर अपने हस्ताक्षर अंकित करें या यदि वे ऐसा न कर सकें तो कोई निशान लगाएँ।

इस प्रकार की स्थिति जन-गणना के समकक्ष होती है। जिन दो मौकों पर औद्योगीकरण-पूर्व इंग्लैंड में ऐसा हुआ वे थे: १६४३ की प्रोटेस्टेंट शपथ, जिसे १८ वर्ष से अधिक की आयु के प्रत्येक पुरुष को संशोधित धर्म को बनाए रखने के लिए लेनी थी; और १७२२ की शपथ, जिसे उसी आयु वर्ग के पुरुषों को जार्ज प्रथम के प्रति स्वामिभक्ति तथा पोप की सत्ता के तिरस्कार के लिए लेनी था।

एक अन्य लिखित स्रोत के अन्तर्गत भी सार्वभौमता की शर्त प्रायः पूरी मानी जा सकती है। यह स्रोत है ऐंग्लिकन विवाह रजिस्टर, जिसमें १७५४ से यहूदियों, क्वैकरों तथा शाही परिवार के अतिरिक्त अन्य सभी लोगों के विवाह के विवरण दर्ज हैं। ऐसा संसद द्वारा १७५३ में पारित एक अधिनियम के फलस्वरूप किया गया था जिसके अन्तर्गत शादी तभी वैध मानी जा सकती थी जब उसे ऐंग्लिकन रजिस्टर में दर्ज किया जाए और नव दम्पति तथा शादी के गवाह उस पर अपने हस्ताक्षर करें। १८५७ में अन्य धर्मा-

वलम्बियों के लिए भी शादी की रजिस्ट्री कराने की व्यवस्था की गई और रजिस्ट्री की सरकारी व्यवस्था आरम्भ हुई।

कई अन्य ऐतिहासिक स्रोतों द्वारा भी ऐसे अवसरों का उल्लेख किया गया है जब हस्ताक्षर और निशान नियमित ढंग से उपलब्ध किए गए थे लेकिन उनकी सार्वभौमता वैसी नहीं है जैसी शादी के रजिस्टर की है। जब आबादी के केवल एक भाग के हस्ताक्षर या निशान लिए जाते हैं तो वह साक्ष्य तभी महत्व का होता है जब यह मालूम हो सके कि किन लोगों ने हस्ताक्षर अभियान में भाग लिया है और किन्हें उससे अलग रखा गया है, जिससे शामिल की गई सीमित आबादी का निश्चय सार्थक ढंग से किया जा सके। अदालतों में जूरियों के हस्ताक्षर लिए जाते थे लेकिन उनकी आयु या हैसियत का कोई उल्लेख नहीं होता था। अनुसंधान से पता चलता है कि आम तौर पर जूरी धनिक वर्ग के किसान हुआ करते थे लेकिन इस वर्ग के कितने लोग अपने हस्ताक्षर कर सकते थे, यह न मालूम होने के कारण अधिकांश इतिहासकारों को कोई सहायता नहीं मिलती। लेकिन इस ढंग के तीन सर्वोत्तम स्रोत हैं वसीयत, शादी के लाइसेंस और धार्मिक अदालतों में गवाहों के लिखित बयान। इन सब में पूरे विस्तार के साथ नाम, आयु, लिंग, व्यवसाय, विवाहित या अविवाहित होने और सकूनत दर्ज होने से ये महत्वपूर्ण साक्ष्य हैं। इनसे यह तो नहीं पता चलता कि आबादी का कितना भाग अपने हस्ताक्षर कर सकता था लेकिन इनसे इस बात का अच्छा अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समूह के अन्तर्गत कितने लोग हस्ताक्षर कर सकते थे और इन समूहों का निर्देश इस प्रकार से किया गया है, उदाहरणार्थ उनके व्यवसाय का उल्लेख करके, कि वे इतिहासकारों के अध्ययन के लिए सहायक बनते हैं।

इस प्रकार अतीत में कितने लोग हस्ताक्षर कर सकते थे, इसका अनुमान लगाने के लिए काफी अच्छे प्रमाण उपलब्ध हैं। लेकिन इन प्रमाणों को काम में लाने की राह में कुछ कठिनाइयाँ भी हैं। जनगणना के समकक्ष अखिलेखों में, यथा १६४२ की प्रोटेस्टेशन शपथ, और १७२२ की टेस्ट शपथ में, भौगोलिक वितरण स्पष्ट नहीं हो पाता और स्त्रियों का रजिस्ट्रेशन अपर्याप्त है। वसीयत आदि के

मामले में भी, जिनमें आबादी के किसी एक भाग के हस्ताक्षर व निशान मिलते है, भौगोलिक वितरण स्पष्ट नहीं है और काल संबंधी सूचना भी अपर्याप्त है। शादी के रजिस्टरों में अन्य कमियाँ हैं। प्रथम तो वे १७५४ से पहले तक थे ही नहीं। दूसरे, उनका सम्बन्ध आबादी के उसी भाग से है जो विवाहेच्छु था। अतः उनके आधार पर यह समझ सकना सम्भव नहीं कि वास्तव में कितने लोग हस्ताक्षर करने की योग्यता रखते थे जो विवाह की आयु के, यानी २० से २७ वर्ष के बीच के होते थे। कुछ इतिहासकारों के लिए यह तथ्य लाभदायक हो सकता है लेकिन कुछ अन्य, दूसरे युवा वर्गों के संबंध में भी जानकारी की आवश्यकता अनुभव कर सकते हैं।

विवाह रजिस्टर के सम्बन्ध में एक और कमी भी अनुभव की जा सकती है जो अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर मानी जा सकती है। वह यह है कि शादी जसे सुकुमार अवसर पर प्रायः नवदम्पत्ति झिझक के कारण, हस्ताक्षर करने के बजाय अपना निशान ही अंकित कर देते थे। कमी के इस आरोप की सच्चाई को आंकते हुए यह याद रखना होगा कि इस कमी की ओर १९वीं शताब्दी के पादरियों द्वारा ध्यान दिलाया जाता है जो स्वयं इस आरोप को गलत सिद्ध करने का प्रयास करते रहते थे कि चर्च द्वारा और निजी तौर पर की गई प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था में बहुत गम्भीर कमियाँ हैं। विवाह रजिस्टरों संबन्धी ये आरोप मुख्यतः सरकारी शिक्षा व्यवस्था के समर्थकों द्वारा लगाए जाते थे जो इन रजिस्टरों में निशानों के अनुपात को लक्ष्य बना कर अपने मत का समर्थन करते थे। शैक्षिक विवाद जब चरम सीमा पर था तो लंदन की सांख्यिकी समिति के एक सदस्य ने अनुमान लगाया था कि जो पादरी विवाह रजिस्टर को प्रमाण के रूप में काम में लाने का विरोध करते थे उनकी आम राय थी कि १० से २५ प्रतिशत तक निशान लगाने वालों को अगर राजी किया जाता तो वे अपने हस्ताक्षर कर सकते थे। उसने इस सम्बन्ध में आंचलिक अन्तर नहीं पाया और यह निष्कर्ष निकाला कि सम्भवतः शहरों के भीड़-भाड़ वाले गिरजाघरों में ही जल्दी के कारण बहुत से जोड़े हस्ताक्षरों की जगह निशान लगा दिया करते थे और इसीलिए वहाँ निशानों की संख्या अन्य स्थानों से अधिक मिलती है।

लेकिन ये अनुमान उन लोगों के हैं जो शादी के रजिस्टरों पर आधारित आँकड़ों को मान्य नहीं समझते। इसी लिए इन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेना उचित नहीं लगता। वास्तव में यदि ऐसे युवक-युवतियों को, जो लिखने में सक्षम रहे हों, जल्दबाजी के कारण निशान लगाने को कहा जाता तो वे जो भी निशान लगाते उनको देखकर यह अनुमान लगाना कठिन नहीं हो सकता कि वे लिखने की क्षमता वाले हाथों के निशान हैं या नहीं। हजारों ऐसे निशानों की परीक्षा के बाद पाया गया है कि लेखन को योग्यता वाले हाथों के निशानों का अनुपात १० प्रतिशत की बजाय प्रायः १ या २ प्रतिशत है। और यही संख्या १९वीं शताब्दी में पादरियों द्वारा बताई गई है। शादी के रजिस्टर की प्रामाणिकता सम्बन्धी एक अन्य आपत्ति इस आधार पर उठाई गई है कि अगर दुलहन ने यह देखा होगा कि दूल्हेराम हस्ताक्षर करने में असमर्थ हैं तो संकोचवश और दूल्हे का खयाल करके उसने भी निशान ही लगाया होगा। ऐसे मामलों में भी यह देखना होगा कि इस प्रकार के निशान ऐसे हाथों द्वारा लगाए गए हैं या नहीं जो दुल्हनों ने, भले ही अटपटे ढंग से, इस तथ्य के बावजूद कि वे हस्ताक्षर कर सकती हैं, निशान ही लगाए हैं क्योंकि उनके दूल्हों ने केवल निशान लगाए थे।

इस तरह १६४२ और १७२३ के जन-गणनात्मक प्रलेखों और १७५४ के बाद के विवाह रजिस्टरों द्वारा, और वसीयतों, शादी के लाइसेंसों तथा चर्च अदालतों में गवाहों के बयानों द्वारा, जो उक्त तिथियों के पहले के भी हैं और बाद के भी, काफी व्यापक वर्गों और समूहों के सम्बन्ध में मानक परिस्थितियों के अन्तर्गत एक प्रकार के साक्षरता-स्तर का पता चलता है। यह सब उपलब्ध सामग्री इतनी प्रचुर है कि नमूने की पड़ताल द्वारा ही स्तर सम्बन्धी विश्लेषण संभव है। लगभग ८५ वर्ष की अवधि के १०,५०० गिरजाघरों के विवाह-रजिस्टर प्राप्य हैं। इसलिए वैयक्तिक दृष्टि से आंकड़ों की उपलब्धि सम्भव नहीं है। अतः लगभग ३०० गिरजाघरों का नमूने का सर्वेक्षण किया गया है। रजिस्ट्रार जेनरल के आँकड़ों के अन्तर्गत हस्ताक्षर क्षमता में अत्यधिक आंचलिक अन्तर तथा विश्लेषित गिरजाघरों में पाई गई दिलचस्प भिन्नताओं से अनेक धारणायें बनी हैं जो

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में हस्ताक्षर-क्षमता में अन्तर को स्पष्ट करती हैं और आशा है कि नमूने के सर्वेक्षणों द्वारा इतने यथेष्ट आँकड़े प्राप्त हो सकेंगे जिससे उक्त धारणाओं की सत्यता प्रमाणित हो सकेगी ।

वसीयतों आदि द्वारा उपलब्ध सामग्री की प्रचुरता और भी हिम्मत तोड़ने वाली है । इस क्षेत्र में वैयक्तिक आँकड़ों को नमूने के तौर पर लिया जा सकता है । लेकिन इन स्रोतों के तथ्यों का भौगोलिक एवं सामयिक दृष्टि से अस्तित्व अनिश्चित होने तथा इनके सामाजिक दृष्टि से गैर प्रतिनिधि आबादी से सम्बद्ध होने के कारण इनके द्वारा उपलब्ध आँकड़े सीमित ढंग से ही विश्लेषण के लिए उपयुक्त हैं । तथापि, यह विश्वास किया जाता है कि इनके कारण यह अनुमान लगाना काफी हद तक संभव होगा कि कई अंचलों में सामाजिक और आर्थिक समूहों के अन्तर्गत कितनी संख्या में लोगों को हस्ताक्षर-क्षमता प्राप्त थी और बाद के समय के लिए विवाह रजिस्टरों तथा पिछले समय के दोनों जनगणनात्मक प्रलेखों के तथ्यों को मिला कर इनके द्वारा साक्षरता के स्तर की एक सामान्य माप प्राप्त हो सकती है जिससे काफी व्यापक जन-समूह के सम्बन्ध में काफी लम्बी अवधियों के लिए तुलनात्मक अध्ययन किया जा सके ।

यह सब कुछ इतिहासकारों के लिए अपने आप में महत्वपूर्ण हो सकता है लेकिन अन्य इतिहासकारों को साक्षरता के अन्य स्तरों में दिलचस्पी हो सकती है जैसे यह कि कितने और किस सामाजिक स्थिति के लोग जान लाक, न्यूटेस्टामेंट, कोई राजनैतिक पर्ची या विज्ञापन पढ़ सकते हैं और कितने कोई डायरी या खाता या राजनैतिक पुस्तिका पढ़ सकते हैं । साक्षर दक्षता के विभिन्न स्तरों से सम्बद्ध योग्यता का निर्धारण बहुत कठिन होता है । लेकिन १९वीं शताब्दी के आरम्भ में सांख्यिकीय समितियों द्वारा किए गए सर्वेक्षणों के आँकड़ों की रजिस्ट्रार जनरल के आकड़ों से तुलना करने पर कुछ हद तक यह निश्चय किया जा सका है कि हस्ताक्षर कर सकने की योग्यता और लिखने और पढ़ने की योग्यता के बीच क्या सम्बन्ध है । लेकिन इस साक्ष्य की व्याख्या मुश्किल है क्योंकि सर्वेक्षणों के अन्तर्गत लिख-पढ़ सकने की योग्यता के मानदण्ड प्रायः

बहुत ब्योरे के साथ नहीं निर्धारित किए गए हैं । तथापि सामान्यतः इन सर्वेक्षणों से यह प्रकट होता है कि जहाँ तक लिख सकने की योग्यता का प्रश्न है, हस्ताक्षर कर सकने का दावा करने वालों की अपेक्षा लिख सकने वालों की संख्या काफी कम थी । जहाँ तक पढ़ सकने की योग्यता का प्रश्न है, हस्ताक्षर कर सकने वालों में से आधे लोगों ने दावा किया कि वे पढ़ सकते थे । इन अधिकांश सर्वेक्षणों में पढ़ सकने की योग्यता का जो अर्थ लिया गया उसमें बहुत साधारण मानदण्ड अभिप्रेत था और प्रायः शब्दों के हिज्जे कर सकने तक सीमित था । इसलिए अगर न्यूनतम मानदण्ड के किसी माप की आवश्यकता है तो हस्ताक्षर कर सकने की योग्यता बहुत कम मानी जायगी और कम से कम ५० प्रतिशत मामलों में उसे बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त की गई योग्यता माना जायगा । लेकिन अगर धड़ल्ले से पढ़ सकने की योग्यता की माप आवश्यक है, उक्त सर्वेक्षण उस समय के एक स्कूल इन्सपैक्टर के इस विचार की पुष्टि करेंगे कि हस्ताक्षर कर सकने की क्षमता पढ़ सकने की योग्यता के समकक्ष है, इस लिए प्रथम की माप से द्वितीय का अच्छा संकेत हो जाता है ।

इस प्रकार १९वीं शताब्दी के आरम्भ के लिए हस्ताक्षर कर सकने की योग्यता पर आधारित माप, उन लोगों की संख्या को बढ़ा-चढ़ाकर बताती है जो लिख सकते थे और उनकी संख्या को घटाकर व्यक्त करती है जिन्हें प्रारम्भिक पठन का ज्ञान था और उन लोगों की संख्या प्रायः सही बताती है जो धड़ल्ले से पढ़ सकते थे । यह परिणाम शिक्षा के ढाँचे से मेल खाता है क्योंकि पाठ्यक्रम इस प्रकार बनाने से, जिससे लिखना सिखाने से पूर्व पढ़ना सिखाया जाय और स्कूलों में उपस्थिति नियमित न रहने से यह स्पष्ट था कि बड़ी संख्या में बच्चे लिखाई सीखने से पूर्व लेकिन पढ़ाई सीखने के बाद स्कूल छोड़ दिया करते थे । यद्यपि १९वीं शताब्दी से पहले के कोई तुलनात्मक आँकड़े नहीं हैं, कम से कम १६वीं शताब्दी से शैक्षिक ढाँचा एक समान चला आ रहा था । इस लिए यह सम्भव है कि इस सम्पूर्ण काल में हस्ताक्षर कर सकने, पढ़ सकने और लिख सकने की क्षमता के बीच सम्बन्ध समान बना रहा ।

लिखने और पढने के बीच यह विषमता तब नहीं रहती जब किसी जगह सबके लिए अनिवार्य शिक्षा प्रचलित हो या जब शिक्षा केवल ऐसे वर्ग के लिए सुलभ हो जो अन्त तक पढ़ाई करता रहे। इन दोनों ही अतिवादी स्थितियों में हस्ताक्षर कर सकने की योग्यता लिख-पढ़ सकने की क्षमता के अधिक निकट होगी जबकि इंगलैंड में १६वीं और १९वीं शताब्दियों के बीच मध्यवर्ती स्थिति रही जिसमें उक्त स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती।

यह आशा की जा सकती है कि १९वीं शताब्दी के आरम्भ की सर्वेक्षण सामग्री के और विश्लेषण और स्कूल पाठ्यक्रम सम्बन्धी अनुसंधान के परिणाम-स्वरूप हस्ताक्षर-क्षमता तथा अन्य साक्षर योग्यताओं के बीच सम्बन्ध अधिक निश्चयपूर्वक स्पष्ट किया जा सकेगा। अगर ऐसा न भी हुआ तो भी कम से कम इतिहासकार को पुष्ट आँकड़े मिल सकेंगे जिससे वह साक्षरता के किसी एक स्तर पर तुलनात्मक निष्कर्ष निकाल सकेगा।

संघ के प्रकाशन

भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संघ,

१७-बी, इन्द्रप्रस्थ मार्ग, नई दिल्ली-१